हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालयका १०१ वाँ रत्न

प्रस्तुत प्रश्न

अर्थात्

वे सब सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रश्न जो आजकलकी दुनियाको परेशान किये हुए हैं और उनके समाधान।

जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
मालिक, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

मूल्य दो रुपया
जनवरी, १९३९

मुद्रकः—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिं. प्रेस, ६ केळेवाडी, मुं. ४.

कैफ़ियत

इस युगकी सभ्यताको राजनीतिक कहिए। समस्याएँ राजनीतिक मानी जाती हैं और मानवताके त्राणको भी राजनीतिक रूपमें देखा जाता है। इतिहासका अर्थ उसी नज़रमें लगाया जाता है और भावीके निर्माणमें भी उसी दृष्टिकोणका प्रयोग है।

पर उस राह लड़ाई है समाधान नहीं, यह परिणाम आज, प्रत्यक्ष भी है। राजनीति अधूरे जीवनको छूती है। राजनीतिक सभ्यतासे जीवन सभ्य नहीं होगा। जीवनका निर्म्माण ऐसे न होगा, वह मुक्तिकी ओर यों नहीं बढ़ेगा। वह सभ्यता जो देना था दे चुकी। उसकी अपर्याप्तता अब ज़ाहिर है। एक विस्फोट और, और वह समाप्तप्राय है। और वातावरणमें इतनी आतंककी बारूद भरी है कि विस्फोटका काल बहुत नहीं टल सकता।

तब जरूरी है कि एक अधिक स्वस्थ, अधिक निर्भय और समन्वयशील जीवन-विधिका सूत्रारंभ हो और वही दृष्टिकोण लोकमें प्रतिष्ठित किया जावे। उसीकी नींवपर सच्चा और दृढ़ और सुखी भविष्य खड़ा होगा।

शायद यह पुस्तक धृष्टता हो। मैं मोह-मुक्त नहीं हूँ। इस दुनियाका कुछ चाहना पाप है। पर चाहसे एकदम छुट्टी कहाँ! और जो लक्ष्यके अनुगत है वह चाह कर्तव्य भी हो जाती है। सो जो हो, यह पुस्तक सामने आने देनेका साहस मुझसे बन रहा है।

दरियागंज, दिल्ली
१।८।३८

जैनेन्द्रकुमार

भूमिका

इन प्रश्नोंके प्रश्न-कर्ताओंमें मैं भी एक हूँ। इसीसे मुझपर उस बारेमें कुछ कहनेका भार और दायित्व आता है। वह भार और अधिकार अपेक्षाकृत मुझपर अधिक है क्योंकि एक तो इस पुस्तकका आरंभ ही मुझसे हुआ है, दूसरे उसके अधिकांशमें मेरे ही किये हुए प्रश्न हैं। इसलिए मुझे योग्य है कि प्रश्नकर्ताके नाते मैं अपनी और परोक्षतः उन अन्यकी बात पाठकोंको कहूँ।

सबसे पहले शायद मुझे बताना चाहिए कि मैं प्रश्न-कर्ता क्यों बना? जैनेन्द्रजी स्वयं लेखक हैं और इस विषयकी पुस्तक भी वे एक या अनेक स्वयमेव लिख सकते थे। फिर किस लिए यह प्रश्नोत्तरका आडंबर?

हाँ, पुस्तक वह प्रश्नोंके बिना लिख सकते थे। लेकिन क्या यह भी स्वाभाविक नहीं है कि इस जीवनके संबंधमें किसीके अपने कुछ प्रश्न हों और वह उनका उत्तर किसी लेखकहीसे सुनना चाहे? लेखकका लेखन-कार्य जीवन या प्रश्नोंके उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप ही संभव बनता है। सो वैसे प्रश्न, मैं समझता हूँ, हरेकके साथ लगे रहते हैं और उनका उत्तर एक लेखकसे उपयुक्तताके साथ माँगा जा सकता है। बस यही स्थिति समझिए जहाँ कि इस पुस्तककी जड़ जमी। जैनेन्द्रजीसे मेरा सम्पर्क हुआ और प्रश्नोत्तरका मौका मिला। आखिर एक दिन यह भी सूझा कि ये प्रश्नोत्तर लेखनी-बद्ध ही क्यों न किये जायँ जिससे बहुतोंको नहीं तो कमसे कम मुझ-जैसे व्यक्तियोंको विचारार्थ कुछ मिल सके।

इस ढंगसे यह पुस्तक बनी और ऐसी ही इसमें विशेषताएँ आ गई हैं : एक जैसे यही कि उसके विषय-विस्तार और विकासमें कोई निबंधात्मक क्रम नहीं देख पड़ता। आरंभ और अंत उसका जिस प्रकार हुआ है उसके पीछे कोई बाहरी सोच-विचार नहीं है। जो प्रश्न सबसे आगे आया, उसीसे आरंभ बन गया और जहाँ आकर प्रश्नोंका तारतम्य और सूत्र रुक गया वहाँ स्वभावतः अंत हो गया। समूची पुस्तकहीके बारेमें यह सच नहीं है, बल्कि उसमें आये सभी विषय प्रसंग इसी प्रकार एकके बाद एक उठते और चलते गये हैं।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है, क्योंकि संबंधका अभाव तो उन्हींमें क्या जीवनकी किन्हीं भी दो वस्तुओंमें असंभव है। हाँ, किसी प्रस्तुत सिद्धान्तके प्रतिपादनमें जो नक्शे-बंदी की जाती है, वह यहाँ नहीं है। वे तो प्रश्न हैं और अलग अलग हैं तो इसलिए कि वे अवश भावसे बिना क्रमकी प्रतीक्षाके दिमागके जीवनके पर्देसे चहकते और उठते हैं। और यदि वे किसी एक सूत्रसे संबंधित हैं, तो वह भी इसलिए कि वे सब उसी एक जीवन-जिज्ञासामेंसे उठते हैं और हमारे व्यक्ति-वैमत्यको मार कर किसी एक ही समन्वय सत्यकी खोजसे प्रेरित होते हैं। मैं तो कहूँगा, जहाँतक इस प्रस्तुत पुस्तकके प्रश्न, किसी अनिवार्यतामें मेरे या अन्य प्रश्न-कर्ताओंके दिमागमें जागे हैं, चाहे वे फिर कैसे भी असबद्ध प्रतीत होते हों, असलमें वहीं तक प्रयोजनकी सिद्धि हुई है। और इसके विपरीत जहाँ तक किसी पूर्व विचार या सिद्धांतको लक्ष्य कर प्रश्नोंका आयोजन हुआ है, वहाँ तक मानना चाहिए कि लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हुई है, और बुद्धिका विलास होकर रह गया है।

प्रस्तुत पुस्तकके प्रकरणोंकी बाबत भी स्वीकार करना होगा कि प्रश्न समाप्त होनेके अनन्तर केवल पाठकोंकी सुविधाके लिए प्रश्नान्तर्गत विषय-वैषम्यको देखकर और कुछ अनुपातका ध्यान रखकर परिच्छेदोंका विभाग किया गया है। इसीलिए किसीमें गठनकी एकता नहीं है और किन्हींमें इतना साम्य है कि उनका विभक्त किया जाना अन्याय-सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कुछेकको बहुत छोटा, और कुछेकको बहुत बड़ा छोड़ देनेकी लाचारी हुई है।

यह तो प्रश्न और उनके कारण पुस्तकके विधि-प्रकारकी बात हुई। किन्तु पुस्तकके मुख्य पुरोधा अर्थात् उत्तरदाताके बारेमें भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करना शायद मेरे लिए आवश्यक है। यदि मैं ठीक समझा हूँ तो उनके लिए भी मैं कहूँगा कि उत्तर उन्होंने प्रस्तुत नहीं किये हैं, बल्कि वे प्रस्तुत हुए हैं। यह कहनेका मेरा मतलब उस अनायास भावसे है जिससे वह उनसे प्राप्त हुए हैं। लेकिन इससे यह न समझना चाहिए कि जैनेन्द्रजी कोई बड़े पण्डित हैं या बहुत अभ्यासी हैं, अथवा बहुश्रुत हैं। नहीं, एक और अनायासता भी है जो कि पांडित्य और अभ्यासकी बातको बिल्कुल भूलकर संभव बन उठती है। अर्थात्, जब कि व्यक्ति किसी समस्याका हल पेश करनेका दावा या दायित्व लेकर नहीं बैठता है, बल्कि उसके प्रति केवल अपनेको व्यक्त करता है। जिस समाज, जिस राष्ट्र अथवा दुनियामें वह रहता है, उसके

प्रति उसकी अपनी भावना है—एक जीवित आस्था है। और जब कोई समाज, राष्ट्र और दुनियाका प्रश्न उसके सामने आता है तो उत्तरमें जैसे शुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप उसके अंतरसे वही भावना व्यक्त हो जाती है। वह तो भावनाका वाहक है। किन्तु वह भावना क्या है, यह वह स्वयं नहीं जानता। वह निर्गुण (=without attributes) और अपरिभाष्य (=without definition) है। वह कोई बुद्धिगत वाद या सिद्धान्त भी नहीं है जिसे खड़ा करनेके लिए उसे युक्तियोंके चुनावका प्रयास करना पड़े। नहीं, भावनाशील व्यक्ति कोई सत्यका अटल स्तंभ खड़ा करनेकी कोशिश नहीं करता है और न युगायुगान्तर उसकी रक्षाके लिए उसके चारों ओर कोई तर्कका किला बनानेकी उसे चिन्ता होती है। न उसे किसी क्षण यह चिन्ता होती है कि उसकी बातको अन्य लोग मान हीं। और इसीलिए उसके उत्तरमें क्या, समस्त जीवनमें यदि वह भावना प्रधान है तो अनायासता रहती है। ऐसी कुछ अनायासता जैनेन्द्रजीके उतर देते समय मैंने अनुभव की। इसीलिए पाठकोंसे मैं निवेदन कर देना चाहूँगा कि वे उन उत्तरोंको इसी पहलूसे पानेकी कोशिश करें। उस कोशिशमें यह ध्यान तनिक न होना चाहिए कि उन्हें किसी बातको माननेके लिए बाध्य किया जा रहा है क्योंकि वह स्वयं ही उनसे अपनेको परिबद्ध नहीं समझते हैं। बल्कि समझना चाहिए कि यह उनके कुछ क्षणोंकी अभिव्यक्ति है जो किन्हीं प्रश्नोंके उत्तरमें उस उपलक्षसे हुई है। फिर भी यदि अनायास पाठकके हृदयमें प्रश्नोंके उत्तर जगह लेने चलें तो दूसरी बात है। इसीसे हो सकता है कि उत्तरोंमें यहाँ-वहाँ युक्ति और तर्कका उल्लंघन अथवा आदि और अंतके दरम्यान संयुक्तता और शृंखलाकी कमी भी दीख पड़े। लेकिन इस प्रकारकी सँकरी सुसंगताको विशेष महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि शब्दोंके परोक्षमें उस चीज़को देखना चाहिए जो कि यदि है, तो वही असलियत है।

—हरदयाल

...मूल सिद्धान्त जिसपर श्रीजैनेन्द्रकुमारने इस पुस्तकके सारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की है शायद एक ही है और वह है अहिंसा। मानव-संसारमें जो जो प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं, उनको अहिंसाके व्यवहारसे किस तरह हल किया जा सकता है, और विरोधोंका किस तरह समन्वय किया जा सकता है, इसका उत्तर देनेकी भी जैनेन्द्रजीकी इस पुस्तकमें कोशिश है।

मुमकिन है कि इस पुस्तकमें बताये हुए उत्तर सब जगह योग्य साबित न हों। प्रश्नोंमें जीवनमें उठे हुए प्रत्यक्ष प्रसंगोंकी अपेक्षा तर्कसे सोची हुई समस्यायें अधिक हैं; इसलिए उत्तरोंमें भी जीवनके अनुभवकी अपेक्षा तर्कसे ही काम लेना पड़ा है। जब वैसा मुआमला उपस्थित हो; तब, अहिंसाके सिद्धान्तपर चलते हुए भी, समस्याओंके प्रत्यक्ष सुलझानेके मार्गका इसमें बताये हुए मार्गसे भिन्न होना संभव है। मैं मानता हूँ कि स्वयं लेखक भी यह दावा न करेंगे कि उनके उत्तरोंमें फर्क होनेके लिए गुंजाइश ही नहीं है। इसीलिए पाठक इन उत्तरोंको श्रीजैनेन्द्रकी निश्चित स्मृति या शासनके रूपमें न लें। लेकिन इन प्रश्नोंपर अहिंसाकी दृष्टिसे विचार करनेके एक मानसिक प्रयत्नके रूपमें लें।

समाजशास्त्र (सोशियालॉजी) और तदन्तर्गत राजनीति, अर्थशास्त्र, साम्यवाद, गाँधीवाद आदि शास्त्रोंके अभ्यासियोंको यह पुस्तक विचारणीय मालूम होगी। श्रीजैनेन्द्रजीने जीवनके लगभग सभी प्रश्नोंपर कुछ न कुछ उत्तर इसमें दिये हैं। सब उत्तर सही हों या न हों, या उसपर सहमति हो या न हो, जैनेंद्रजी क्या कहते हैं यह जानना पाठकोंके लिए जरूर लाभदायक होगा।

वर्धा
२ दिसंबर १९३८ } **किशोरलाल घ० मशरूवाला**

[सुप्रसिद्ध विचारक और गाँधी-सेवा-संघके अध्यक्ष]

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड

प्रश्नकर्त्ता

श्रीहरदयालसिंह 'मौजी'

प्रस्तुत प्रश्न

१—देश : उसकी स्वाधीनता

प्रश्न—किसी देशकी स्वाधीनतासे आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—'देश' एक भूखंडका नाम है। परन्तु भूमि खंडित नहीं है। अपना काम चलाने-भरके लिए हम भूमिको विभक्त रूपमें देखते हैं। इस विभाजनमें नदी, समुद्र-तट, पर्वत-माला आदि प्रकृतिके उपादानोंसे भी सहायता ली जाती है। यह देशका बाहरी रूप हुआ।

अब, मानवके नाना समुदायोंने अपने वर्तन और वृद्धिके निमित्त अपने काल-क्षेत्रके अनुकूल संस्था-संघ, नीति-नियम, भाषा-संस्कार, और आचार-विचार उपजाए। उस सब प्रयत्न-फलको समन्वित भावमें 'संस्कृति' कहिए। इन संस्कृतियोंमें स्वभावतः एक दूसरेकी अपेक्षा कुछ भिन्नता और विशेषता रहती है। इसीको देशका (-की सत्ताका) अंतरंग स्वरूप कहना चाहिए।

अतः देशकी स्वाधीनता वह स्थिति है जो उस अमुक भूखंडको (-के वासियोंको) अपनेपनमें सुरक्षित रहने दे, फिर भी शेष भू-भाग और अन्य भूखंडोंके प्रति उसे मेल बढ़ानेमें सहायता दे।

स्वाधीनका मतलब अपने अधीन होना है—किसी और देशका उसपर आतंक न हो। साथ ही यह भी उसका मतलब होना चाहिए कि किसी अन्य

देशपर उसे लोभकी अथवा आक्रमणकी लालसा न हो। क्योंकि अगर वैसी लालसा है, तो उतने अंशमें उसको स्वस्थ नहीं कहना होगा। वह पराधीन है,— परकी तृष्णाके अधीन।

प्रश्न—क्या किसी देश अथवा भूमि-खंडके लिए किसी अन्य देशसे जीवनकी आवश्यकताके लिए कोई अपेक्षा करना अनुचित होगा? यदि नहीं, तो कहाँ तक?

उत्तर—वैसी अपेक्षा अनुचित नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। मैंने पहले कहा, भूमिमें खंड नहीं है। वे हैं, तो बस कल्पित हैं। हम तमाम भूमिकी एकताको सहने योग्य सामर्थ्य शायद नहीं रखते हैं, इसीलिए देश और विदेश हमारे प्रयोजनार्थ संभव बने हुए हैं। वे सब आपसमें असलमें तो एक हैं ही। इसलिए, विविध देशोंमें वैसे सब परस्पर संबंधोंको घनिष्ठ बनाते जाना होगा जो परस्परकी सहानुभूति और मेल-जोलको बढ़ाते हैं। उनको मैं कहूँ नैतिक। और ऐसे संबंधोंको वर्जनीय ठहराना होगा जो आपसमें द्वेष भाव बढ़ाते हैं। उनको कहिए सामरिक, सैनिक। दो देशोंका सामरिक सम्बन्ध, गुप्तचरोंका सम्बन्ध, कूटनीति (=Diplomacy) का संबंध झूठा है। वे ही आपसी सम्बन्ध सच्चे हैं जो सांस्कृतिक हैं।

प्रश्न—तो क्या जो देश अपनी आवश्यकतासे अधिकपर एकाधिकार किये हुए है, उसको उन्हें छोड़नेपर मजबूर करना अनैतिक होगा? होगा, तो फिर दूसरा क्या उपाय होगा?

उत्तर—मजबूर करनेमें अगर भाव है जबरदस्ती, तो सूरत यह हो जाती है कि एक देशकी जबरदस्ती और धाँधलीका निवारण करनेके लिए अन्य देश मिलकर उसके साथ ज़बरदस्तीका व्यवहार करें। मैं यह मानता हूँ कि ऐसे उस देशको दण्डित किया जा सकता है, पर ज़बरदस्तीकी भावना इस प्रकार उसमें मंद नहीं की जा सकती। धाँधलीसे धाँधली मिटेगी नहीं, बढ़ेगी ही। हिंसासे हिंसा मिटानेका स्वप्न प्रवंचना है। जिसने अपने पाचन-सामर्थ्यसे अधिक अपने पेटमें डाल लिया है, वह उसी कारण एक न एक दिन बीमार दिखाई देगा। आवश्यकतासे अधिक बटोरने और कब्ज़ा कर रखनेकी लालसामें ही कब्ज़ा कर रखनेवालेकी मौतके बीज हैं, इस बारेमें मेरे मनमें सन्देह नहीं। आज जिसने

अनीति बरती है, वह एक दिन उसके लिए पछताएगा भी। वह दिन कुछ जल्दी या कुछ देरमें भले आता दीखे।

लेकिन प्रश्न फिर भी रहता है कि अनीतिके मदमें भूले हुए देशको शिक्षा देनेका क्या कोई उपाय नहीं है? है तो क्या? क्या शक्ति निरंकुश खुल खेले?

मैं मानता हूँ कि उपाय है और वह उपाय हाथपर हाथ धरे बैठना नहीं है। सबसे बड़ा अकुंश लोकमत है। सभ्यता एक तल तक उन्नत हुए लोकमतका ही नाम है। सभ्य व्यक्ति क्यों बर्बर आचरण नहीं करता? कौन उसको रोकता है? सबसे बड़ी रोक उसके लिए यही है कि वह सभ्य समाजका सदस्य है। वह यह नहीं बरदाश्त कर सकता कि वह अपनेको असभ्य पाये अथवा असभ्य समझा जाय।

रोग तो असलमें यह है कि मदमत्त शक्तिको प्रशंसाका वातावरण मिल जाता है। उसके प्रदर्शन और प्रचारसे लोगोंके सिर फिर जाते हैं। किताबोंपर किताबें, अखबारपर अखबार और मदकी गर्जनाएँ,—मौक़ा ही नहीं छूटता कि कोई याद रक्खे कि यह सब थोथी हीनताका द्योतक भी हो सकता है। जन-सामान्यमें निष्ठाकी शिथिलताके कारण विज्ञापन और कोलाहलका बोलबाला हो चलता है।

इससे, पहला उपाय यह है कि आदमी अपना दिमाग सही रक्खे। सारी दुनिया चाहे लड़े, पर मैं शांत रहूँ। 'शांत'से मतलब है स्थिर-संकल्प। आदि कालसे मानवकी चरमानुभूतिने हमें बताया है कि प्रेम सत्य है, धर्म ऐक्य है। वह बात भाई भाई और जाति जातिको लड़ते देखकर हम क्यों भूल जायँ? यह खून-खराबी सतहपर होती रहे, पर गहरी सचाई तो वही है। उसपर पक्की तौरपर हम श्रद्धा रख सकते हैं।

ऐसे श्रद्धावान् लोग आस-पासके वातावरणमें अनुकूल विचार पैदा करेंगे। इसी विधि धीमे धीमे लोकमत बनेगा। इसमें समय लगेगा अवश्य, पर समय किस काममें नहीं लगता? एक बार लोकमत इस बारेमें जाग जाय, तो कौन मनुष्य फिर खुल्लमखुल्ला पशुकी तरह व्यवहार करनेपर गर्व करेगा? तब यह निरी असंभवता ही होगी। मानवके भीतर पशुता है, पर वह उस पशुतामें मनुष्यताका गौरव माने, यह अचिंतनीय बात जान पड़ती है। और अगर आज ऐसा है तो मुझे पक्का विश्वास है कि निकट भविष्यमें ऐसा नहीं रहनेवाला है। उसके लिए कितनोंको मौतके घाट उतरना पड़ेगा,—कहना कठिन है। पर,

निश्चय ही आशा करनी चाहिए कि काफी संख्यामें ऐसे लोग प्रस्तुत होंगे जो बिना खून लिये अपना खून दे देंगे। उस स्वेच्छा-पूर्वक अहिंसा-भावनाके साथ बहाये हुए खूनसे लोकमतमें चैतन्य भर जायगा। वैसा जागृत जनमत ही मानवताके पक्षका सच्चा बल होगा।

मेरा विचार है कि इस मामलेमें अन्तर्राष्ट्रीय सेना, या पुलिस, या अंतर्राष्ट्रीय गुप्तचर-विभाग अन्ततः हमारी मदद करनेवाले नहीं बनेंगे। क्यों कि, यह सर्वथा असत्य है कि हिंसा हिंसासे शान्त हो सकती है।

'व्यावहारिक'के नामपर पहले ऐसी ही बातें सूझती हैं। पर जब तक राष्ट्रोंमें अन्तर्राष्ट्रीय (=भाईचारेकी) भावना नहीं है, तब तक 'लीग आफ़ नेशन्स' जैसी संस्थाको व्यवहारोपयोगी पाना भी असंभव है।

तब यही शेष रहता है, और यह पूर्णतः व्यावहारिक है, कि मेल और एकतामें विश्वास रखनेवाले अपनी जानको वैसी ही सस्ती समझ लें जैसी कि हिंसामें विश्वास रखनेवाले दूसरेकी जानको समझते हैं। वे अपनी जान देनेको तैयार हो जायँ, जैसे कि हिंसावालोंकी सन्नद्ध फौजें जान लेनेको तैयार रहती हैं।

सच बात यह है कि यदि शक्ति नीतिसे जीतती दीखती है तो इसीलिए कि जब शक्तिसेवी अपनेको बचाता नहीं है और खतरे उठाकर अपने मंतव्यपर दृढ़ रहता है, तब, नीति-माननेवाला वैसे ही अपने संकल्पपर कटिबद्ध होकर ख़तरे नहीं उठाता। वह शांति चाहता है, पर उसकी क़ीमत चुकाना नहीं चाहता। इसका उपाय यह है कि नैतिक पुरुष कर्मण्य भी हो।

२—विविध देश : उनका पारस्परिक सम्बन्ध

प्रश्न—किसी देशकी अपनी आवश्यकताका अर्थ क्या समझा जायगा ?

उत्तर—देशकी अपनी आवश्यकताओंके बारेमें निर्णायक उस देशको ही होने देना होगा, निर्णायक मैं नहीं हो सकता। यहाँ मुख्य बात वृत्तिकी है। देशके सब लोगोंको जरूरी खाना-पीना और कपड़ा और सामाजिक विस्तृति और मानसिक उन्नतिकी सुविधा होनेका मौका होना चाहिए। आवश्यकताओंकी मर्यादा पदार्थोंकी गिनतीद्वारा नहीं बाँधी जा सकती। सच तो यह है कि धीमे धीमे विकासके साथ 'सरकार' नामकी चीज़ लुप्त हो जायगी। सरकार माने बाहरी शासन। भीतरी शासनकी कमी है, इसीसे तो बाहरी शासन ज़रूरी हो जाता है। उस बाह्य शासनका अभिप्राय है, अन्तस्थ शासनको जगाने और मज़बूत बनानेमें सहायक होना। जो सरकार यह नहीं करती वह भूल करती है। जैसे जैसे अन्तः शासन जागेगा, वैसे ही वैसे बाह्य उपादान कम होते दीखेंगे। इसलिए, जब कि यह नहीं कहा जा सकता कि गणनामें देशकी आवश्यकताएँ क्या हैं, तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक देशको उत्तरोत्तर स्वायत्त शासनकी ओर बढ़ना चाहिए। उसकी ओर बढ़ते हुए देशका परिग्रह (और वैसा भौतिक परिग्रह ही उस देशके आर्थिक प्रश्नको खड़ा करता है) कम होता जायगा। देशकी आर्थिक समस्या तब बिखरकर खुलती (Decentralized होती) जायगी। वह एक सिमटी गुत्थीकी गाँठकी भाँति नहीं रहेगी। पार्थिव लालसाएँ व्यक्तिकी कम होंगी, क्यों कि उनकी जरूरत न रहेगी और व्यक्तिकी सामान्य आवश्यकताएँ व्यक्तिके थोड़े परिश्रमसे अनायास पूरी हो जाया करेंगी। उसके लिए State Planning दरकार न होगा। जब आर्थिक चिन्ता न रही, तब देशकी चिन्ता सांस्कृतिक हो रहेगी। और इस चिन्ताके फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान कला-साहित्य जन्म लेंगे।

प्रश्न—किसी पीड़ित देशका संपन्न देशके प्रति क्या भाव रहेगा ?

उत्तर—जिसे अभावका बोध होता है ऐसा देश संपन्न मुल्कोंकी तरफ़ थोड़े बहुत जलन-कुढ़नके भावसे देखेगा। पर यह अभावका बोध प्राप्त वस्तुओंकी

गणनापर अवलंबित नहीं है। यह तो लालसाकी तीव्रताके अनुपातमें होता है। संतोष बड़ा गुण है। धनवान् कब असंतुष्ट नहीं होता? इसका यह मतलब नहीं कि भूखेको संतोषी रहनेके लिए कहा जा रहा है, बल्कि आशय यह है कि संतोषी होनेके लिए यह कहा जा रहा है कि कोई भूखा न रहे। भूखमें संतोष और कठिन होता है। इसलिए भूख है, तो खाना अवश्य चाहिए। उसके लिये प्रयत्न भी चाहिए। परन्तु फिर भी उसकी तृष्णा नहीं चाहिए। यह कुछ हम गहरी बहसमें जा रहे हैं। जो कहा, उसका अर्थ यह हो जाता है कि जो आवश्यकताएँ हैं, उन्हें हम पूरी अवश्य करें और वैसा करनेके लिए कुछ उठा भी न रक्खें। फिर भी, उनके प्रति ममत्व न रक्खें, अर्थात् उनके जुटानेमें विवेक-हीन न हो जायँ। अपनी जरूरतें पूरी करनेमें हम जिस तिस उपायका आश्रय नहीं ले सकते। उपाय वैध ही काममें लाये जायँगे।

इसको स्पष्ट करनेके लिए उदाहरणसे काम लें। एक मुल्कमें अन्न कम होता है और जनसंख्या बढ़ती जाती है। उस मुल्कके पास कला-कौशल है, कोयले और धातुकी बहुतायत है। यह तो है, पर अपने वाशिन्दोंके खानेका सामान पूरा नहीं है और रहनेकी भी मुश्किल होती जाती है। अब स्पष्ट है कि उस मुल्कको अपने कला-कौशलका लाभ और अपने यहाँके कोयले और धातुकी अधिकताका लाभ और मुल्कोंको देना चाहिए। एवज़में वहाँसे अन्न-खाद्यका लाभ प्राप्त कर लेना चाहिए। जनसंख्या उस मुल्ककी बहुत ही बढ़ती जाती है, तो उन्हें बाहर फैलना चाहिए। मैं समझता हूँ, विवेकसे काम लेनेपर यह भी संभव नहीं रहेगा कि कोई मुल्क भूखा नंगा रहे।

पर मान ही लीजिए, (जो कि एकदम ग़लत है) कि ऐसे पूरा खाद्य नहीं जुटता तब कहना मुझे यह है कि मुल्क भूखको सह सकता है, लेकिन दूसरे मुल्कोंको लूट नहीं सकता। उनपर चढ़ाई करके उनको गुलाम नहीं बना सकता। अपनी भूखके नामपर, अपनी आवश्यकताके नामपर, दूसरेपर अत्याचार नहीं किया जा सकेगा। यह जो आजकल उपनिवेश रखनेका रिवाज है, उसमें कुछ साम्राज्य-विस्तारकी गंध है। इससे उसका समर्थन भी कठिन है।

मेरे ख़यालमें सब देश अपने ऊपर यदि अकाटय कुछ नैतिक मर्यादाएँ स्वीकार कर लें, तो आत्म-विकासकी और उपनिवेशोंकी माँगकी आजकी अन्त-र्राष्ट्रीय समस्याका सच्चा सीधा सुलझाव भी नजर आ जायगा। दुनियामें इतने

आदमी नहीं बढ़ गये हैं कि घमासान मचे ही मचे। दुनियाके आदमियोंके रहनेका ढंग ही बिगड़ा हुआ है जिससे एक ओर लोग अधपेट रहते हैं तो दूसरी ओर लाखों टन खाद्यसामग्री समुद्रमें डुबो दी जाती है। समाधान तो समस्याओंका है और फिर मानव-मस्तिष्क विज्ञानकी नई नई सूझें देता है जो हर संकटमें हमारी मददको उपस्थित हैं। लेकिन, आपसकी आपा-धापीको क्या किया जाय? वह ऐसी चीज़ है जो विज्ञानको भी संहारक गैस और अन्य शस्त्रोंके आविष्कार करनेसे साँस नहीं लेने देती। मानवको तो परमात्माने अपनी ओरसे बुद्धि दे दी है, कल्पना दे दी है। उसीसे वह आपसमें मार-काट करने लग जाय, तो परमात्माकी देनका क्या कसूर है? प्रश्न है, उस देनको मानवकी वासनासे छुट्टी क्योंकर मिले कि फिर वह सर्व-हित-साधनके काममें आये।

यह तब होगा जब कि हम कहेंगे कि अच्छा, हम अपनेसे ही ममता छोड़ते हैं। ममता छोड़ते हैं, कर्तव्य नहीं छोड़ते। कर्तव्य छोड़नेसे तो अवश्य हमारे साथ अभाव ही अभाव रहेगा। कर्तव्य करने और ममत्व छोड़नेसे अभाव पास भी नहीं फटकेगा और कर्म-दुष्फलसे भी हमें छुटकारा मिलेगा।

आवश्यकताएँ कम होनेका अर्थ उनका ऊँचे उठ जाना है। इस लिहाज़से आर्थिक आवश्यकताएँ कम करना ज्ञान-विज्ञानकी आवश्यकताएँ बढ़ानेके बराबर भी हो सकता है। अर्थात् नीचे तलकी आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उतनी ही ऊँचे तलकी आवश्यकताएँ प्रकट होंगी। भौतिक परिग्रह कम होगा तभी अधिकाधिक ज्ञान-लाभके लिए मानव अथवा राष्ट्र अवकाश-प्राप्त होंगे। मुझे ऐसा मालूम होता है कि अर्थ-शास्त्रका अध्ययन धीमे-धीमे कम और कर्तव्य-शास्त्रका मनन शनैः शनैः बढ़ना चाहिए।

प्रश्न—किसी राष्ट्रको अन्य राष्ट्रसे, जरूरतोंको पूरी करनेके बदले, अधिकसे अधिक लेनेकी भावना रहती है। इसी कारण उन मुल्कोंमें व्यापारकी प्रेरणा भी है। स्वार्थके बिना कोई मुल्क क्यों किसीको कुछ देनेको तैयार होगा?—तब किस भाँति स्वार्थको व्यापारका आधार होनेसे रोका जाय?

उत्तर—हाँ, यह प्रश्न है। आप शायद चाहेंगे कि स्व और स्वार्थके तलसे हटकर इस प्रश्नका हल हम न सोचें। अर्थ-शास्त्रके तलपर ही उसे सोचना अर्थकारी होगा।

मुल्कोंमें आदान-प्रदान तो आवश्यक है ही। आवश्यकताएँ सबको हैं, इसलिए सबको कुछ न कुछ औरोंसे लेनेकी जरूरत है। अब एक 'लेना' तो छीन लेना है, दूसरा 'कुछ देनेके बदलेमें लेना' होता है जिसको समझौतेका, समझदारीका या 'व्यापारका लेना' कह सकते हैं।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि झपट लेनेसे काम नहीं चलेगा। इससे हमारी आदतें बिगड़ेंगीं और हमारी ही उत्पादनकी सच्ची शक्ति कम होगी।

तब देनेकी एवज़में ही लेनेका मार्ग रह जाता है। और यह आपकी बात सही मालूम होती है कि क्यों न खूब कसकर वसूल किया जाय और चतुरतासे काम लेकर कमसे कम बदलेमें दिया जाय। किन्तु, यह नीति आर्थिक लाभकी दृष्टिसे भी अंतमें लाभदायक नहीं होगी।

इसका उदाहरण लें। किसीके पास खूब गल्ला है, और मानिए कि उसकी कीमत ज़्यादह वसूल करनेके लिए वह इस घातमें रहता है कि जब दुर्भिक्ष पड़े और माँग तीखी हो जाय, तब उसे बेचे। ऐसे, एकाएक मालूम हो सकता है कि, बेचनेवाला अपना ख़ूब लाभ कर लेगा। यह भी हो सकता है कि लाभ उठानेके साथ ही साथ वह अपनेको दुर्भिक्ष-पीड़ितोंका उपकारी कहने लग जाय। क्योंकि, जब लोग भूखे थे, तब उन्हें खानेको किसने दिया?—उसीने तो दिया! महँगे ही मोल सही, पर जब अन्नका दाना दुर्लभ था तब अन्नदाता तो वही रहा न!

मैं मानता हूँ कि, वह चतुर व्यापारी अपनेको चाहे जितना ही छले, पर सच यह है कि इस तरह उसने कोई बड़ा काम नहीं किया। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो बहुत दिनोंतक आदान-प्रदानके प्रवाहको रोक रखनेके कारण संपत्तिके उत्पादन और वृद्धिमें उसने बाधा पहुँचाई। गल्ला जल्दी ही बिक जाता, तो दुर्भिक्षकी पीड़ा कम व्यापती और जो लोग भूखके कारण निकम्मे रहे, वे कुछ काममें लगते और उपजाते। इस प्रकार दुनियाकी संपत्ति और समृद्धिमें कुछ बढ़वारी होती।

व्यापारके भीतर स्वार्थकी तो गुंजायश है, पर वह स्वार्थ जितना ही अविरोधी होगा, व्यापारके हित-साधनमें उतना ही सफल होगा। उग्र स्वार्थ अगर एककी ज़ेबको भरता है, तो साथ ही दूसरेको दीन बनाता है और जगतका क्षोभ बढ़ाता है।

मुझे तो इसमें कठिनाई नहीं जान पड़ती कि व्यापारकी प्रेरणा अविरोधी स्वार्थ हो। अर्थात् देनेवाले और लेनेवाले दोनोंमें ही एक दूसरेके स्वार्थोंका ख़याल हो।

पैसेका प्रवाह जितना तेज़ होगा, उतना ही, धन अर्थात् सम्पत्ति बढ़ानेमें सहायक होगा। व्यापारी इस बातको अनुभवसे जानता है और उसे जानना चाहिए। छलसे या चालाकीसे या मजबूरीसे फ़ायदा उठाकर जो अधिक नफ़ा ले लिया जाता है, वह स्थायी नहीं है। अधिकांश वह दूसरेके अज्ञानपर संभव बनता है। उससे परस्परका सम्बन्ध घना और मीठा नहीं बनता। इससे उस प्रकारके देने-लेनेमें बढ़वारी नहीं होती। मैं एक बार जिससे अधिक दाम वसूल-कर लूँगा, पता चलनेपर अथवा समर्थ होनेपर वह मेरे साथका संबंध तज देगा। तब मेरा लाभ भी रुक जायगा।

अर्थात्, उग्र स्वार्थ व्यापारमें भी अदूरदृष्टिका द्योतक है।

संक्षेपमें, आपके प्रश्नका जवाब यह रह जाता है कि, दूरदर्शी व्यापारी मंद स्वार्थ अथवा अविरोधी स्वार्थसे काम लेगा। साथ ही प्रत्येक देशको यह भी समझना चाहिए कि जगतके अन्य देशोंके दैन्यके बीच उसकी अकेलेकी अपनी समृद्धि निरर्थक-सी ही चीज़ है। वह समृद्धि, इस प्रकार, अनुपयोगी भी हो जाती है। खूब भरा हुआ थाल सामने रखकर कोई उसका आनन्द कैसे ले सकता है, अगर आस-पास गिड़गिड़ाते भूखे आदमी उसे घेरे हों? वे जबतक आँखोंके आगेसे टल न जायँ, या उनका गिड़गिड़ाना बन्द न हो जाय, तब तक मेरी समझमें नहीं आता कि किस प्रकार भोग्य वस्तुमें भी भोग बुद्धि तृप्त की जा सकती है? वह धन बेकाम है, वह धन ही नहीं है जो निर्धनता फैलाता है।

३—देश : इकाई और उसका अंतरंग

प्रश्न—राष्ट्र क्या मानव-जातिके सुसंगठित जीवनकी जरूरी इकाई है ? क्या वह अपने आपमें द्वन्द्व-युक्त नहीं है ? एक राष्ट्रके भीतर क्या ऐसे वर्ग या श्रेणियाँ नहीं हैं जो आपसमें बेमेल हों ?

उत्तर—पहले ही हमको यह याद रखना चाहिए कि हमारे शब्द हमारे शब्द (=Concepts) हैं। वह शुद्ध सचाई नहीं हैं। Concept अंतिम नहीं होगा। वह निरन्तर विकासशील है।

राष्ट्र हमारे राजनीतिक व्यवहारके लिए आज एक इकाई बना हुआ है। कुछ सदी पहले राष्ट्रका भौगोलिक और राजनीतिक रूप कम था, जातीयरूप अधिक था। हिटलरका अत्याधुनिक राष्ट्रवाद भी एक तरहका जातिवाद है। इस तरह, आज जो ' राष्ट्र 'से समझा जाता है, पहले ठीक वही नहीं समझा जाता था और आगे भी वही समझा जायगा, ऐसी आशा नहीं है। इसलिए, राष्ट्र मानव-समाज या मानव-जीवनकी अन्तिम इकाई है,—यह कहना ठीक नहीं है। जो अन्तिम नहीं है, वह शाश्वत भी नहीं है। और ऐसी चीज़ आज जरूरी हो, तो कल ग़ैरजरूरी भी हो सकती है।

अब प्रश्न यह है कि क्या एक इकाईमें दो विरोधी अंश रह सकते हैं ? मैं मानता हूँ कि साम्य वही क़ीमती है जो दो विषमताओंको मिलाए। विषमताएँ जबतक परस्पर विषम ही हैं, तबतक बेशक साम्य असिद्ध है। लेकिन गहरीसे गहरी विषमताओंमें कहीं एकताका सूत्र न हो, तो वे हो तक नहीं सकतीं।

शायद ऊपरकी बात कठिन हो गई। हम अपनेको लें। मैं अपनेको और आप अपनेको एक इकाई मानते हैं न ? हम अपनेमें एक हैं ही। हमारा वह एकपन अत्यन्त सिद्ध है। ' मैं 'के माने ही, नहीं तो, क्या है ?

मैं एक हूँ, तब भी अनेक विकल्पोंका युद्ध क्या मेरे भीतर नहीं होता रहता है ? बात-पित्त-कफ़, सत्त्व-रज-तम, ये तीन तत्त्व, तीन गुण, आपसमें तो तीन ही हैं। फिर भी तीनोंका संयोग मुझ एकमें है। वे तीनों भिन्न और विरोधी होकर भी जबतक आपसमें एक-दूसरेके साथ मिलकर रह सकते हैं, तभीतक मेरा

जीवन संभव है। उनका विरोध अगर आपसकी एकताकी संभावनाको बिल्कुल तोड़ बैठे, तो वही मेरी मौत हो।

इस तरह प्रत्येक इकाईको, प्रत्येक सत्ताको, किन्हीं दो (अथवा अनेक) के मध्य आकर्षण अथवा अपकर्षणकी परिभाषामें ही कहा जा सकता है। अर्थात्, कोई इकाई विविधतासे खाली नहीं है।

स्पंदन, जीवन, चैतन्य, गति,–ये सब शब्द दो अस्तित्वकी शर्तके बोधक हैं। वे दो हैं, इसका मतलब यह है कि उनमें किंचित् विरोध है ही।

इसी तरह राष्ट्र वह नहीं है जिसमें एक ही जाति, एक ही प्रान्त, एक ही दल, एक ही श्रेणी हो। उसमें विविध श्रेणियाँ, विविध जातियाँ, कई प्रान्त, कई हित (Interests) अनिवार्य हैं। जो इन कइयोंको अपनी भावनासे एकतामें नहीं पिरो देती वह राष्ट्रीयता भी नहीं है। Democracy (जन-तंत्र) का भी यही अर्थ है। उसके माने हैं 'सबका राज्य'। उस शब्दके अर्थके साथ व्यभिचार करके स्थूल वास्तविकतामें उसे एक पार्टीका राज्य, या अराज्य, बनाया जा सकता है। पर 'राष्ट्र'के असली माने यही हैं कि जो अपने भीतरके विरोधी दीखनेवाले अंगोंमें अपने प्राणोंकी एकता पहुँचाए। इस प्रकारकी एकता जो दे सकता है, वह देश स्वस्थ और बलिष्ठ है। और जो नहीं दे सकता, वह रुग्ण है और बिखरकर लुप्त हो जानेवाला है।

प्रश्न—यह तो ठीक है कि विविध प्रान्त, विविध जातियाँ आदि छोटी छोटी इकाइयाँ मिलकर एक राष्ट्र जैसी बड़ी इकाईके भीतर एक हो सकते हैं, और इसके लिए किसी राष्ट्रीय सामान्यता (National Affinity) **और उसमें निहित हितैक्य** (unity of interest) **का होना जरूरी है। किन्तु, यदि राष्ट्र किसी ऐसे दो भागोंमें बँटा है जिनमें ऐसी कोई सामान्यता** (Affinity) **अथवा हितकी अभिन्नता** (unity of interest) **नहीं हो सकती तो वहाँ राष्ट्र-भावना कैसे विवक्षित हो सकती है ?**

उत्तर—अगर आधारभूत वैसी कोई एकसूत्रता नहीं, तो राष्ट्रकी सत्ताका टिकना सचमुच संभव नहीं है। लेकिन, मान लीजिए कि राष्ट्र आज है, कल चाहे वह नहीं भी रहनेवाला हो, तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि आज तकके

लिए जरूर एकताका आधार वहाँ है जो उसके विविध अंगों (प्रान्तों) को एकत्रित थामे हुए है।

सवाल अब यह रह जाता है कि वैसी एक-सूत्रता जब दीखती नहीं, पहचान-में और पकड़में नहीं आती, तो उसको किस भाँति हिसाबमें लिया जाय? वह है, ऐसा ही क्यों कर मानें?

तो, इसका जवाब होगा कि, अगर बुद्धि उसको नहीं पाती तो श्रद्धासे उसको मानें। नहीं माननेसे तो काम नहीं चलेगा।

मान लीजिए कि साँपका फन उसी साँपकी पूछको अपना नहीं समझता। वह अपने साँप-पनको नहीं जानता। फन बस अपनेको फन जानता है जिसमें खा जानेकी शक्ति है, जिसमें ज़हर है और तेज़ी है। और पूँछको वह निष्क्रिय जड़की भाँति अपनेसे भिन्न देखता है और पूँछको हिलती हुई देखकर वह उसे कोई अपनेसे अलग खाद्य जीव समझ लेता है। अगर हम कल्पना करें कि फनने पूँछको खाना शुरू कर दिया, तो साँपका परिणाम क्या होगा?—स्पष्ट है कि परिणाम कुछ नहीं होगा।

यानी, कोई एक अंग दूसरेसे अपना इतना विरोध मान ले कि दूसरेके नाशमें अपना जीवन समझे, तो इसका परिणाम शून्य होगा। अर्थात् यह कोरा तर्क है, इसमें सम्भवनीयता नहीं है। साँप अपनी पूँछको निगलता देखा नहीं गया है। हाँ, उसके फन और पूँछको आपसमें चोट लेते-देते अवश्य देखा गया है।

इसलिए, किन्हीं दोमें ऐकान्तिक विरोध असत्य है। जो ऐसा विरोध ठानते या ठानना बिचारते हैं, वे भ्रम पालते और नाश बुलाते हैं।

लेकिन, साथ ही आपका यह प्रश्न मालूम होता है कि क्या राष्ट्रके प्रति ही व्यक्तिकी वफ़ादारी है? राष्ट्रके बाहर क्या किसी औरके प्रति लगाव नहीं हो सकता? मैं हिन्दुस्तानमें रहता हूँ। हिन्दुस्तानका, जो एक राष्ट्र है, मैं अंग हूँ। हिन्दुस्तानी होनेके साथ मैं अमुक धर्मावलंबी भी हूँ। और मान लीजिए, वनस्पति-शास्त्रमें रस लेता हूँ। अब कल्पना कीजिए कि उसी हिन्दुस्तानका एक और व्यक्ति अंग है, जो उस धर्मसे बिलकुल सहानुभूति नहीं रखता और वन-स्पतियोंमें जिसे कोई रस नहीं है। उसके मुक़ाबलेमें अमरीकाका कोई आदमी उक्त धर्ममें प्रीत रखता है और वनस्पतियोंके संबंधमें तो बहुत ही अनुसंधानप्रिय है।

अब क्या हो ? क्या मैं उस अमरीकनका मित्र न हो जाऊँ ? क्या यह मित्रता अनुचित है ? क्या यह असंभव है कि वही हिन्दुस्तानी मेरे निकट बिल्कुल अपरिचित रह जाय और मुझमें और उस अमरीकनमें गाढ़ी मैत्री हो जाय ? मैं मानता हूँ कि वैसी मैत्री अनुचित नहीं है, बल्कि खूब उचित है।

अब समझिए कि अमरीका और हिन्दुस्तान लड़ पड़े। (यह कहनेकी भाषा है। असलमें हिन्दुस्तान और अमरीका लड़ ही नहीं सकते। लड़ना तो लड़ना, वे आपसमें जितने हैं उससे एक इंच दूर या पास नहीं हो सकते। लड़ते लड़नेवाले हैं, जिनको सरकारें तनख्वाह देकर लड़ाती हैं।) ऐसी लड़ाईके वक्त मैं हिन्दुस्तानी क्या करूँ ? स्पष्ट है कि लड़ाईको चाहे लड़नेवाले कितना ही घमासान बना दें, पर अमरीकनके साथ मेरी मैत्री गाढ़ीसे तनिक भी कम गाढ़ी नहीं होनी चाहिए। फिर भी, हिन्दुस्तानके प्रति मेरा लगाव कम नहीं हो सकता। मैं देशकी चाल-ढाल रखूँगा, देशका खद्दर पहनूँगा, मेरे व्यावहारिक प्रेमका लाभ पड़ोससे मिलना आरंभ होगा, और वहींसे जड़ बसाकर फैलेगा। देश-प्रेमका सच्चा अर्थ पड़ोसी-प्रेम है। विदेशसे युद्ध, उसका झूठा अर्थ है।

प्रश्न—शासन-यंत्रका आरंभ व्यक्तिकी अधिकार-भावनाके आधारपर हुआ या समाज-विकासकी आवश्यकताके रूपमें हुआ ?

उत्तर—अगर हम इतिहासको केवल अतीतका बखान न मानकर उसमें किसी प्रकारके चरितार्थकी संभावना मानते हैं, तो, कहना होगा, कि शासन-संस्था विकास-शील विकासकी राहमें ही बन खड़ी हुई है। उस संस्थामें परिवर्त्तन बराबर होते आये हैं। देखा जाय, तो ये परिवर्त्तन मनमाने नहीं हैं, उनमें क्रम और संगति है। पहले मुखिया सरदार ही राजा होता था जो कोरा हाकिम समझा जाता था। अब वह सेवक भी माना जाने लगा है। पहले वह सबको सब-कुछ देनेवाला समझा जाता था, अब अगर राजा है भी तो आम लोगोंकी सभा (Parliament) खुद उसका भत्ता बाँधती और पास करती है। राजा नामका 'राजा' है, उसका अधिकार आज साफ़ तौरपर प्रजामेंसे उसे प्राप्त होता है।

विकासके अनुकूल जब कि शासन-यंत्रमें विकास होता गया, तब बेशक इसको भी एक ऐतिहासिक सत्य मानना होगा कि शासन-सत्ताका बीजरूपसे

आरंभ व्यक्तिकी अधिकार-भावनामेंसे हुआ। एक गुट्टके सरदारने अपना बल दूसरे सरदारसे लड़कर आज़माया। जो जीता, वह दूसरे गुट्टका भी मालिक बन रहा। पहले राज्य सचमुच ऐसे ही बने होंगे। लेकिन, इसका इतना ही मतलब है कि समाज-विकास इच्छा-वासनाओंद्वारा चलनेवाले व्यक्तियोंके कृत्योंद्वारा ही अपनेको सम्पन्न करता गया। अर्थात्, इतिहासका हेतु समष्टिगत है। वह समष्टिगत हेतु व्यक्तियोंद्वारा निष्पन्न होता है। व्यक्ति स्वयं जिस भावनासे कर्म करता है, उस भावनामें ऐतिहासिक तथ्यका मूल्य नहीं पायगा।

इसीसे किन्हीं बड़े लोगोंको बड़े बड़े परिवर्तनोंके कर्त्ता माननेकी आदत अब इतिहास-शास्त्रमें कम होती जाती है। तनिक अलग होकर देखें, बड़ी पृष्ठ-भूमिपर देखें, तो व्यक्ति साधन-मात्र रह जाता है और इतिहासका उद्देश्य व्यक्तिमें बन्द नहीं जान पड़ता, वह इतिहास-भरमें व्याप्त होता है।

प्रश्न—शासक अपने किस बलपर समाजसे अधिकार प्राप्त करता है?

उत्तर—इस बलका स्वरूप बदलता चला जा रहा है। पशु-बलकी जगह अधिकाधिक नैतिक बलकी मान्यता होती जाती है। असलमें प्रगति स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चलनेमें है। जहाँ तक आम जनताका मानसिक विकास हो जाता है, ठीक उसी तलका बल जिन लोगोंमें अधिक है, वे उस कालके शासक बन जाते हैं। आज कोई मारने-काटनेकी ताक़तके बलपर बड़ा हो सकता है, यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। लेकिन पहले ऐसा हो सकता था।

शासकमें, यह तो साफ़ ही है कि, शासितकी अपेक्षा बलकी अधिकता होगी। अब ज्ञान और बल ये दो चीज़ें हैं। ज्ञान सक्रिय होनेपर प्रबल होता है, निष्क्रिय ज्ञान निर्बल है। इसलिए यह तो हो सकता है (और होगा) कि पशु-बलकी जगह नैतिक बलके हाथमें शासन हो जाय। पर यह ध्यान रखनेकी बात है कि नैतिक बल चाहिए, नैतिक ज्ञान काफ़ी नहीं। कोरा नैतिक ज्ञान पशु-बलको हरा नहीं सकता। हाँ, नीतिका अगर सच्चा बल हो, तो उसके आगे पशुबल तो हारा ही रक्खा है।

प्रश्न—आज जो शासक हम देखते हैं, क्या वे बिल्कुल नैतिक बलपर टिके हैं? यदि ऐसा है तो क्या हम हरेक राज्यको संतोष-पूर्ण न मानें?

उत्तर—नहीं, नैतिक बलपर नहीं टिके हैं। लेकिन अगर नैतिक बलपर नहीं टिके, तो इसका यह भी अर्थ है कि जनतामें नैतिक बल अभी जाग्रत ही नहीं है, वह मूर्छित पड़ा है। मैं तो यह भी कहना चाहता हूँ कि शासक-वर्ग जिस तलपर है, उससे ऊँचे तलका नैतिक बल संगठित नहीं है। इसीका यह परिणाम है कि जो शासक हैं, नीति-बलहीन होकर भी वे शासक बने हैं। हम शासक-वर्गको 'अनैतिक' आसानीसे न कह दें, क्योंकि अगर सचमुच ही कोई नैतिक शक्ति है, तो वह अनीतिसे शासित नहीं हो सकती।

प्रश्न—समाजके नैतिक बलसे हम ठीकठीक क्या समझें? वह कहाँ निहित रहता है, और शासकपर उसका प्रभाव क्यों कर संभव होता है?

उत्तर—समाज अपने व्यक्तियोंसे ही जाँची जा सकेगी। दो दाने निकालकर देखनेसे जैसे पकती हुई खिचड़ीका अनुमान किया जाता है, वही उपाय यहाँ है। व्यक्तियोंसे भिन्न समाज क्या है? और किसी अन्य प्रकार समाज तोला परखा नहीं जा सकता है। वस्तुओं और व्यक्तियोंको विविध मूल्य देनेकी विधिमें उस समाजकी नैतिकताका मान सहज चीन्हा जा सकता है।

समाजका औसत व्यक्ति जिस अंशतक आत्मनिष्ठ, दूसरेके प्रति उदार, शासनतंत्रके प्रति स्वभावतः निर्भय और कर्त्तव्यशील हो, उस समाजको उसी अंशमें नैतिक-बल-संयुक्त कहना चाहिए।

अगर समाजके सब व्यक्ति नैतिकताके बारेमें जागरूक हैं, तो उस जन-समाजके मध्य कोई रूढ़ शासन-संस्था अनावश्यक हो जायगी। क्योंकि नैतिकताका अर्थ है खंडका सम्पूर्णके प्रति निवेदन और समर्पण।

नैतिकताका अधिष्ठान हृदय है। समाजका हृदय क्या है? कहना चाहिए कि शिक्षक-वर्ग, लेखक-वर्ग, ब्राह्मण-वर्ग उस समाजका हृदय है। शासक-वर्ग समाजके बाहु हैं। बाहु-बल हृदय-बलके वशसे बाहर हो तो उस समाजको ज्वरग्रस्त कहना चाहिए।

शासनके प्रति नैतिक बल या नैतिक जनका क्या रुख हो? स्पष्ट है कि शासन उसके निकट सेवाके दायित्वका ही दूसरा नाम है। जहाँ जन-सेवाकी भावना नहीं है वैसे शासनके प्रति नीति-भावना-प्रधान पुरुष निर्भीक परंतु [illegible]वना-शील रहेगा।

प्रश्न—प्रतिनिधि-शासक ही नैतिक बल-युक्त शासक कहा जा सकता है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—होना तो चाहिए, पर आजके दिन ठीक ऐसा है नहीं। वोटोंकी गिनती द्वारा जो प्रतिनिधि चुने जानेकी पद्धति है, क्या उसमें सच्चे प्रतिनिधि चुने जाने अथवा किसीके सच्चे प्रतिनिधि बननेकी संभावना भी रहती है?—नहीं रहती। ऐसे प्रतिनिधि भी देखनेमें आते हैं जिन्हें खबर नहीं कि वे कहाँके प्रतिनिधि हैं और जहाँके प्रतिनिधि हैं, उन्हें खबर नहीं कि हमारा कोई प्रतिनिधि भी है। इसलिए अगर 'प्रतिनिधि' शब्दसे वोट-गणनावाले प्रतिनिधिका भाव आता है, तो कहना होगा कि नैतिक पुरुष प्रतिनिधि पुरुष हो अथवा नहीं भी हो। अधिक संभावना उसके प्रतिनिधि नहीं होनेकी ही है।

प्रश्न—अधिक संभावना उसके प्रतिनिधि नहीं होनेकी ही क्यों है ?

उत्तर—ऐसा इस लिए कि वोट स्वतंत्र नहीं होती है, स्वतंत्रतासे नहीं दी जाती है। वातावरणमें दल-प्रचार और दल-आंतकका ऐसा विकार भरा रहता है कि वह वोट खुले मनकी होने ही नहीं पाती। फिर रिवाज प्रतिनिधियोंके 'खड़े होने' या 'खड़े किये जाने'का है। खड़े होनेकी तरफ आँख उसकी अधिक लगी होती है जो महत्त्वाकाक्षी है। और महत्त्वाकांक्षा अनैतिक है। इससे आज कलकी चुनाव-प्रथा (Election system) नैतिकताको बढ़ाती हुई नहीं देखनेमें आती।

४–शासन-तंत्र-विचार

प्रश्न—दोष वास्तवमें स्वयं लोगोंकी ही अनैतिकताका है, उस प्रथा System **का क्या दोष है? यदि प्रथाका है, तो आप अन्य कौन-सी प्रथा तजवीज़ करेंगे?**

उत्तर—दोष किसका कहा जाय? विज्ञान-शुद्ध यह कहना होगा कि चुनाव-विधान और एतत्कालिक लोक-स्थिति, ये दोनों परस्पर विषम सिद्ध हो रहे हैं।

लोगोंको विधानके अनुकूल बनाया जाय या विधानको ही लोकस्थितिके अनुकूल बनाया जाय?—यह प्रस्तुत प्रश्न नहीं है। और यह व्यावहारिक राजनीतिका भी प्रश्न नहीं है। राजनीतिका सम्बन्ध तात्कालिक संभवसे है, आगामी उचितसे नहीं।

आज सचमुच राह नहीं सूझती कि चुनाव-प्रथासे किस रूपमें समझौता करें कि उसके दोषसे बचा जा सके और उसकी सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ। ऐसा भी मालूम होता है कि लौकिक तलपर, अर्थात् राजनीतिके तलपर, जन-संख्याका सिद्धान्त किसी न किसी रूपमें स्वीकार किये ही गुज़ारा है। क्योंकि, राजनीति लोगोंकी भौतिक आवश्यकताओंके प्रश्नको सामने रखकर चलनेको बाध्य है; और वैसी आवश्यकताएँ सबमें हैं और सबमें लगभग एक-सी ही हैं। सभीके पेट है, सभीको खाना चाहिए। सभीके तन है, सभीको कपड़ा-लत्ता भी चाहिए। इस मामलेमें ऊँच-नीच, अमीर-ग़रीब, दुष्ट-साधु सब समान हैं। इस तरह राजनीति मुख्यतः संख्याका प्रश्न है।

पर संख्या गड़बड़ भी डाल देगी। जन-तंत्रमें भीड़-वृतिका फल भी देखनेमें आता है। डिक्टेटर-शिप उसीकी प्रतिक्रिया है। फिर भी, तमाशा यह है कि, डिक्टेटर मत-गणनाके सिद्धांतपर भी अपना समर्थन आवश्यक समझता है।

इससे मैं सहसा इस सम्बन्धमें कोई सुधारका निश्चित प्रस्ताव सामने नहीं कर सकता। फिर भी मत-गणनावाले तंत्रसे (Democracyसे) समाजकी आशाएँ पूरी नहीं हो रही हैं, यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

प्रश्न—चुनाव-सिद्धांतको दोष-पूर्ण न मानकर, क्या हम आशा नहीं कर सकते कि लोग धीरे धीरे जैसे ही वोटका दायित्व

समझते जायँगे वैसे ही क्रमशः यह चुनाव-प्रथा ही आदर्श प्रथा बन जायगी ?

उत्तर—किसीको दोषपूर्ण न मानना उतना ही अलाभकारी है जितना उसको निर्दोष मानना। जगत्‌में जो है, अपूर्ण है। पूर्णता आदर्श-स्थिति है। विशिष्ट परिस्थितियोंमें जो निर्दोष हो, वह उन परिस्थितियोंके आनेके पहले तो सदोष है। अतः, प्रश्न गुण-दोषका नहीं, स्थिति और साधनकी परस्पर विसंगतिका है। चुनाव-सिद्धांत अपने आपमें बिचारा ख़राब क्यों समझा जाय? यदि ऐसी स्थितिकी कल्पना की जा सके, जहाँ उस प्रथाके दोष सब छूट जायँ, लाभ ही लाभ रह जायँ, तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं रहेगी। पर घटनाके आधारपर जो निर्णय हो, वह क्या कल्पना और संभावनाके आधारपर किया जा सकता है? फिर भी, निराशाको स्थान नहीं। मार्ग है ही नहीं, ऐसा नहीं। आज भी क्या हमारे बीचमें बिना 'वोट' डाले विश्वासका और अधिकारका आदान-प्रदान नहीं होता दीखता है? प्रत्येक परिवारमें कोई एक बजुर्ग होता ही है। क्या परिवारके सब सदस्य कभी एक जगह मिलकर 'बैलट' द्वारा उसे अपना बुजुर्ग या प्रमुख चुनते हैं? फिर भी, उसकी प्रमुखता बहुत सहज-भावसे निभी चलती है।

इससे, मैं समझता हूँ, कि, चुनावकी प्रथाके और विधानके बिना भी, प्रतिनिधित्वके लाभ उठाये जा सकते हैं।

प्रश्न—मताधिकार मानवका सिद्ध अधिकार है और चुनाव-द्वारा उसका अवसर देना भी प्रतिनिधि-शासनके लिए अनिवार्य सिद्धांत होना चाहिए। इसलिए, उसकी राहहीसे चलकर क्यों न संभव दोषोंको दूर करते चलें? दूसरे, रही परिवारके बुजुर्गकी बात। वह पैतृक रूपमें मिला होता है, और पैतृक प्रभाव ही वहाँ काम करता होता है। फिर भी, सभी परिवारोंमें बुजुर्ग-डम सफल होती नहीं देखी जाती। किंतु, समाजके लिए उस बुजुर्गका भी तो किसी प्रकार निर्णय करना होगा। वह कैसे करें?

उत्तर—चुनावकी प्रथावाले दोषको चुनावद्वारा ही हम कैसे दूर करते चलें, यह मुझे साफ़ नहीं दीखता। धीरजसे, धर्मसे वह काम होगा, यह तो मैं

मानता ही हूँ। मेरी शंका तो यही है कि आजकी परिस्थितिमें चुनावसे वह काम कैसे हो जायगा ? क्या वह उस प्रकार हो भी सकेगा ?

विवेकका वोट हृदयका वोट है। वोट विवेकका ही हो, हृदयका ही हो। इसके लिए या तो प्रत्येक व्यक्तिमें विवेक-शक्ति इतनी जाग जाय कि वह किसी दलीय दबावसे आंतकित न हो, या फिर, वातावरणमेंसे दलातंक ही इतना क्षीण हो जाय कि व्यक्तिके विवेकमें विकार न आवे।

इसका मतलब ही दूसरे शब्दोंमें यह होता है कि सामूहिक जीवनमें अधिकारकी चेतना मंद हो, जिम्मेदारीकी ही भावना प्रधान हो। तब वोटकी छीन-झपट न होगी। चुनाव तब बहुत सहज काम होगा और बिना कोलाहलके वह हल हो सकेगा। यों कह सकते हैं कि वह तब इतना तूल ही न पकड़ेगा कि 'प्रश्न' कहलावे। ऊपर, परिवारके उदाहरणसे हम क्यों न मान लें कि बिना प्रथाके हमने उस तत्त्वका लाभ उठा लिया है। परिवारमें बुजुर्गके प्रमुख माने जानेमें यह सुगमता है कि वह बुजुर्ग है। यह उचित ही है, मैं इसमें कोई आपत्ति नहीं देखता। उस बुजुर्गीके दायित्वके पैतृक होनेमें क्या हानि है ? हाँ, उसमें आशंका बनी रहती है कि परिवारका युवक सदस्य शर्मा-शर्मी, संस्कार-वश उन्हें बजुर्ग मान तो ले, पर पूरे मनसे वैसा न मानता हो और अंदर-अंदरसे कुढ़े। तो मैं कहूँगा कि उस युवकको खुलकर अपनी विवेक-सम्मत राय प्रकट कर देनी चाहिए। लिहाज़में भी झूठा आचरण नहीं करना चाहिए। अगर मान लिया जाय कि उसने खुलकर कह भी दिया कि अमुक बुजुर्ग परिवारके प्रमुख होने योग्य नहीं है, पर शेष लोगोंको यह बात नहीं जँची, तो युवकका क्या कर्त्तव्य है ? प्रकट है कि सुशासित सोसायटीमें जो उसका कर्त्तव्य अथवा परिणाम होगा, वही उस परिवारमें भी होगा।

मेरे कहनेका आशय यह कि शासकको शासितका विश्वास-पात्र होना चाहिए, यह तो सुशासनके लिए अनिवार्य सत्य बात है ही, पर ऐसा सदाशय चुनावकी प्रथाके गर्भमें ही रह और निभ सकता है, ऐसा माननेका कारण नहीं है। बल्कि, चुनावकी प्रथा जबतक अपने तात्कालिक फलद्वारा उस सत्यका समर्थन करे, तभी तक वह प्रथा सह्य है, अन्यथा नहीं। सत्यको प्रथा-गत कहना प्रथाको मुख्य और सत्यको अनुगत बनाना है। कहनेका मेरा मतलब यही है कि चुनावकी

प्रथासे उसहीका अभिप्राय झूठा होता हुआ दीख पड़ता है, इसीसे प्रथाको छोड़ने या बदलनेकी बात उठी है।

प्रश्न—किन्तु, समाज अपने बुजुर्गको कैसे पाये, इसपर भी कुछ आप कहेंगे?

उत्तर—परिवारको अपना बुजुर्ग पानेमें कोई दिक्कत होती हुई मैंने नहीं पाई; क्योंकि, सब एक दूसरेके निकट परिचित रहते हैं, और वातावरणमें स्पर्द्धाका भाव न होनेके कारण सबको समन्वित पारिवारिक हितका ध्यान रहता है। अहमहमिकाकी भावना वहाँ नहीं रहती।

समाज भी अगर इसी प्रकार भीतरसे बनता हुआ उठे, तो उसे ठीक अपने नेताको पानेमें कठिनाई नहीं होगी। मुझे प्रतीत होता है कि यह 'भीतरसे बनना' ही सच्ची Democracy है।

अब यह प्रश्न है कि स्वाभाविक बुजुर्ग अगर नालायक हो, तो उसकी जगह दूसरेको चुननेमें क्या नियम रक्खा जाय? लेकिन, सच बात यह है कि यदि परिवारमें स्वास्थ्य है, तो वह किसीसे अपने लिये नियमकी अपेक्षा नहीं रक्खेगा और उसे तत्संबंधी नियमका अभाव भी कभी नहीं खलेगा। और अत्यंत सहज भावसे उस परिवारका कोई न कोई केन्द्र-पुरुष चुन जायगा। 'चुन जायगा,' यह भी कहना अधिक है। क्योंकि, चुने जानेकी नौबत आनेसे पहले ही परिवारका केंद्र भरा हुआ दीखेगा और परिवार अपनेको तनिक भी केन्द्रहीन अनुभव न करेगा।

प्रश्न—परिवारमें 'बुजुर्ग'से मतलब क्या वृद्धसे है? क्या समाजमें भी आप ऐसे ही बुजुर्गकी कल्पना करते हैं?

उत्तर—उम्रकी बजुर्गी बेशक कोई कम चीज नहीं है, क्योंकि वह अनुभवकी बुजुर्गी भी है। लेकिन, इसके अतिरिक्त भी जीवनमें कुछ और बातें हैं। बहर हाल इस संबंधमें स्वार्थहीन नागरिकोंकी बुद्धिपर क्यों न भरोसा किया जाय? और क्यों उस बारेमें एकका मंतव्य माँगा जाय? ऐसा तो मालूम होता है कि पचास वर्षकी अवस्थासे पहले किसीके ऊपर नेतृत्वका बोझ आ जानेकी आशंका उस स्थितिमें कम हो जानी चाहिए।

प्रश्न—समाजकी आपा-धापीकी अनैतिकताका कारण क्या उसकी वह बनावट ही नहीं है जिसका कि आधार सम्पत्तिका निजी अधिकार,-private property **है?**

उत्तर—नहीं, यह तो मन नहीं स्वीकार करना चाहता कि अगर किसीके पास खूब जायदाद या Private property हो तो मेरे लिए लालचका शिकार होना ही अकेली अनिवार्यता है। इसलिए, व्यक्तिगत सम्पत्तिकी संस्था आपा-धापीका कारण है, यह कथन योग्य नहीं मालूम होता। आपा-धापीका कारण आपा-धापीकी वृत्ति है। उस वृत्तिका कारण क्या है, और फिर उस कारणका कारण क्या है,—ऐसे गहरे उतरेंगे तो वहाँ जा पहुँचेंगे जहाँ प्रश्न होगा कि, असत्यका कारण कौन-सा सत्य है? इस प्रकार ऐसी जगह जा टकराना होगा जहाँ बुद्धिकी भाषा कोई समाधान नहीं दे सकती। मैं मानता हूँ कि अपनी चोरीका क़ुसूर दूसरेके धनको बतलाना काफ़ी नहीं है, यह ठीक भी नहीं है।

इस तरह आपा-धापीको कम करनेके लिए सीधे आपा-धापीकी वृत्ति मंद करनेकी बात ही व्यक्तिको सुनानी होगी।

अगर बुराईके, Vicious circle के, चक्करको तोड़ना है तो स्वयं टूटकर उससे बाहर होना सबसे पहली जरूरत है। उस चक्करमें पड़े रहकर कार्य-कारणके तर्कसे, Cause and effect से, बुराईको अपनेसे बाहर तै करके उसपर आक्रमण करनेकी चेष्टा करना अर्थकारी न होगा। जंजीरकी एक कड़ी दूसरीको दोष दे, दूसरी तीसरीको,—तो इस तरह जंजीरके टूटनेकी नौबत न आयगी।

लेकिन, यह तो स्पष्ट ही है कि यथा-शक्ति उस आपा-धापीकी वृत्तिको मंद करनेके लिए जो बाहरी स्थित्यनुकूलताकी सहायता पहुँचाई जा सके, वह भी पहुँचाई जावे। समाजका विधान बेशक उत्तरोत्तर वैसा ही बनता जाना चाहिए, और बनानेकी कोशिश करते चलना चाहिए, जिसमें विषमता कमसे कम हो और नेकीका पालन सरलतासे किया जा सके। समाजकी अवस्था व्यक्तिके मानस-पर दबाव डालती ही है। उस अवस्थाको उस दिशामें सुधारना होगा जिसमें वह दबाव न्यूनसे न्यूनतर होता जाय और अंतमें व्यक्ति और समाजका सामंजस्य सिद्ध हो जावे।

'प्राइवेट प्रॉपर्टी' शब्दको गैरक़ानूनी ठहराने-मात्रसे काम नहीं चल जायगा। जमीन ज़मीदारकी है, यह कहकर भी वह जमीन ज़मीदारके पेटके अन्दर नहीं समा सकती। यह तो खुली और उजली सचाई है कि ज़मीन है, और उसमें अन्न पैदा होता है। यह तो एक प्रकारकी भाषाका ही प्रयोग है कि जमीन 'इस'की है या 'उस'की है। उस भाषाके प्रयोगको बदलकर यह भी कह सकते हो कि ज़मीन

ज़मीदारकी नहीं, Commune की है, देशकी है, समाजकी है, या संघकी है। लेकिन, यह भाषाके प्रयोगका बदलना ही है,—उससे सचाई बदल गई समझना भ्रम है। हाँ, केवल भ्रम है। स्थितिमें वास्तविक अन्तर उस समय अवश्य आ गया समझना चाहिए जब उस ज़मीनका व्यवस्थापक व्यवस्था-मात्रके कर्त्तव्यको तो अपना माने, उससे आगे ज़मीनपर अपना अधिकार न जाने। मैं नहीं जानता कि स्टेटका एक वेतन-भोगी कर्मचारी, जिसका नाम हम चाहें कितना भी सुंदर और कर्तव्य-बोधक (impersonal) रक्खें, इच्छा होनेपर क्यों अपने अधिकारका दुर्व्यवहार नहीं कर सकता ? और अगर दुर्व्यवहार करता है, तो, सिवा इसके कि उसका नाम ज़मीदार नहीं है, एक बुरे ज़मीदारकी तुलनामें उसमें क्या अच्छाई रह जाती है ?

कहनेका यह आशय न समझा जाय कि समाजके विधानमें किसी भी बाहरी परिवर्तनकी आवश्यकता उचित नहीं है। लेकिन, उस परिवर्त्तनका भी औचित्य जहाँ निहित है, उसकी ओर निगाह रखनेकी बात मैं अवश्य कहना चाहता हूँ।

प्रश्न—जब आप मनुष्यकी आपा-धापीका कारण वृत्तिको बतलाते हुए कार्य-कारणके सिद्धान्तका सहारा लेते ही हैं, तो फिर वृत्तिका भी कोई कारण बतलानेसे क्यों इंकार करते हैं ?

उत्तर—इंकार नहीं करता। पर, किसीका अंतिम कारण पकड़ा जा सकेगा, या मैं पकड़ कर दिखा सकता हूँ,—इस बारेमें अवश्य अपनी और मानवकी असमर्थता स्वीकार करता हूँ।

लेकिन, इस असमर्थतासे उबरनेका सीधा-सा उपाय भी तो हरेकके हाथमें है, और मानव-गत अंतिम सत्य भी वही है। अपने सारे सोचने-विचारने, करने-धरनेका आधार मैं स्वयं ही हूँ। सबसे अंतिम सत्य मेरे पास 'मैं' है। इसलिए, हर बुराईका आदि कारण मैं अपनेको मानूँ और पाऊँ, मेरे लिए सर्वोत्तम सत्य यही है। कोई प्रश्न समक्ष आये तो उसका सच्चा उत्तर अंतमें इसी स्वरूपमें समझ मिलेगा कि 'मुझको' ऐसा, अथवा वैसा मालूम होता है। उसी उत्तरमेंसे फिर व्यक्तिगत प्रश्न बन खड़ा होगा कि अब मैं क्या करूँ? इस 'क्या करूँ?' के प्रश्नका जो तात्कालिक समाधान नहीं करता मालूम होता, वह समाधान सच्चा भी नहीं है।

इसलिए, जब यह दीख पड़ा कि मुझमें लोभके कारण आपा-धापीकी वृत्ति है,

तो, अपनेसे बाहर कहीं उसका दोष टाल देनेसे मेरा काम नहीं चलनेका। लाख वैज्ञानिक कही जानेवाली विचार-धाराका यह तकाज़ा हो कि लोभनीय पदार्थ होनेके कारण ही लोभ मुझमें हो सका है, फिर भी, मुझे उस वैज्ञानिकतासे संतोष नहीं होना चाहिए। मेरा तर्क तो यह होना चाहिए कि मुझमें लोभ न होता, तो कोई पदार्थ लोभनीय होता ही कैसे? हम देखें, कि दूसरा ही तर्क प्रेरक हो सकता है।—मैं तो मानता हूँ कि सत्य तर्क भी वही है।

इसलिए, उस वृत्तिका कारण हम जितना भी चाहें खोजें, पर मेरा आग्रह है कि उसको अपने भीतर ही खोजें तो ठीक होगा। बाहर खोजनेसे विज्ञान बढ़ सकता है, पर भलाई नहीं बढ़ सकती। और हम जानते हैं कि विज्ञानसे भलाई बढ़े तब तो उसमें अर्थ है, नहीं तो विज्ञान व्यर्थ है।

अन्तमें यही निर्णय हाथ रहा न कि व्यक्तिमें आपा-धापीकी वृत्ति है जिसे कम करते चलना चाहिए?

वह क्यों है?—कह दो, क्यों कि अभी पशुता है, क्यों कि जड़ता है, माया है, अविद्या है, असत्य है, आदि आदि। किंतु, दीख पड़ेगा कि यह शृंखला कार्य-कारणकी (Cause and effectकी) नहीं है, बल्कि कारण ही कारणकी है। इस तरह, चाहे बीचमेंसे ही क्यों न हो, हम किसी भी कारणकी कड़ीको ले बैठें तो हर्ज नहीं है। आदि-कारण पानेका आग्रह दर्शन-शास्त्रीको होता है, और वह विशेष प्रेरक भी नहीं है। जब बुद्धि कार्य-कारण-शृंखलाका पसारा ऐसा फैला लेती है कि उसपर विवादकी समाप्ति ही नहीं हो सकती, तब, कर्मके अर्थमें तो उसका परिणाम शून्य ही रहता है। इसीसे बौद्ध पांडित्य ('बौद्ध' धर्म नहीं) सदा शून्यवादी है।

प्रश्न—व्यक्तिमें समाजसे अनपेक्षित होकर ऐसी असत् वृत्तियाँ हैं, तो मानना होगा कि वे उसके मूल-स्वभावमें हैं। तब तो, उनके दूर करनेका प्रश्न व्यर्थ हो जाता है। क्यों कि हम मानव-स्वभाव स्वीकार करके ही कोई काम कर सकते हैं, इन्कार करके नहीं। और अगर यह मानें कि वे विकारी वृत्तियाँ हैं, तो, विकार जिस बाहरी संयोगसे पैदा हुआ, उसपर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

उत्तर—आदमी सचमुच समाजसे अलग नहीं है। समाजका भाग है, समाजसे अभिन्न है। बेशक विकार पूरी तौरपर 'मैं' की परिभाषामें न समझा जा

सकेगा। जरूर उसमें 'पर' को भी आना पड़ता है। विकार स्व-भाव नहीं है।

इसलिए, समाजको संस्कार देते रहनेका प्रश्न अत्यन्त संगत है। उधरसे उदासीन होनेकी कल्पना भी मुझे नहीं है। फिर भी, मेरा आग्रह तो इतना ही है कि समाज जब कि आदमीके व्यवहारका क्षेत्र है, तब अन्तःप्रेरणा ही असलमें उसकी कार्य-विधिका मूल है। मैं कभी यह नहीं कहना चाहता कि जिसको वह 'अन्तःप्रेरणा' कहे, वह बिल्कुल उसकी अपनी ही है और सामाजिक अवस्थाका उसपर प्रभाव नहीं है। प्रभाव है, पर व्यक्तिको यदि व्यर्थ (passive) न ठहराकर हम उसे समाज-रचनामें सचेष्ट भागीदार (active participant) समझते हैं, तो व्यक्तिको उस प्रेरणाका कर्त्ता भी मान लेनेमें हानि नहीं है।

पर यहाँ तो फिर विचारकी उलझन आ जाती है। वह उलझन परमात्माका नाम लेनेसे ही दूर हो सकती है। परमात्मा जिसमें 'स्व' और 'पर,' subject और object, व्यक्ति और समाज, साधन और साध्य दोनों एक हो जाते हैं।

अंतिम हेतु (Final cause) जो है, वह आदि निमित्त भी है। वह स्वयंभू है। उसमें सत्य भी है, असत्य भी है। पुरुष और प्रकृति उसीके दो रूप हैं। वह स्वयं सृष्टि है और स्रष्टा है,—वह परमात्मा।

इससे, असलमें अगर देखा जाय तो ईश-निष्ठासे चलना ही सब प्रश्नोंका समाधान है। क्या प्रश्न सामाजिक, क्या राजनीतिक। क्यों कि जाग्रत ईश-निष्ठाके अर्थ हैं स्व-पर-समन्वयकी चाह और पहचान।

प्रश्न—कार्य-कारण, नैतिकता अथवा अनैतिकता, पाप-पुण्य या आपा-धापीके विचारको छोड़कर हम क्यों न मान लें कि हमारा जीवन केवल समयके साथ बाह्य परिस्थितियोंसे सामंजस्य स्थापित (adjust) करनेमें है और इसलिए उन परिस्थितियोंके ही आवश्यक निदानमें और उनके साथ सामंजस्य-सिद्धि (Harmonised) होनेहीमें हमारी समस्याओंका हल है।

उत्तर—मैंने जो कहा वह इससे कुछ दूर तो नहीं जा पड़ता। मेरा शेषके साथ समन्वय हो,—बेशक इसीमें पूरी सिद्धि है। लेकिन, समन्वय साधने चलते हैं तभी प्रश्न खड़ा होता है कि क्या तो कार्य है और क्या अकार्य है, क्या नीति

है और क्या अनीति है ? समन्वय-हीनतामें दुःख है, इससे वह अनीति भी है। बेशक, हम अंतिम हेतु ढूँढ़नेके चक्करमें भटक भी सकते हैं। ऐसे भटक जा सकते हैं कि जो उसका वास्तव अभिप्राय था, यानी समन्वय, उसको ही भूल जायँ। दर्शन-शास्त्रके नामपर अधिकांश जो कुछ प्राप्त होता है, वह ऐसी ही भटकनका इतिहास है। इसीलिए, मैं स्वयं निश्चेतन और निष्क्रिय दर्शनके हक़में नहीं हूँ।

फिर भी यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति तत्कालकी दृष्टिसे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेको उद्यत है, वह धीमे धीमे उस प्रश्नको स्थूलसे अधिक सूक्ष्म और concreteके बजाय abstract के रूपमें देखने लग जाय। उसकी बुद्धि लाचार करेगी कि वह जाने कि क्या होनेसे कोई कर्म दुष्कर्म और दूसरा कर्म पुण्य-कर्म हो जाता है। यह कि व्यक्ति और स्थितिका समन्वय होना चाहिए, यह निर्णय भी तो आखिर प्रश्नको स्थूलसे सूक्ष्म बनानेके उपरांत ही मानव-बुद्धि प्रस्तुत कर सकी है।

इसीलिए, सच्ची बात तो यही है कि मुक्त प्राणी अपनेको, अपने 'मैं' को, सबमें मिला देता है। तब निसन्देह नीति-अनीति, कार्य-कारण, सत्-असत्, ये सब द्वित्वसे संभव बननेवाले प्रश्न उसके निकट असंभव बन जाते हैं। वह मात्र सच्चिदानंद होता है। लेकिन उससे पहले....

प्रश्न—आजकी समाजिक व्यवस्थामें जैसी आर्थिक एवं राजनीतिक जटिलताएँ उपस्थित हैं, उनमें कितने ही पुरुष अन्तरसे नैतिक होते हुए भी अनैतिकताका ज़रिया बने हुए हैं। समाजकी व्यवस्थाहीको बदले बिना क्या यह दोष दूर हो सकता है?

उत्तर—आप सवालको क्यों गहराईपर छूते हैं? बात असल यह है, कि, जो कुछ होता है, मैं और आप उसके करनेवाले नहीं हैं। इसलिए, उस होनेमें अपने आपमें कोई दोष नहीं है। नीति-अनीति घटनामें नहीं होती है। इसलिए, 'व्यक्ति नैतिक होनेपर भी लाचार है कि विषम समाज-रचनाका अंग होनेके कारण वह उस विषमताको अपने व्यक्ति-गत अस्तित्व-मात्रसे पोषण दे,' यह कहनेका विशेष आशय नहीं बनता। मैं जितना अपने सम्बन्धमें जागरूक हूँ, उतना ही कम शिकार हूँ। व्यक्ति समस्तके प्रति, समाजके प्रति, अपना नैतिक

कर्त्तव्य निबाहता है,—इसीमें यह गर्भित हो जाता है कि वह समाज-व्यापी अनीतिको बढ़ाता नहीं, घटाता है।

मानिए कि मैं अहिंसाका क़ायल हूँ। उस अहिंसाके धर्मके पालनमें, मान लीजिए कि, मैं किसीके तलवारके वारके नीचे मर जाता हूँ।

अब एक तर्क यह हो सकता है कि मैं अगर मरनेके लिए तैयार न होता तो मारनेवाला अपनी तलवारसे मुझे न मार सकता,—अर्थात् हिंसा न कर सकता। इस तरह मैंने अपनी अहिंसाकी भावनाके कारण उसकी हिंसाको उत्तेजना दी! हिंसाका शिकार होकर मैंने हिंसाको बढ़ावा दिया!

ऊपरका तर्क ठीक तभी हो सकता है जब मेरा मरना प्रमाद-वश और भीरुता-वश हुआ हो। लेकिन, अगर वह वैसा नहीं है,—स्वेच्छापूर्वक, श्रद्धापूर्वक अगर मैं उस तलवारके नीचे मर सका हूँ,—तो ऊपरका तर्क सर्वथा भ्रान्त हो जाता है।

मैं नीतिनिष्ठ रहता हूँ, इतनेमें मेरे अपने जीवनकी उऋणता आ जाती है। ऐसा व्यक्ति, जान पड़ता है, अनीति और असत्यसे जीवनमें सदा ही मोर्चा लेता हुआ दीखेगा। सचाईका मार्ग बड़ेसे बड़े योद्धाहीके योग्य है। यह माननेसे भी क्या हाथ आता है कि व्यक्तिके नीति-निष्ठ होनेमें सिद्धि नहीं है जब कि समाज-रचना अशुद्ध है? क्योंकि, व्यक्तिकी नीति-निष्ठा ही समाजकी शुद्धिका कारण होती है।

असलमें देखा जाय, तो क्या हम अपने भी हैं? क्या हम होनहारके हाथकी कठपुतलियाँ नहीं हैं? बात सच हो, फिर भी इस कारण अपने दायित्वको समाजपर ढालनेकी बुद्धि नहीं की जा सकती। आरंभमें भी कहा जा चुका है कि दोषकी जड़को अपनेमें न खोजकर समाजमें उसे खोजने चलनेमें त्राण नहीं है। उस तरहकी वृत्तिमें कुछ न कुछ अपनेको ख़तरेसे बचानेकी, ज्ञात नहीं तो अज्ञात, भावना ज़रूर है।

प्रश्न—समाज-व्यवस्थामें (–Social order में) परिवर्तन करने न करनेके प्रति भी क्या मनुष्यकी भावनाके हिंसक या अहिंसक होनेका प्रश्न उठता है?

उत्तर—हिंसा-अहिंसाका प्रश्न, आदमी देखे तो, किसी न किसी रूपमें हर काममें और हर घड़ी उसके साथ रहता है, और रहना चाहिए। यदि आत्म-

निरीक्षण जरूरी है, तो यह भी जरूरी है। समाजको कुछ नया सुधरा हुआ रूप पहनानेकी चिन्ता असंगत है। आत्म-मोक्षमें समाजका मोक्ष आता ही है और सच्चा समाज-सुधारक उसी राहको पकड़कर सच्चा बनेगा।

प्रश्न—मुझे पूरी तृप्ति नहीं हुई। मुझे एक एक सवाल पूछने दीजिए। क्या आप समाजके वर्तमान रूप और अवस्थासे संतुष्ट हैं?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्या आप उसमें कुछ ऐसी चीज़ें नहीं देखते जिनको सुधारा जा सकता है और सुधारना चाहिए? क्या यह अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति समाज-संगठनमें त्रुटियाँ देखे और उन्हें पूरा करनेमें कटिबद्ध न हो जाय? और अगर ऐसा व्यक्ति है, तो चाहे फिर अपने व्यक्ति-गत जीवनमें वह नीति-अनीति, हिंसा या अहिंसाका कितना भी बारीक अन्वीक्षण करता रहता हो, क्या हम उसको अनुत्तरदायी नहीं कहेंगे? इस तरह शायद हम यह भी देख सकेंगे कि अहिंसाका विचार ही हमारी मदद नहीं करता, बल्कि समाजकी सामाजिक समस्याओंपर भी सोच-विचार आवश्यक है। आपके कहनेमें यह ध्वनि आती है कि वैसा सोच-विचार जरूरी नहीं है,—अपने ही पाप-पुण्यका ध्यान रखना चाहिए।

उत्तर— मैं नहीं जानता कि इसका जवाब बहुत सरल दीख पड़ेगा। समाज-रचनाकी वर्त्तमान अवस्थासे मुझे असन्तोष है। असंतोष है, इसके माने यह कि असंतोषकी मुझमें शक्ति है। असंतोष सच्चा है, तो मैं चैनसे नहीं बैठ सकता।

अब प्रश्न होगा कि मैं क्या करूँ? कहाँसे कैसे आरंभ करूँ?

मान लीजिए, असंतोष बहुत है। फिर भी, अधीरतासे मैं काम लेना नहीं चाहता। बस, यही नहीं कि मैं कुछ करते रहनेका संतोष चाहता हूँ, बल्कि मैं जड़को पकड़ना चाहता हूँ और असंतोषसे जल्दी छुट्टी पानेको उतावला नहीं हूँ।

तब सवाल होगा कि वह समाज कहाँ है जिसे सुधारूँ? उसको पकड़ूँ तो कैसे? तब जान पड़ेगा कि जैसे डाक्टरके हाथमें मरीज़ रहता है, उस भाँति

समाज मेरे हाथमें आता ही नहीं । लाख कोशिश करूँ, उसका पल्ला भी मेरे छूनेमें नहीं आता । तब यह जानना ही पड़ता है कि समाज मुझसे भिन्न नहीं है, मैं समाजसे भिन्न नहीं हूँ । चाहकर भी मैं कुछ करनेके लिए समाजसे आरंभ नहीं कर सकता, मुझे अपनेसे ही आरंभ करना होगा । इसीलिए, अधिकसे अधिक ज़ोर भी इस बातपर कम हो सकता है कि मैं अपने सुखको सदा समाजके हितमें देखूँ । समाज-सुधारको सदा ही स्वधर्मकी परिभाषामें खोल-कर देखनेका प्रयास करना होगा । अन्यथा वर्तन करनेसे चक्कर ही कट सकता है, गति नहीं की जा सकती ।

आप देखिए न, हमारे सब व्यापार जिस इकाईको लेकर संभव बनते हैं, वह है व्यक्ति । उस व्यक्तिको चलानेवाला है मन । क्या आप समझते हैं कि बिना उस मनको ख्यालमें लाये कोई परिवर्त्तन हो सकता है ? यह कहनेकी बिलकुल मंशा नहीं है कि मनकी कोई स्वतंत्र सत्ता है । मनकी बिलकुल भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है । स्वतंत्र सत्ता तो त्रिकाल और त्रिलोकमें एक ही है जिसको सर्व-साधारणके साथ हम भी कह दें, ईश्वर । लेकिन, आदमीका वह मन उस आदमीकी क्रियाका आदि स्रोत है । इससे मैं फिर फिर कर यही कहूँगा कि आदमियोंके उन मनोंको सँभालने और चैतन्य बनानेसे ही कुछ होगा । जो समाजशास्त्रके सहारे और अर्थ-शास्त्रके सहारे अपने मनकी मूर्च्छाको दूर हुआ पाते हैं और इसी भाँति उनमें प्रेरणा जागती है, तो वे अवश्य वैसा करें । लेकिन, समाज-शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्रमें तब और उतनी ही सचाई मानी जायगी जब और जितने भी कि वे उस मानवके मानसको चेताते हैं । इस बातको माननेमें कर्मठसे कर्मठको क्यों बाधा होनी चाहिए, मैं नहीं देख पाता ।

प्रश्न—क्या देश, जाति अथवा राष्ट्र मानवताकी जीवित इकाई है ? उन सत्ताओंमें क्या कोई आत्मा जैसी चीज ओत-प्रोत होकर जीती है ?

उत्तर—अगर वे जीवित हैं, तो जीवित हैं । इकाईके तौरपर उनकी कोई अलग निजमें सत्ता नहीं है । आस्ट्रिया कल था, आज कहाँ है ? आत्मा एक है और सर्वव्यापी है । उसकी कोई बँधी इकाई नहीं है । मैं एक हूँ, मेरा परिवार एक है । उसके बाद मेरा मोहल्ला, नगर, प्रान्त, देश ये सब भी एक एक हैं । उसके आगे यह भी सच है कि समूची धरती (Earth) एक

(planet) है। अपने सौर-परिवारको (Solar System को) एक कहा जा सकता है। इससे आगे बढ़ें तो स-चराचर ब्रह्मांड एक है। जीवनकी, आत्माकी, इकाईको इन सबमेंसे कहाँ किसमें एक जगह बाँधें ? इनमेंसे किसको इतना ऐकान्तिक सच कह दें कि दूसरा झूठ हो जाय ?

इसलिए, उस तरहका प्रश्न व्यर्थ है। यानी, उस प्रश्नकी सार्थकता प्रश्न ही बने रहनेमें है। उसका पक्का जवाब कभी कुछ नहीं बनेगा।

मैं और आप व्यक्ति हैं। इसलिए, पक्की तौरपर तो आत्माकी व्यक्ति गत इकाईकी बात ही हमारे भीतर बैठ सकती है।

लेकिन, हममें ही कुछ ऐसी भी चेतना है जो व्यक्तिगत सीमाओंका अतिक्रम करके असीमका स्पर्श भी अनुभव करती है। उसी निरन्तर आत्म-साधनशील चेतनाके उत्तरोत्तर विकासके अनुरूप हम कहनेको बाध्य होते हैं कि मुझसे बड़ा समाजका व्यक्तित्व है; अथवा कि मैं नहीं हूँ, राष्ट्र ही है। इस प्रकारका कथन असत्य नहीं है। पर, उसकी सत्यता तभी निर्भ्रान्त है जब कि वे कथन स्वयं विकासशील हों। अर्थात्, मैं समाजका हूँ, यह कहना तभी सही होगा जब कि मुझे कल्पना हो कि समाज भी आगे जाकर किसी बृहत्तर मानव-समाजकी है। अगर वह कल्पना नहीं है, तो मेरा समाज-वाद मिथ्या दंभ भी हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्र-वाद अथवा स्टेट-वाद कोरे मिथ्या घोष हो सकते हैं।

प्रश्न—व्यक्तिका व्यक्तित्व और समाजका व्यक्तित्व क्या दो अलग अलग तत्त्व नहीं हैं ?

उत्तर—शुद्ध सत्यकी दृष्टिसे नहीं हैं। लेकिन, सौ फ़ीसदी सचाईको किसने प्राप्त किया है ? इससे उनमें निरन्तर संघर्ष देखनेमें आता है।

५—व्यक्ति और शासन-यंत्र

प्रश्न—व्यक्ति और स्टेटके निर्णयमें जब संघर्ष हो, तो क्या व्यक्तिको स्टेटके सामने झुकना चाहिए ?

उत्तर—मैं नहीं जानता कि व्यक्ति अपने इंकारपर कैसे जी सकता है। अर्थात् स्टेटका निर्णय स्वधर्मके विरुद्ध हो तो व्यक्ति नहीं झुक सकता। झुकता है, तो अपने व्यक्तित्वको खंडित करता है, यानी अधर्म करता है।

प्रश्न—जब व्यक्तिका स्वधर्म होता है, तो क्या स्टेटका स्वधर्म नहीं होता ? और क्या वह व्यक्तिके स्वधर्मसे बड़ी चीज नहीं है जिसके सामने कि उसको झुकना चाहिए ?

उत्तर—स्टेटका स्वधर्म क्यों नहीं होगा। बेशक, स्टेटके संचालनकी ज़िम्मेदारी जिन्होंने अपने ऊपर ली है, उनसे यही आशा करनी चाहिए कि उन्होंने स्टेटके और अपने स्वधर्मको अभिन्न बनाकर चलना स्वीकार किया है।

यहाँ अपनी वही पहली स्वयं-सिद्ध धारणा याद रखनी चाहिए कि **सचाईमें सब एक है**। अगर कोई स्टेट अहंकारके कारण अपनेसे बड़ी सत्ताके साथ अपना अविरोध भूल जाय और विकारग्रस्त हो जाय, तब सच्चे धर्मको माननेवाला व्यक्ति क्या करे ? क्या वह स्टेटकी वेदीपर अपने विवेकका खून कर दे ? स्टेटको ऐसा देवता नहीं माना जा सकता जो सर्वसम्पूर्ण (infallible) हो। इसलिए, स्टेटका संचालन जब मानव-धर्मसे अविरोधी न होकर विरोधी हो जाय, तब उसकी सविनय अवज्ञाका हक व्यक्तिका सुरक्षित समझना चाहिए।

प्रश्न—उन सब व्यक्तियोंके समन्वित विवेकसे, जो कि उसमें हैं, स्टेट बनती, जीती, और चलती है। तब फिर स्टेटके विवेकमें व्यक्तिके विवेककी अपेक्षा कोई कमी होगी, ऐसी संभावना ही कैसे हो सकती है ?

उत्तर—क्यों यह सँभावना नहीं हो सकती ? क्या आप, अथवा कोई देश, अपने यहाँके सेनाधिनायकको ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हैं ? हिन्दुस्तानके वाइसराय क्या हिन्दुस्थानके सबसे विवेकवान् पुरुष कहे जायँगे ? कुछ साल बाद,

जब वह वाइसराय न रहेंगे, तब क्या कोई उन्हें पूछेगा भी ? शासनकर्त्ता लोग ही क्या महापुरुष हैं ? असलमें देखा जाय, तो उस वर्गमें महापुरुषोंकी संख्या सबसे कम होती है।

आपने कहा, 'समन्वित विवेक'। पर आजकी स्टेटका विवेक 'समन्वित विवेक' नहीं है, वह औसत विवेक है। जो विवेकका बाजार-भाव है, स्टेटका विवेक लगभग उसी तलपर रहता है। मैं नहीं जानता कि क्यों बाजार-भावको अंतिम भाव माना जाय। हमें जानना चाहिए कि बाज़ारमें दर घटती-बढ़ती रहती है। जानना चाहिए कि वह क्या मूल तथ्य है जो उन मूल्योंमें परिवर्त्तन लाता है ? क्या वह तथ्य व्यक्तिकी अन्तःप्रेरणासे ही आरंभ नहीं होता ?

प्रश्न--जो व्यक्ति सबसे महान् है, वही अनिवार्यतः क्यों न स्टेटकी चोटीपर हो ?

उत्तर—अनिवार्य यह है कि वह स्टेटकी चोटीपर न हो। जिसने जीवनको सत्यकी शोधके लिए ही समझा है, वह गवर्नर होना कैसे स्वीकार कर सकता है। गवर्नर जरूरी तौरपर वह प्राणी है जो शासनके लिए थोड़ा या बहुत बाहरी बलका भी प्रयोग करता है। जो जितना महान् है, बाह्य बलका प्रयोग उसके लिए उतना ही कम संभव है। उसका बल मात्र नैतिक बल है। गवर्नर केवल नैतिक बलसे नहीं, बल्कि सेना-बलसे, यानी गवर्नरीके बलसे, भी शासन करता है। इससे यह सदाके लिए असंभव है कि सच्चा पुरुष किसी राष्ट्रका शासन-प्राप्त अधिनायक हो। राजा बड़ा नहीं होता। बड़ा वह जिसका बड़प्पन बढ़ता ही है, गिरता कभी नहीं। मौतके बाद भी वह बढ़ता है। इतिहास उसे चमका ही सकता है, धुँधला नहीं कर सकता।

प्रश्न—क्या आपका यह कथन कैसी भी उन्नतसे उन्नत स्टेटपर लागू होना चाहिए ?

उत्तर—उस स्टेटको छोड़कर जहाँ स्टेटका अनुशासन मानो धर्मानुशासन ही है। पर यह स्थिति इतिहासमें अत्यंत विरल है। यह होती है तो टिकती नहीं। मोहम्मद साहबकी खिलाफ़त ऐसी ही संस्था थी। बौद्ध आदर्शसे अनुप्राणित अशोक ऐसा ही हो चला था। पर शक्ति और धर्ममें अविरोध और ऐक्यका स्थापन इतना कठिन बना हुआ है कि उन दोनोंमें विरोध मानकर चला जाय तो विशेष हानि नहीं। धर्म वह है जहाँ व्यक्ति अपनेको दासानुदास मानता है। और वह उसकी सच्ची दासानुदासता ही दुनियाके लिए बड़प्पन बन जाती है।

और फिर, दुनिया उसके ऊपर अपना ऐश्वर्य भी लाद दे तो अचरज नहीं। लेकिन, जहाँ समझदारीकी बात-चीत करना लाज़मी हो, वहाँ हम ऐसी अनन्य घटनाओंको हिसाबमें ही क्यों लावें ?—क्यों, है न ?

प्रश्न—क्या आपका मतलब यह है कि महान् पुरुष स्टेटके दायित्वको अपने ऊपर लेना ही नहीं चाहते अथवा यह कि वह उन तक पहुँचता ही नहीं ?

उत्तर—अधिकारकी परिभाषामें वे सोच ही नहीं सकते और शासनका दायित्व अधिकारहीन होने पाता ही नहीं।

प्रश्न—अधिकार-हीन शासन होनेसे आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—'अधिकार-हीन शासन'से अभिप्राय है पूरी तरह प्रेम और धर्मका शासन। किन्तु, जहाँ प्रेम है और धर्म है, वहाँ 'शासन' शब्द ओछा मालूम होता है। फिर भी, आखिर किन्हीं शब्दोंमें तो उसे कहना होगा। इसलिए, यह कहें कि शासनहीन शासन सर्वोत्तम है। सर्वोत्तम पुरुष शासनके सर्वोच्च प्रकारसे उतरकर हीन-शासन क्यों कर स्वीकार करे ? लेकिन, जब शासन ऐसे सर्वोच्च प्रकारका हुआ, तब आप ही सोचिए कि 'स्टेट' शब्द कितनी सार्थकताके साथ तब वहाँ टिका रह सकेगा ? आप ही कहिए कि राम-राज्य भी कोई सचमुच राज्य जैसा आपको मालूम होता है ? राजनीति-शास्त्र (Political Science) में जितनी विधियाँ (' Cracies) वर्णित है उनमेंसे भला वह किस क़िस्मका है ? इसीसे उसकी चर्चा यहाँ क्या कीजिए।

प्रश्न—क्या समाजकी कैसी भी अवस्थामें किसी प्रकारकी शासन-विधि ('cracy) को महान् पुरुष आवश्यक नहीं समझते हैं ?

उत्तर—यहाँ फिर दो शब्दोंमें भेद करना होगा। आवश्यक समझें भी, पर अंतिम रूपमें उचित नहीं समझते। अर्थात्, उस शासनका संचालन वे अपने ऊपर नहीं ले सकते। हाँ, उसकी वर्त्तमान आवश्यकताको देखते हुए उसे धीर भावसे सहते तो हैं ही। वर्त्तमानकी दृष्टिसे अपरिहार्य उसे मानकर भी, भविष्यकी दृष्टिमें, उसे परिहार्य भी देखते हैं। अर्थात्, व्यावहारिक रूपमें उसे आशीर्वाद दे सकते हैं, पर तब भी उनकी आत्माके भीतर क्या बेचैनीकी आग समाप्त हो जाती है ? उनका सर्वस्व तो वह आग है। तब किस भाँति वे अपनेको किसी भी नामकी

शासन-प्रथाके साथ जोड़ दें? क्योंकि, उनकी लगन तो शासन-हीन शासनको स्थापित करनेपर लगी रहती है।

प्रश्न--आप मानते हैं कि महान् पुरुष वर्त्तमानको दृष्टिमें लेकर किसी न किसी प्रकारके शासनको आवश्यक और अपरिहार्य समझते हैं। किन्तु, इस आवश्यक कार्यको करनेके लिए स्वयं तैयार न होकर, जब कि समाजका भी उनके पीछे आग्रह हो, क्या वे किसी दूसरेसे इस कार्यके किये जानेकी आशा करते हैं? यह कहाँ तक उचित है? क्योंकि कार्य आवश्यक है, और उसका किया जाना भी।

उत्तर—क्यों, इसमें अनुचित क्या है? हाथसे मैं हाथका काम चाहूँ, तो क्या उस हाथको तर्क करनेका मौक़ा है, कि, मस्तक तो यह काम नहीं करता, मैं भी यह नहीं करूँगा।

हाँ, यह सही है कि किसीकी मर्ज़ीके खिलाफ़ अथवा कि उसके स्वभावके विरुद्ध महा-पुरुष किसीसे कोई काम नहीं लेगा। किसीको अपनी महा-पुरुषताका इतना भान है कि उसे शासन-कार्यमें अन्तःकरणसे अरुचि हो, तो बेशक किसीके कहनेसे भी वह उस काममें क्यों पड़ने लगा? लेकिन, महापुरुषता नक़ल करनेसे क्या मिल जायगी? जो इस भ्रममें पड़े हैं, वे महापुरुष तो क्या बनेंगे, स्वयं जो कुछ हैं उससे भी हाथ धो बैठेंगे।

प्रश्न—प्रश्न यह नहीं था कि महान् पुरुषकी इंकारीकी दूसरे लोग भी नकल करेंगे या नहीं। बल्कि, प्रश्न तो यह था कि जिस कामका किया जाना आवश्यक और अपरिहार्य है, फिर उसके करनेमें अनौचित्य कैसा? और तिसपर भी उस समाज-कार्यमें, जो कि कर्तव्य है, रुचिका क्या प्रश्न? इसके भी अतिरिक्त जब हम किसीको महान् कहते हैं तो हमारा मतलब यह नहीं है कि वह केवल हाथ है, या मस्तक ही है। बल्कि, उसकी महत्तामें तो समाजोपयोगिताकी उतनी ही बड़ी क्षमता है।

उत्तर—यहाँ आवश्यकसे अभिप्राय है होनहार। होनहार अपरिहार्य भी है। उचितसे आशय है, करने योग्य। होनहार सहने योग्य अवश्य है, पर वह उसी

कारण करणीय है, ऐसा नहीं। इसी आशयमें मैंने कहा कि जो आवश्यक है, अर्थात् होनहार है, उससे रुष्ट और विक्षुब्ध होकर अपनेको अक्षम बनानेका अधिकार आस्तिक जनको नहीं है। वह उसमें किंचित् सहयोग देकर भी उसके दोषोंके प्रति असहयोग भाव ही रखता है।

आपकी यह बात ठीक है कि महापुरुष मस्तक ही मस्तक नहीं है, वह हाथ भी है। ऐसा नहीं है, तो महापुरुष ही नहीं है। इसीलिए, यह सत्य है कि महापुरुष अपने समयका प्रतिनिधि होता है। उस समयकी मर्यादाएँ भी और आकांक्षाएँ भी उसमें स्वरूप पाती हैं। युगका प्रतिनिधि है, यानी उसकी त्रुटियोंका भी प्रतिनिधि है। वह काल-पुरुष (Man of Destiny) होनेके कारण एकांत भावसे किसी एक दल अथवा एक वर्गके साथ नहीं हो सकता। वर्ग अथवा दल उसके साथ लग पड़ें, यह दूसरी बात है। उधर शासन लगभग अनिवार्य रूपसे प्रधान दलके हाथमें होता है।

प्रश्न—राष्ट्र अनेक व्यक्ति एवं वर्गके एक संगठनके रूपमें यदि कोई सत्ता (entity) रखता है, तो उसे उस सत्ताके संगठित एवं सामूहिक रूपमें हित-अहितकी चिंता भी होनी चाहिए। इस चिन्ताके अनुसार उसे संगठित रूपमें ही कार्य करनेका अधिकार भी होना चाहिए। और इस प्रकार हर व्यक्तिके हित-अहितकी चिन्ता उसकी चिन्ता हो जानेसे क्या हर व्यक्तिके आचरणपर भी उसका अधिकार नहीं हो जाता?

उत्तर—प्रश्न जटिल हो गया है। वह जटिल होता ही जायगा और उसको अब उदाहरण देकर ही दर्शाना संभव हो सकता है। गूढ़ शब्दावली उसको और गूढ़ बना देती है।

अपने शरीर और व्यक्तित्वको लीजिए। आपका शरीर समझिए कि बाह्य राष्ट्र है। हाथ-पैर उसके अंगोपांग हैं। व्यक्तित्व उसी शरीरके भीतरकी अंतरंग सचाई है। हमारे ही कुछ ऐसे अंग और उपांग भी हैं जो दीखते नहीं हैं। जैसे हृदय है, मस्तिष्क है।

आपके प्रश्नका यह आशय हो जाता है कि क्या समूची देहको अधिकार नहीं है कि वह प्रत्येक अंग और उपांगको अपने अधीन माने और क्या अंग और उपांगका कर्त्तव्य नहीं है कि वह समूचे शरीरके प्रति अपनेको समर्पित समझे?

अब मैं कहूँगा कि इस प्रश्नमें भूल है। हमारा व्यक्तित्व अंगोपांगोंसे जुदा नहीं है। उनसे अलग होकर वह है ही नहीं। उन अंगोंमें फिर तरतमता भी है। कुछ कर्मेंद्रिय हैं, कुछ ज्ञानेन्द्रिय हैं। हमारा अपना-पन हमारे ही कुछ विशिष्ट अंगोपांगोंके साथ अधिक अभिन्न है, यह कहनेमें कुछ बाधा नहीं है। कहा जा सकता है कि आपके हृदयमें आपका ही व्यक्तित्व अधिक समाहित है, समूची देहमें भी उतना नहीं है।

इसी तरह कोई विशिष्ट व्यक्ति हो सकता है जिसमें राष्ट्र-चेतना मूर्त्तिमान हो गई हो, अथवा कि जो विश्व-चेतनासे परिचालित हो। ऐसी अवस्थामें मानना होगा कि लाखों आदमी एक तरफ़ और वह आदमी अकेला एक तरफ़ होकर भी राष्ट्रका विशेष सच्चा प्रतिनिधि है।

एक शब्द है 'बेताज बादशाह' (Uncrowned king)। उस शब्दमें क्या भाव है ? क्या यह पक्की तौरपर नहीं कहा जा सकता कि बेताज बादशाह ताजवाले राजासे सदा बड़ा होता है ?

क्यों ?—इस 'क्यों'में ही आपका उत्तर आ जाता है।

पुराणोंमें कथन है कि दुर्योधनने कृष्णकी अक्षौहिणी सेनाको लेना पसंद किया, अकेले कृष्णको लेना पसन्द नहीं किया। यह उसके हक़में मूर्खता ही हुई। क्यों कि संख्यामें सचाई नहीं है।

इसी भाँति एक व्यक्ति राष्ट्रसे बड़ा हो सकता है, इसको बहुत स्थूल अर्थमें न लेवें। न तो इसे बहुत वैज्ञानिक अर्थमें ही लें। क्यों कि, राष्ट्र सहस्रों मीलोंमें होता है, और व्यक्ति साढ़े तीन हाथका ही होता है। इससे उस कथनके अभिप्रायको लेना चाहिए और उस दृष्टिसे इस कथनमें तनिक भी अतिरंजन नहीं है।

प्रश्न—क्या राष्ट्र अथवा किसी भी संगठनका अपने अंगोंपर नियंत्रण रखना सर्वथा अनुचित और अनावश्यक है ?

उत्तर—सर्वथा आवश्यक है। लेकिन, उसकी आवश्यकता क्यों है, इसका ध्यान रखना चाहिए। वे अंगोपांग अपनेको सुशासित रखना सीखनेकी आवश्यकतामें हैं। वही आवश्यकता पूरी करनेके लिए बाह्य संगठन जनमता है।

व्यक्ति हैं जो समाजके अभावमें उच्छृंखल ही हो जायँगे। उनको चारों ओरसे चूँकि समाजका (—दंडका) दबाव दबाए है, इसीसे वे कुछ वाजिब तौरपर

चलते दीखते हैं । तो मैं कह सकता हूँ, और यह कहना बिल्कुल यथार्थ होगा, कि उन व्यक्तियोंकी स्वशासनकी अक्षमता ही बाहर आकर सामाजिक दंड-विधानका स्वरूप लेती है ।

सोसायटीके व्यक्ति जिस योग्य होते हैं उसकी संस्थाएँ उतनी ही योग्य होती हैं । जहाँ कानून ज्यादा है वहाँ उसको सार्थक करनेके लिए अपराध-वृत्ति भी उतनी ही है ।

प्रश्न--जब समाजका नियंत्रण आवश्यक और उचित ही है, तो क्या हर व्यक्तिका यह कर्तव्य नहीं हो जाता है कि वह उसकी अवज्ञा न करे ?

उत्तर—हाँ, अवज्ञा धर्म नहीं है। और यदि किसी विषम परिस्थितिमें अवज्ञा करनी भी पड़े, अर्थात् वैसी अवज्ञा धर्म भी हो जावे, तो भी यह शर्त है कि वह सर्वथा सविनय ही होगी ।

आग्रह यदि हो सकता है, तो सत्यधर्मके कारण ही हो सकता है और प्राणी-मात्रके लिए आग्रहके सत्याग्रह होनेकी एक अनिवार्य शर्त अहिंसामयता हो जाती है ।

ऐसा व्यक्ति किसीके प्रति बुद्धिपूर्वक विद्रोही नहीं होता । वह सबका हित चाहता है । जो सबका है, वही हित सच्चा भी हो सकता है । उस सच्चे हितको ध्यानमें लेकर हमारे माने हुए बहुतसे झूठे हितोंको (= स्वार्थोंको) वह (= सत्याग्रही) तोड़नेमें जरूर तत्पर दीखता है । इस तरह व्यवहारमें वह उग्र विद्रोही भी जान पड़े, पर भीतरसे वह स्नेही ही है ।

प्रश्न--क्या हर प्रकारका बाह्य शासन मनुष्यके चरित्र-विकासमें बाधक नहीं है और इसलिए अनुचित भी ?

उत्तर—नहीं, अधिकतर साधक है । बाह्य शासन, पहले ही कहा जा चुका है, तभीतक शासन-रूपमें टिक सकता है जबतक अन्तःशासनमें कुछ त्रुटि है । जब भीतरसे जीवन स्वावलम्बी हो आयगा तब बाह्यावलंब अनावश्यक होकर स्वयं बिखर रहेगा । अंडेका खोल तभी तक है जबतक भीतर जीवन पक नहीं पाया है । वह (– बच्चा) समर्थ बना कि खोल टूट ही जायगा । क्या हम यह कहें कि वह खोल बच्चेके बननेमें बाधक है ?

प्रश्न--किन्तु, वास्तविक विकास क्या भीतरी अभावकी

स्वाभाविक स्वानुभूतिके बिना संभव है ? क्या उसके लिए अपनी त्रुटियोंकी अनुभूति आवश्यक ही नहीं है ?

उत्तर—अवश्य आवश्यक है। त्रुटिको पहचानना तो है ही। मगर उसे दूर करना है। उसे पोसना नहीं है।

प्रश्न--किन्तु बाह्य शासनके होते हुए क्या वह स्वाभाविक स्वानुभूति संभव है ?

उत्तर—जरूर, बल्कि बाह्य अवरोधके कारण वैसी अनुभूति अनिवार्य ही हो जाती है। हमारे सपने क्यों सच नहीं हैं ? इसीसे तो कि वे बाह्यके स्पर्शपर छू हो जाते हैं। हमारी मनगढ़ंत बातें मनगढ़ंत हैं, यह बोध हमें तभी तो होता है जब उनसे दुनिया टससे मस होती नहीं दीखती। वैसा बाह्य अवरोध निरन्तर हमारी अनुभूतिको चैतन्य और जाग्रत बनाता है। बल ही और किसका नाम है ? अवरोध है, तभी तो बल आवश्यक है। वह अवरोध जितना दृढ़ होगा, उतना ही तो बलको प्रबल होना होगा। might is resistance।

आप कहेंगे, शासनको पहले साधक बताया गया, अब उसीको अवरोधक कहा गया है। हाँ, कहा तो गया है। कारण, अवरोधक होनेके द्वारा ही वह साधक होता है, क्यों कि अन्ततः हममें आत्म-चैतन्य जगाता है।

प्रश्न—क्या बाह्य जीवन स्वयं ही बिना किसी कृत्रिम अवरोधके आत्मामें समन्वयकी प्रेरणा नहीं जगाता है, और इसलिए स्व-शासनकी भावना पैदा करनेका कार्य नहीं करता है ? फिर, स्टेटके शासनकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—समन्वय तो चाहिए न ? 'चाहिए' में गर्भित है कि अभी समन्वय है नहीं। आप कहते हैं कि अगर स्टेट जैसी चीज़ भी कोई न हो और धाँधली ही हो, तो क्या यह न मानें कि ऐसी अवस्थामें मनुष्यमें और समाजमें खूब त्रास पैदा होगा, और उसके कारण समन्वय पानेकी उत्कंठा भी उतनी ही तीव्र होगी ? एक प्रकारके विचारक हैं जो ऐसा सोचते हैं। वे कहते हैं, अँधेरा खूब घना होगा तो प्रकाशको उसीमेंसे फूटना पड़ेगा। एक हदसे पार पहुँचनेपर कोई वस्तु अपने ही नाशका कारण हो जाती है। इसीसे मचने दो क्रान्ति, क्योंकि जब घमासान होगा, तब शान्तिका असह्य अभाव ही शान्तिको खींच

लायगा। वह बात झूठ न हो, पर ऐसे लोगोंको न-कारसेवी कहना चाहिए। शायद निहिलिस्ट ऐसा ही दल था।

लेकिन हममें समन्वय न हो, पर, समूचे ब्रह्मांडमें भी वह समन्वय नहीं है ऐसा माननेके लिए न गुंजायश है, न इजाज़त हो सकती है। सब मिलकर कहना होगा कि अब भी इस समूचे महाविश्वमें तो एक-स्वरता ही प्रकट हो रही है। सूरज समय पर उगता, समयपर छिपता है। इसमें तनिक भी व्यतिरेक नहीं हो पाता है। यदि वैसी एकस्वरता मानव-व्यापारोंमें हमें नहीं दीखती, तो कारण यही मानना चाहिए कि मानव-बुद्धि मर्यादित है और अहंकारके वशमें है। सब मिलकर समन्वय है ही, इस क्षण भी वही है, यह मैं कहना चाहता हूँ। धन (+), और ऋण (—) आपसमें कट-मिलकर बराबर हो जाते हैं न? वैसे ही यहाँ समझिए। अन्तःशासनमें कुछ ऋण है, तो बाह्य शासन बाहरसे जुड़कर स्थिरताको कायम रखता है। यह साम्य-संतुलन (= Equatory Balance) शाश्वत तत्त्व है। धन और ऋण सदा इस अनुपातमें रहेंगे कि परिणाम स्थिरता हो। धन अंशको, अर्थात् बाहरी शासनको, कम करना है, तो स्पष्टतया भीतरी शासनके परिमाणको बढ़ाना ही उसका उपाय है। इसलिए, अपनी न्यूनता कम करना जगत्की परिपूर्णताको बढ़ाना ही है। 'स्वराज्य'का अर्थ अपने विकारोंपर राज्य पाना है। यह नहीं है तो कैसे कहें कि वह सच्चा स्वराज्य है?

प्रश्न—व्यक्तिगत रूपसे क्या आप किसी व्यक्तिको घूँसेके जोरके नीचे अनुचित कार्यसे रोक रखनेका प्रयत्न करेंगे और समझेंगे कि वह सुधर जायगा? क्या स्टेट अपराधी-वर्गके लिए एक वैसा ही संगठित घूँसा नहीं है?

उत्तर—व्यक्तिगत रूपसे मैं पसंद नहीं करूँगा। मैं नहीं मानता कि सर्कार (स्टेट) जरूरी तौरपर वैसा बँधा हुआ घूँसा ही है या कुछ भी वह और नहीं हो सकती।

प्रश्न—जो बात आप व्यक्तिगत रूपसे पसंद नहीं करेंगे, उसे स्टेटके लिए क्यों उचित समझते हैं? वह भी तो व्यक्तियोंहीका समुदाय है। और स्टेटकी दंड-व्यवस्था अपराधी-समाजके लिए एक रूपमें घूँसा ही लगा देनेका डरावा नहीं तो और क्या है?

उत्तर—जब तक मैं जज होनेसे बच सकता हूँ, तब तक किसीको जेल भेजनेकी लाचारीसे भी बचा हुआ हूँ। क्या आप सबको ऐसा देखना चाहते हैं कि हज़ारों रुपये मासिक आमदनीके साथ मिलनेवाली जजीकी कुर्सी और जजीके ओहदेको वे न-कुछके लिए छोड़ दें? आप न चाहें, पर मैं अलबत्तह ऐसा चाहता हूँ। पर वैसा दिन देखना किसके नसीबमें है? जब तक मुझपर जजीका बोझ नहीं है, तब तक मैं अगर जेलखानोंके खिलाफ रहूँ तो इसमें क्या बाधा उपस्थित होती है? बाधा तो तब हो जब कोई जज होकर दंड देनेसे जी चुराये।

यहाँ फिर उन्हीं दो शब्दोंके अन्तरको याद रखना होगा: आवश्यक और उचित। जो होनहार है, अपरिहार्य है, उसीपर औचित्यकी समाप्ति नहीं है। होनहारका विरोध जैसे मूर्खता है, वैसे ही उसके आगे आदर्शकी अभिलाष न रखना भी एक मूर्खता ही है। वह आदर्श आगे भविष्यमें रहता है। वर्त्तमानको भविष्यकी ओर प्रगति करनी है कि नहीं? इससे वर्त्तमान स्वीकार तो अवश्य होना चाहिए, पर औचित्य (यानी भविष्य) भी उसमें बंद है, ऐसा कैसे माना जा सकता है?

हाँ, अपराधीके लिए स्टेट आतंक स्वरूप ही है। वैसे ही जैसे कि पापीको ईश्वरका आतंक मालूम हो सकता है। इसके यह माने नहीं कि आतंकको ईश्वरका गुण माना जाय अथवा यह कि आतंक उसका स्वभाव है। बल्कि, इसका तो यह अर्थ लगाना चाहिए कि अपराधीके भीतरकी अपराध-वृत्ति ही वैसे आतंक-बोधकी मूल कारण है। साँचको जगमें आँच कहाँ है? इससे, अगर आगमें झुलसानेकी शक्ति है, तो उसे भी दुर्गुण हम क्यों समझें? क्योंकि जो साँच नहीं है, उसीको तो आग झुलसा सकती है। इसलिए, अगर स्टेट सदोष वस्तु भी है, तो दोषीको ही वह दोष छुएगा। निर्दोष व्यक्ति स्टेटके दोषको भी मानों हर लेता है।

प्रश्न—आपने कहा है कि आजके जैसे समाजमें किसी स्टेट या शासनके न होनेसे धाँधली मचेगी। तो इससे, आप शासनको वर्तमानके लिए उचित समझते हैं, ऐसा अर्थ नहीं निकलता? और क्या इससे सहयोग करनेको आप तैयार नहीं होंगे?

उत्तर—फिर वही उचित और आवश्यक शब्दोंमें वज़न करनेकी मैं सलाह

दूँगा। स्टेट-यन्त्र टूट जाय तो आज तो उससे अलाभ ही होनेवाला है। लेकिन, मैंने कहा कि समाजकी वैसी अवस्था की भी मैं कल्पना कर सकता हूँ जब स्टेटका यन्त्र अपना सब लाभ दे चुका होगा और जब वह अपने आपमें नहीं, बल्कि अपने फलके रूपमें, यानी इतिहासमें ही, वह जिंदा रहेगा। आजकी कली कल फूल हो जाती है, वह फूल फिर परसों फल हो जाता है। फलकी इच्छासे मैं अधीर होकर कलीसे नाराज़ नहीं हो सकता।—फलकी तृष्णामें कलीको नोंचना अपनेको फलसे वंचित कर लेना है। अब पूछा जा सकता है कि उचित क्या है? कली उचित है, कि फूल उचित है, कि फल उचित है? देखा जा सकता है कि असलमें उचित तो विकसित होते रहना है। कोई अवस्था अपने आपमें उचित अथवा अनुचित नहीं है।

इसलिए, जब औचित्यका प्रश्न है तब उचित उसीको ठहराना होगा जो वर्त्तमान अवस्थाको विकासकी ओर ले जाए। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि स्टेट नामक संस्थामें बहुत कुछ है जो आवश्यक है, अर्थात् ठीक आजके दिन उससे छुट्टी नहीं पाई जा सकती। फिर भी, जो कुछ आज है, उस सबके साथ मेरा निरपवाद सहयोग आवश्यक रूपमें आनेवाले कलके प्रति मेरी अनास्था अर्थात् आदर्श-हीनताका द्योतक होगा। अगर कलपर मैं विश्वास न रक्खूँ, और आजके आजको ही बस मान बैठूँ, तब तो जीवनका अर्थ ही लुप्त हो जायगा। जीवनमें अर्थ तभी तक शेष है जब तक हम वर्त्तमानको सम्पूर्ण नहीं मानते और भविष्यके प्रति भी अपना नाता समझते हैं। इसीमें यह गर्भित है कि वर्त्तमानके दोषोंसे हमें असहयोग करना होगा जिससे कि उसकी भविष्योन्मुख प्रगतिमें हमारा उतना ही कटिबद्ध सहयोग हो सके।

६—व्यक्ति और समाज

प्रश्न—समाजकी मर्यादाओंसे आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—समाजको यहाँ हम किसी सूक्ष्म भावमें न लें। वैसे समाज उस जन-समूहको कह सकते हैं जिसमें कोई संस्कृतिकी अथवा किसी और प्रकारकी एकता व्याप्त है। इस तरह मानवतामें कई समाज हैं। एक व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी मर्यादा क्या है?—स्पष्टतः वह मर्यादा दूसरा व्यक्ति है। इसी तरह, एक समाजके अधिकारोंकी मर्यादा वहीं आ जाती है जहाँसे दूसरे पड़ोसी समाजके अधिकारोंपर दबाव पड़ना आरम्भ होता है।

इस परिभाषामें देखें तो एककी स्वतंत्रता सदा दूसरेकी सत्तासे मर्यादित है। उस अर्थमें स्वतंत्रता कोई चीज ही नहीं रहती। पूर्ण स्वतंत्रता केवल उद्दंडता है।

इसका आशय यह कि अधिकार जहाँ तक कर्त्तव्यके साथ चले, वहीं तक जायज़ है। नहीं तो अधिकार अपने आपमें कोई भी चीज़ नहीं है, वह कोरा अहंकार है।

मैं अपने घरमें स्वतंत्र हूँ, इसका यही मतलब है कि दूसरे घरवाला मुझे टोक नहीं सकेगा। लेकिन, अपने घरमें स्वतंत्र होनेका मतलब यह कभी नहीं है कि मैं अपने घरको गलीज़ रख सकता हूँ। एक हदसे ज़्यादह मेरे घरकी ग़लाज़त बढ़ी कि पड़ोसके घरवालेका मेरे प्रति अधिकार बढ़ जायगा और जरूर वह उस बारेमें मुझे टोक सकेगा। क्यों कि, रहनेके लिए हमारे घर दो हैं, पर साँस लेनेके लिए वायु तो एक है। जितना मैं कर्त्तव्य-पालन करता हूँ, उतना ही मेरा अधिकार बढ़ता जाता है। मेरी मर्यादाएँ उतनी ही क्षीण होकर व्यापक होती जाती हैं।

अन्तमें मर्यादाओंकी निश्चितिके बारेमें यही तत्त्व निर्णायक हो सकता है। एक व्यक्तिकी सीमा दूसरा व्यक्ति है और एक समाजकी सीमा दूसरा समाज है। वे सीमा अधिकारोंकी हैं, प्रेम-व्यवहारकी वे सीमाएँ नहीं हैं।

आज भी हमारी दुनियाके राजनीतिक नक़शेमें यद्यपि देश और विदेशमें

अन्तर है, लेकिन कोई आदमी अगर राजकारणसे बिलकुल अछूता हो, मान लीजिए कि मंगल ग्रहका वासी ही कोई हमारे बीचमें उतर आया हो, तो उसे, चाहे वह कितना ही घूमे, देशकी सीमा और विदेशकी सीमा कहीं भी दिखाई नहीं देगी। यों भी, क्या डाक-तार आज भी सब देशोंको एक और इकट्ठा नहीं बनाये हुए हैं? अतः, जहाँ मेल है वहाँ सीमाका प्रश्न ही नहीं उठता। मेलकी मर्यादा किसने बाँधी है? मर्यादाएँ लड़ाईकी अपेक्षासे, यानी उसकी आशंकाके कारण, बनती और बनानी होती हैं।

समाजकी मर्यादाका प्रश्न इसी अपेक्षासे संभव बनता है। तब मैं कहूँगा कि दूसरे समाजके अहित-चिन्तनमें भी एक समाज अपनी मर्यादाओंका उल्लंघन करता है। लड़ाई ठानना बेशक मर्यादाको तोड़ना है। लेकिन, भयके मारे लड़ना तो नहीं, परन्तु दबकर बैठ जाना और मनमें दुर्भावनाएँ रखना, यह भी मर्यादाका उल्लंघन है। आदर्श मर्यादित नहीं है, पर कर्त्तव्यनिष्ठा जितनी एकमें है, वहीं तक उसके अधिकारोंकी मर्यादा है।

प्रश्न--कर्तव्य मर्यादित नहीं है, पर कर्तव्य-निष्ठा जितनी एकमें है, वहीं तक उसके अधिकारोंकी मर्यादा है, क्या इस बातको कुछ स्पष्ट कर कह सकेंगे?

उत्तर—हाँ हाँ। मुझे अधिकार है कि मैं हरेकके दुःखको बँटानेकी इच्छा करूँ। दूसरेके दुःखमें साझी होना मेरा कर्त्तव्य है।

अब, दूसरोंके दुःखोंमें सचमुच जितना मैं साझी हो जाता हूँ, उनके प्रति क्या उतना ही मेरा अधिकार नहीं हो जाता?

उदाहरण लीजिए। अनजाने किसीके मकानमें घुसना मेरे लिए निषिद्ध ही है। लेकिन, मानिए कि रात-भर मैं पड़ौसमें बच्चेका कराहना सुनता रहा हूँ। सबेरे मैं बेधड़क उस घरमें पहुँचता हूँ। बच्चेकी तबियत पूछता हूँ, दवाई आदिकी व्यवस्था करता हूँ। अब यह साफ़ है कि अगर मैं सच्ची सहानुभूतिसे प्रेरित हूँ तो अपरिचित मकानमें घुसनेका अधिकार भी मेरा माना जा सकता है। चाहे बच्चेका पिता अनुपस्थित हो, और माता वहाँ अकेली ही हो, और चाहे सामान्य प्रचलित सामाजिकता इसमें दोष देखनेको भी उतारू हो जाय, फिर भी पराये घरमें मेरा वह प्रवेश अनधिकृत नहीं कहा जा सकेगा।

ऊपरके उदाहरणसे प्रकट है कि कर्त्तव्यकी निष्ठा अपरिचित गृह प्रवेशके बारेमें मेरे अधिकारकी मर्यादाको बढ़ा देती है। वह निष्ठा जितनी हो, अधिकार भी उतना ही हो जायगा।

इसके बाद, यह प्रश्न कि कर्त्तव्य किस भाँति अमर्यादित है, उलझन नहीं उपस्थित कर सकता। मैं जब तक समस्तसे ऐक्य न पालूँ, तब तक चैन भी कहाँ पा सकता हूँ ? जिसने वैसा ऐक्य पाया, उसमें कौन अधिकार समानेसे बच गया। प्रेमका अधिकार मर्यादित नहीं किया जा सकता, प्रेम कर्त्तव्य है। जहाँ फलकी चाहना है, उस प्रेममें अप्रेम भी है। इसलिए मर्यादा है भी, तो उसी प्रकारके वासना-मय प्रेमके लिए वह है। जो प्रेमकी पीड़ामेंसे निकलता है वह कर्म अनधिकृत कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—अधिकार-भावना क्या स्वाभाविक है ?

उत्तर—हाँ, स्वाभाविक मान लेनी होगी। लेकिन, हितकर वहीं तक है जहाँ तक कर्त्तव्य पूर्तिमें वह काम आती है। वैसे अधिकार अपने आपमें तो कोई वस्तु ही नहीं।

प्रश्न—कर्त्तव्य-पूर्तिमें अधिकार-भावना क्यों कर काम आती है ?

उत्तर—मैं अपने पुत्रका पिता हूँ। उसकी देख-भालका, पालन-पोषणका, शिक्षा-दीक्षाका पहला कर्त्तव्य मुझपर आता है। इससे यह मेरे अधिकारके अन्तर्गत है कि मैं इस बारेमें निर्णय करूँ। जब तक पुत्र स्वयं निर्णय करने योग्य हो, तब तक उसके लिए निर्णय करके देनेका अधिकार मेरा हो जाता है कि नहीं ? मैं उसे कई बातोंका वर्जन कर सकता हूँ, किन्हीं और बातोंका आदेश दे सकता हूँ। यह मेरे कर्त्तव्य-गत अधिकारका एक उदाहरण हुआ। ऐसे ही अन्य समझे जा सकते हैं।

प्रश्न—कर्त्तव्यको छोड़कर, संसारकी संपत्ति जैसी वस्तुओंके प्रति जो अधिकार-भावना है, क्या वह भी किसी हद तक वांछनीय है ?

उत्तर—कर्त्तव्य-भावनासे अलग होकर कोई अधिकारका मद वाछनीय नहीं है। लेकिन, कर्त्तव्यपूर्वक हम धन-संपत्ति भी क्यों अपने पास नहीं रहने दे सकते ? मुझे कोई सभा खज़ानची चुने और अपना कोष मुझे सौंप दे, तो क्या

मैं उसके कोषको संभाल कर रखनेसे डर जाऊँ ? सभाके ख़ज़ानचीकी हैसियतसे उस कोषपर अपना एक प्रकारका अधिकार भी मानकर मुझे चलना होगा, ऐसा न करनेसे मैं ख़जानचीके दायित्वसे च्युत हो जाऊँगा। हाँ, निजमें मेरा कुछ भी नहीं है, यह तो सिद्ध ही है। यहाँ तक कि यह शरीर भी शुद्ध 'मैं' नहीं हूँ। आत्मा भी क्या कोई मेरी अपनी है ? क्यों कि जीवात्मा परमात्माका अंश ही है। लेकिन, वह तो भावनाकी और तत्त्वकी बात हो गई। प्रयोजनीय भाषाकी तो यही पद्धति होगी कि जो धन मेरे तहतमें है, वह मेरा समझा जाय। इसीलिए 'प्राइवेट प्रापर्टी' का समूलोन्मूलन नहीं हो सकेगा, क्यों कि प्रापर्टी (=सम्पत्ति) स्वयं नष्ट नहीं हो सकती। जो हो सकेगा वह इतना ही कि व्यक्ति उसे अपना मानकर भी एक धरोहर माने। इससे अधिक और चाहिए भी क्या ? त्याग और निर्मोह कोई स्थूल कर्म नहीं है। वह तो वृत्तिमें होने योग्य हैं। नहीं तो, पदार्थोंके प्रति अस्पृश्यताका भाव बना लेनेसे व्यक्ति अक्षम ही बनता है।

प्रश्न—जब मैं जानता हूँ कि इस पृथ्वीके तलपर मेरा भी कोई स्थान है तो मैं किसी भी वस्तुको क्यों नहीं कह सकता कि वह मेरी ही है और उसे मन चाहे जिस प्रकार खर्च करूँ ?

उत्तर—अगर आप कह सकते हैं, तो दूसरा भी क्यों नहीं कह सकता ? और अगर पदार्थोंके बारेमें यह कहा जा सकता है तो व्यक्तियोंको लेकर क्यों नहीं कहा जा सकता ? यानी, क्या कारण है कि कोई आपको अपना गुलाम न बना ले ? उस गुलामके स्थानसे आपको क्या वह तर्क ठीक लगेगा जिससे आप गुलाम बना लिये गये ? अगर तब वह ठीक नहीं है, तो और भी किसी अवस्थामें वह ठीक नहीं है। अमुक (वस्तु) 'मेरी' ही हो, इसमें जरूरी तौरपर यह अर्थ है कि दूसरेकी नजर भी उसे छूने न पाये। यह दुर्भावना ही तो हुई। वैसी दुर्भावना मनुष्यके अंदर गहरी पैठी हुई है, यह मानकर भी उसे बढ़ावा तो हम नहीं दे सकते।

प्रश्न—तो क्या आप विश्वास करते हैं कि मनुष्य स्वयंमें सत्ता होते हुए भी समझे कि वह कुछ नहीं है और उसका कुछ नहीं है। यहाँ तक कि उस देहके लिए थोड़ेसे आकाशका भी वह

स्वत्त्वाधिकारी नहीं है? और ऐसा करनेके लिए, भावनाके अतिरिक्त, क्या समझ भी उसकी काम दे सकती है?

उत्तर—अभ्यास-क्रमसे, हाँ, समझ भी इसमें श्रद्धाकी सहायता देने लगेगी। लेकिन, इसमें सिद्धि पानेका काम एक जन्मका तो है नहीं। इसमें जन्म-जन्मांतर भी थोड़े हैं।

प्रश्न—लेकिन, ऐसी श्रद्धाके अथवा समझहीके लिए क्या कारण हो सकता है, यह भी तो समझाइए?

उत्तर—बिना उसके जिसका काम चल सके, वह भाग्यवान् जीव है। इससे अधिक भला मैं क्या कहूँ? ऐसे सौभाग्यशाली जीवको बेशक जरूरत नहीं है कि वह किसी तरहकी श्रद्धाको पास फटकने दे। लेकिन ऐसा वह आदमी है कौन जिसे न श्रद्धाकी जरूरत है, न समझकी ज़रूरत है? अगर एक ज़र्रा भी उसमें समझ है, तो वही काफ़ी है कि उसे बेचैन बना दें और बेचैनीको बिना श्रद्धाके सहारे आदमी और कैसे सहन कर सकता है, मैं नहीं जानता।

प्रश्न—स्वाभाविक और सामान्य तौरपर देखा जाता है कि मनुष्य यही समझते हैं कि वे हैं और उनकी कुछ वस्तुए भी हैं। उनका काम आपकी उस श्रद्धा और समझके बिना तनिक भी अटकता नहीं दीखता।

उत्तर—मेरी श्रद्धा और मेरी समझसे तो बेशक़ उनका रत्ती-भर काम नहीं सरेगा, क्यों कि वह उनकी तो है नहीं। लेकिन, यह माननेका कोई कारण नहीं है कि उनके पास अपनी भी समझ और अपनी श्रद्धा नहीं है। अपनी समझके मुताबिक़ ही कोई कुछ मानता है तो वह मान सकता है। उसका अस्तित्व ही उन्हीं मान्यताओंपर संभव बनता है। लेकिन, यह तो हम देखते हैं कि किसीको दुख कम व्यापता है, किसीको ज्यादह व्यापता है। मुझको यदि दुःख ज्यादा व्यापता है तो मैं अपनेको काफ़ी समझदार समझनेका हक़ नहीं रखता। चीज़ोंको बहुत अपनी मानने लगनेसे वे दुखका कारण होती हैं। इसीलिए, इस प्रतीतिकी जरूरत कही गई है कि वस्तुएँ किसीकी अपनी नहीं हो सकतीं, कि वे किसीकी अपनी नहीं हैं।

प्रश्न—क्या इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि जो चीज़ें

आज हमारे पास हैं, कल अगर वे नहीं होंगी तो हमें दुख उठाना पड़ेगा। और इसलिए केवल उस दुखसे बचनेके लिए हम समझें कि वे हमारे पास होकर भी हमारी नहीं हैं। किन्तु, क्या इस तरहसे हम उस सुखसे भी वंचित नहीं हो जाते हैं जो हमें उन्हें अपने पास समझनेमें होता है? और इसलिए हम क्यों न उन्हें, जब तक भी वे हमारे पास हैं, अपना समझें और साथ ही उनसे वंचित होनेके लिए तैयार रहें?

उत्तर—जो अपना समझकर सहर्ष चीज़ोंसे वंचित होनेको तैयार रहता है, वह तो मेरी ही परिभाषाका प्राणी हो गया। यानी, वह उपयोगके नाते वस्तुको अपनी समझ लेता है, फिर भी, न उसे अपनेसे चिपटाता है, न स्वयं चिपटता है। हमें जब प्यास लगे पानी पीलें। लेकिन, यह तो समझदारी नहीं है कि इसके लिए एक झीलपर नाकेबंदी बैठा दें और किसी दूसरेको पानी लेने उसके पास भी न फटकने दें और कहें कि वाह, हमको पानीकी जरूरत है, इसलिए हम किसीको इसमेंसे पानी नहीं लेने देंगे। हविस और भी बढ़ जाय, तो यहाँ तक संभव हो सकता है कि उस झीलका पानी वह कृपण आदमी न स्वयं बरते, न किसीको लेने दे; और उस झीलकी चौकसीमें ही दुबला होता चला जाय। इससे यह भी दीख सकता है, कि चीज़ोंसे मिल सकनेवाले आनन्दको, उन्हें अत्यधिक अपना मान लेनेसे, हम स्वयं ही कम कर लेते हैं। अतः, सच्चा भोगी भी वह नहीं है जो भोगमें तृष्णा रखता है। क्योंकि, उसे तो तृष्णाकी चाट ही मार डालती है, भोगका आनन्द मिल भी नहीं पाता। इसीसे तो उपनिषद्कारने कहा, 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'। यानी, त्याग-भाव द्वारा भोग्यको भोगो।

प्रश्न—ऊपर आपने नाकेबन्दीकी बात कही और बतलाया कि उसमें मोह है। लेकिन, उस नाकेबंदीका कारण मोह न होकर क्या लोगोंकी चिंता ही नहीं है जो उन्हें भविष्यकी अनिश्चयात्मकताको सोचकर अपनी और अपनी भावी संतानकी सुरक्षाके लिये करनी पड़ती है।

उत्तर—अरे तो भाई, मोह और किस बलाका नाम है? जैसे भविष्य हमसे ही बनेगा! अपने अतीतकी तरफ़ देखकर क्या सचमुच कोई छाती ठोक-

कर कह सकता है कि अपने वर्त्तमानका कर्त्ता सम्पूर्णतासे वही है ? और छाती ठोककर जो यह कहेगा भी, उसका वर्त्तमान शायद किसीकी भी ईर्ष्याका कारण न हो सकेगा, क्योंकि वह चहुँ ओर मूर्ख समझा जायगा। आदमी है, तब उसकी परिस्थितियां भी तो हैं। आदमीको बनाने और बनाते रहनेमें क्या चहुँ ओरकी परिस्थितियोंका कुछ भी महत्त्व नहीं है ? मनसूबे किसके मनमें नहीं होते, लेकिन आ जाता है भूचाल और हज़ारों वहींके वहीं सो रहते हैं। फिर भी जो मंसूबे बांधता है, और अपने भीतरके संशयसे अपनी रक्षा करनेके लिए बाहर जाला फैला घेरा-सा डालकर बैठता है, उसकी अक्लके लिये मुझसे धन्यवाद मत माँगिए। अपने भीतरके संशयका गड्ढा किसी बाहरी नाकेबंदीसे भरनेवाला नहीं है। अपनी हवेलीके बाहर लठैत चौकीदार रख देनेसे क्या भयसे हम मुक्त हो जाते हैं ? इससे फिर कहता हूँ, कि सच्ची बात तो श्रद्धा है।

प्रश्न—किसी वस्तुके प्रति मोह या ममता तो मेरी समझमें उस चीज़के प्रति लगाव बनाये रखनेकी चाह ही है, वह उसकी आवश्यकताको मानकर उसे रखनेमें नहीं है। दूसरे, आपने भविष्य और उसके चान्स जैसी चीज़की बात जो कही, उसे मानकर भी मनुष्य हाथपर हाथ रखकर बैठ नहीं सकता। उससे तो जो कुछ बनेगा, करेगा ही। वह कर्म क्या फल लाता है, यह दूसरी बात है। किन्तु, उसके करनेसे आप कैसे इन्कार कर सकते हैं ? और क्या आप ही अपने घर आज खाकर, कल और परसोंका भी प्रबंध नहीं रखते हैं ?

उत्तर—यह बात ठीक है। मैं आज खाता हूँ, कलका भी प्रबन्ध रखता हूँ। लेकिन, इसके लिए मैं अपनी तारीफ़ नहीं कर सकता। कलका, परसोंका, बालकोंका, नाती-पोतोंका, युग-युगान्तरका ध्यान रखकर उसकी व्यवस्थाकी मैं सोचूँ, तो वह दूर-दृष्टि नहीं कहलायगी, वह मोह-दृष्टि कहलायगी। मोहदृष्टि इसलिए, कि इस सब शृंखलामें मैं अपना ही अपना विचार करता हूँ, अपनेसे परके प्रति उसमें जरूरी तौरपर अविचार आ मिलता है। अपने भविष्यकी चिंता रखकर क्या मैं दूसरोंके वर्त्तमानको उजाड़ने नहीं चल पड़ता ? तब यह मोह नहीं, तो क्या है ?

भविष्यकी आकस्मिकताकी बातको इसलिये नहीं कहा कि निष्क्रियता फैले।

यह तो ठीक मेरे अभिप्रायके विरुद्ध है। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि व्यक्ति अपनेको भाग्यके साथ इतना मिला दे कि वह अपने ही नहीं, समूचे भविष्यका कर्त्ता तक हो जाय, Man of Destiny यानी वह मनुष्य हो जाय जो स्वयं भाग्य है। क्या ऐसा आदमी कर्महीन हो सकता है? लेकिन, ऐसे आदमीको एक बहुत हद तक निष्काम तो होना ही पड़ेगा। यानी, उसे अपनी इच्छाओंको इस भाँति साधना होगा कि जो होनहार है, उसके साथ इच्छाएँ एकम-एक हो रहें।

यह कहाँकी बात है कि भविष्यकी सत्ताको अपने हाथमें न माननेसे व्यक्तिको कर्महीन मानना पड़ेगा। जो भाग्यहीन हैं, वे ही कर्म-हीन होते हैं। जिन्होंने अपनी सत्ताकी पृथकताको ही खो दिया है, उन-सा कर्मशाली जगतमें दूसरा कोई हो भी सकता है?

प्रश्न—आपके विचारसे कर्तव्यहीका अधिकार मनुष्यको रखना चाहिए और उसीकी इसलिए रक्षा भी करनी चाहिये। शेष उसे कुछ न रखना चाहिए। लेकिन, क्या जीवन कर्तव्य करते रहना ही है, संसारकी विभूतियोंके उपभोगके लिए बिल्कुल भी नहीं?

उत्तर—हाँ, एक तरहसे भोगके लिए संसार नहीं है। पर, कर्त्तव्य स्वयं ही क्या उपभोग्य नहीं है? कर्त्तव्य कर्म करनेके बाद जो आनन्द व्यक्तिको प्राप्त होता है, वैषयिक तृप्ति उसकी समता कर सकती है? इसलिए, यह कहा जा सकता है कि भोग भी कर्त्तव्यमें ही समाया हुआ है। नहीं तो, विवेक-हीन होकर भोग तो दुःख ही पैदा करता है।

७–कर्त्तव्य-भावना और मनोवासना

प्रश्न—लेकिन, कर्तव्य यदि मनुष्यके स्वभावकी चीज़ बन जाय, उसमें उसकी दिलचस्पीका सवाल ही न रहे, तब मनुष्य अपना आनन्द कहाँ ढूँढेगा ?

उत्तर—वाह, तब क्या आनन्द ढूँढ़ने जितना भी दूर रह जायगा ? जिस व्यक्तिके लिये कर्त्तव्य कर्म ही सहज कर्म हो गया है, उसे तो स्वयं आनन्द हो गया समझिए। वह तब आनन्दकी ज़रूरतमें नहीं रहेगा, बल्कि आनन्द देनेकी ज़रूरत उसमें हो आयेगी। यानी, तब लोग उसमें और उससे आनंद पायेंगे।

प्रश्न—मेरे प्रश्नका अभिप्राय यह था कि जो बात हमारे स्वभावमें आ जाती है, वह हमारे प्रयत्नका लक्ष्य या विषय नहीं रह जाती। यानी, तब प्रयत्न (Pursuing) और उसका लक्ष्य (Object) दोनों खत्म हो जाते हैं। किन्तु, क्या प्रयत्नके बिना, Effort के बिना, जीवन और जीवनका आनंद संभव है ?

उत्तर—हमारा ध्येय (Objective in pursuit) क्या है ? क्या उसे हम आत्म-लाभसे भिन्न कह सकते हैं ? मैं समझता हूँ, उसे आत्म-लाभ ही कह सकते हैं,—वह आत्म-लाभ जो कि परमात्म-लाभ भी है। यानी, अपने सच्चे स्वरूपको पानेके लिये हम जी रहे हैं। मरेंगे, लेकिन उसी हेतुसे फिर जियेंगे। जब तक अपना शुद्ध स्वत्व न पा लें, तब तक मौतको भी छुट्टी हम नहीं दे सकेंगे।

शुद्ध स्वत्व चिन्मय है, आनन्दमय भी है। जब हमने अपने ही स्वभावको पा लिया और कोई विकार शेष नहीं रह गया, तब आनन्द भी हमसे इतना दूर नहीं रह सकता कि उसे खोजकर पाना हो।

कर्त्तव्य जहाँ सहज हो गया है, वहाँ वह हेतु ही अनुपस्थित है जो आनन्दमें बाधा-स्वरूप होता है। बाधा हटी, कि फिर आनंदके अभावका प्रश्न ही मिट गया।

लेकिन, यह स्थिति आपने क्या इतनी सुगम समझ ली है कि जल्दी ही प्राप्त हो जायगी ? यह तो पूर्ण सिद्धिकी स्थिति है। जहाँ कर्ममें काम्य और अकाम्य,

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, इस विभेदकी आवश्यकता ही नहीं रह गई है, उस स्थितिको ब्राह्मी स्थिति कहना चाहिये। वहाँ फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय एक ही हो जाते हैं। Pursuit शब्दका व्यवहार कर सकें इतना अंतर भी तब ध्याता और ध्येयमें नहीं रहता,—यानी खंड पूर्णताको प्राप्त होता है।

प्रश्न—तो आपके विचारसे शुद्ध आनन्द किसी बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, सहज होता है। किन्तु हमारी आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा आदिको जो विभिन्न विषयोंसे आनंद प्राप्त होता है, क्या वह सब झूठा है?

उत्तर—हाँ, झूठा है। इन्द्रिय-विषय तो झूठा ही है, किन्तु उसके भीतर जो अनिवार्य रूपमें एक अतीन्द्रियता भी रहती है, वह ही उसको सत्य बनाती है। हरेक भोगमें उत्सर्ग अनिवार्य है। भोगका सत्य वह उत्सर्ग ही है। उत्सर्ग अतीन्द्रिय है। इसका मतलब यह नहीं कि साधकसे सिद्धकी स्थिति तक पहुँचते हुए प्राणीकी इन्द्रियाँ जड़ होती जावेंगीं, पर वे अपने विषयोंमें लोभ नहीं रक्खेंगीं। आँखमें जब मद चढ़ जाता है, तो क्या आँखकी अनुभूति-शक्ति उस समय तीव्र हो जाती है? नहीं, वह मंद ही होती है। इसी भाँति इन्द्रियाँ अनासक्त स्थितिमें अधिक जाग्रत, अधिक प्रवृत्त, और अधिक आनंदग्राही होंगीं। केवल अंतर यह रहेगा कि आनन्द किसी अथवा किन्हीं इन्द्रियोंका विषय न होकर मानो आत्म-भोग्य होगा।

इन्द्रिय-विषयोंके लिए तो बाह्य वस्तुकी अपेक्षा होती ही है, किन्तु इन्द्रियातीत आनंदके लिए, कहा जा सकता है कि, वैसी अपेक्षा नहीं होगी। यह साधारण भाषामें कहा जा सकता है, किन्तु वैज्ञानिक सत्यता इस कथनसे स्पष्ट नहीं होती। वह वैज्ञानिक सत्यता तो यह है कि ऐसे आनन्दके समय खंडको समूचे बाह्यका ही युगपत् स्पर्श मिल रहा होता है।

सच्ची भक्तिका आनन्द कोई hallucination जैसा आत्म-विकार नहीं है। वह तो खंडमें समस्तकी स्पर्शानुभूतिसे पैदा हुआ पुलक है। वह मानव-चेतना-गम्य सबसे गंभीर अनुभूति है।

इस स्थलपर वही अपने स्वयंसिद्ध प्रतिपाद्यको (hypothesis को) हम दुहरा लें। वह यही तो था और है कि मैं अलग नहीं हूँ, कोई भी अलग नहीं है, सचाईमें सब एक हैं। इसलिये किसीसे अनपेक्षित होकर आनन्दकी

पूर्णता भी नहीं हो सकती है। वह पूर्णता तो समस्तके साथ ऐक्योपलब्धिमें ही है।

लेकिन बस, इससे आगे बढ़ना अथाहमें डूबना है। इससे यह चर्चा यहीं रोकें।

प्रश्न—(१) क्या आनन्द एक प्रकारकी अनुभूति ही नहीं है?

(२) क्या अनुभूतिके बिना भी आनन्द जैसा भाव संभव है?

(३) क्या बाह्य वस्तुके स्पर्शके बिना कोई अनुभूति हो सकती है?

(४) क्या उस दशामें वह जड़ता ही नहीं कही जा सकती?

(५) हम भर-नींद सोते हैं, अथवा जगते हैं, जगनेमें रोते हैं या प्रसन्न होते हैं,—इन अवस्थाओंमेंसे आप किसे पसन्द करेंगे?

(६) आप बूढा होना पसन्द करेंगे, कि जवान?—बूढा, तो फिर मौत ही क्यों न? और जवान, तो वह किस लिये?

उत्तर—यह प्रश्नोंकी बौछार हो गई। खैर, एक-एकको लें।

(१) आनन्द अनुभूति है।

(२) जवाब ऊपर आ गया।

(३) बाह्य वस्तुके स्पर्शका अत्यन्ताभाव किसी समय भी संभव है, यह मानना ही ग़लत है। इसलिये यहाँ 'बाह्य स्पर्श'से मतलब स्थूल स्पर्शसे हो सकता है। हाँ, वैसे बाह्य स्थूल स्पर्शके बिना अनुभूति हो सकती है, और प्रतिक्षण होती है। गुणका स्पर्श नहीं होता, पर अनुभूति गुणकी होती है,—ऐसा क्यों? हमारी सब धारणायें (concepts) अनुमान (Inference) हैं। अपने आपमें इनकी सत्ता नहीं साबित की जा सकती। इसलिये जिसको हमने 'बाह्य' कहा और जिसको हम 'अन्तस्' कहें, वे दोनों इतने एक हैं कि उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कभी भी शांत नहीं होती।

(४) अनुभूतिहीनता जड़ता है। पर यह उस अवस्थापर लागू नहीं हो सकती।

(५) मैं किसी एक अवस्थाको क्यों पसन्द करूँगा? फिर समयका सूक्ष्मतम विभाग मानिये कि हमारे पास सेकिंड है, लेकिन उस सेकिंडमें ही एक

पदार्थकी जाने कितनी स्थितियाँ नहीं बदल जातीं। किसी एक स्थितिको किसी समयखंडमें जड़ देना असंभव-प्राय है। इससे एक सूत्रकारने कहा है— 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—अर्थात् होना होते रहना है, Being is Becoming। प्रत्येक स्थितिमें बनना और बिगड़ना शामिल है। इसलिये परिणमनके (Becoming के) किसी एक रूपको लेकर उसे दूसरेपर तरजीह देना, किसी प्रयोजनसे हो तो हो,—अपने आपमें सही नहीं है। मुझे अगर जागरण पसंद है, तो कुछ काल बाद बिना नींद लिए वह जागरण असंभव हो जायगा। इस भाँति, जागरणकी पसंदगीके रास्तेमें ही नींदको पसन्द करना मुझे सीख लेना होगा। नहीं तो, रातको यदि मैं सो न लूँ, तो, कितने दिन मैं जागता रह सकता हूँ ? इसलिये यदि बहुत दिन जगते रहना चाहता हूँ, तो उचित है कि बीच-बीचमें सो भी जरूर लिया करूँ। इस दृष्टिसे किसी दूसरीकी अपेक्षा किसी एक स्थितिको पसंद करनेका प्रश्न विशेष महत्त्व-पूर्ण रहता ही नहीं।

(६) बुढ़ापेमें वैसे और जवानीके दिनोंमें जवानकी तरह रह सकूँ, यह मैं पसंद करूँगा।

प्रश्न—आपने जो कुछ ऊपर कहा, ठीक है। किन्तु, मेरे प्रश्नका अभिप्राय तो आत्माकी स्वयंसिद्ध आनंदावस्थाके बारेमें समाधान पानेका था। मैं जानना चाहता हूँ कि (स्थूल अथवा सूक्ष्म) बाह्य स्पर्शके बिना वहाँ आनंद किस प्रकार होगा ? क्या वह नींदकी-सी जड जैसी अवस्था ही न होगी, अगर हो सकती है तो ? और क्या हम उसे अपना ध्येय बनायेंगे ? और क्या जागरणकी जैसी अवस्था, जिसमें बाह्य स्पर्श और अनुभूति है, हेय है ?

उत्तर—ना, ना। उस बारेमें समाधान न पाइये। वह यों न पाया जायगा। जो बोलता है, उसने समाधान नहीं पाया। जहाँ समाधान है, वहाँ भाषा मूक है। मैं बोल रहा हूँ, इसीसे साबित है कि मैं उस समाधानकी स्थितिको नहीं जानता। नहीं जानता, तब लाख बातें करूँ, उन बातोंसे उस स्थितिका तनिक भी आभास अपनेको या किसीको मैं नहीं दे सकता। जो अनिवर्चनीय है उसे वचनमें लाना धृष्टता है। मुझे वैसा धृष्ट मत बनाओ। वहाँ जाग नींद है, नींद जाग है। असलमें सब शब्द अनंतकी गोदमें अपना आकार खो रहते हैं।

और, उस स्थितिसे पहिले 'स्व' और 'पर,' ये दो भेद हैं ही। इससे एकत्व-स्थितिसे पूर्व, 'स्व'के लिए 'पर'की अपेक्षामें ही अपनेको जानना और जगाना संभव है। जगत्का कोई व्यापार स्व-पर-स्पर्श बिना संभव नहीं होता।

प्रश्न—ख़ैर, मैं असल प्रश्नसे दूर हट गया। जानना तो मैं यह चाहता था कि यदि मनुष्य आनंदहीके लिये जीता है तो उस अपने आनंदके लिए जो कुछ भी वह करे और उसमें उसे आनंद भी मिलता हो, तो क्या उसके वैसा करनेमें अकर्त्तव्यकी संभावना है? है तो क्यों? और उस कर्त्तव्यसे उसे लाभ ही क्या जिससे उसे आनन्द न मिले?

उत्तर—कर्त्तव्य करनेमें एक अपना आनन्द है ही। जिसको हम आनन्द मान बैठते हैं, यानी ऐन्द्रियिक विषय, और वह आनन्द जो अतीन्द्रिय है, इन दोनोंमें विरोध अक्सर होता है। जहाँ यह विरोध नहीं है, वहाँ आपवाला प्रश्न उठता ही नहीं। जहाँ ऐसा विरोध है वहाँ कर्त्तव्यको ही चुनना चाहिए, चाहे फिर उसमें ऊपरसे निरानंद ही दीखता हो।

प्रश्न—मनुष्य समाजका अंग है और समाजके प्रति उसके कर्त्तव्य हैं, मर्यादाएँ भी हैं। लेकिन, यदि समाज किसी समय उसके मार्गमें इस प्रकार रुकावट बनती हो कि जिससे उसका जीवन शुष्क हो जानेकी संभावना हो, तो क्या उस समय उस समाजके प्रति उसका विद्रोह अनुचित होगा?

उत्तर—आपके प्रश्नमें 'शुष्क' शब्द अनिश्चित मानका द्योतक है। अगर उसका मतलब है कि स्वधर्म-पालनमें कोई बाह्य सामाजिक परिस्थिति बाधक होती है, तो अवश्य उसको चुनौती देनी चाहिए। अपने सच्चे 'स्व'के इंकारपर तो समाज मजबूत नहीं बनेगा। समाज पनपेगा तो अपने 'स्व'के हार्दिक समर्पणसे पनपेगा। जैसे विनय हार्दिक ही हो सकती है, ऊपरी तकल्लुफ़की विनय नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही समाज-विधानके प्रति व्यक्तिमें यदि हार्दिक सम्मान है, तब तो ठीक है। नहीं तो, सिर्फ जाहिरदारी बरतना काफ़ी नहीं है।

प्रश्न—क्या कर्त्तव्य मानकर प्रेम किया जा सकता है? जैसे मैं अमुकको प्रेम करूँ, तो क्या इस तरह विचारपूर्वक प्रेम संभव हो सकता है?

उत्तर—इसमें कठिनाई होती है अवश्य, और सदा ही इन दोनोंका विरोध भी देखनेमें आता है। फिर भी, इन दोनोंको साथ मिलाए बिना कोई भी स्थिति असंभव-सी हो जाती है। यों कहिए कि निःसंग प्रेम ही निभ सकता है। संगकी आसक्ति जिस प्रेममें है उसके निभनेके लिए समाजमें अवकाश कैसे हो सकता है? मोहयुक्त प्रेमके कारण उलझनें उपस्थित होती हैं।

प्रश्न—प्रेमके लिए क्या कोई आकर्षण आवश्यक नहीं है?

उत्तर—प्रेमकी प्रकृति ही आकर्षण है।

प्रश्न—कहते सुना है दुखियोंसे प्रेम करना सीखो, गरीबोंसे प्रेम करना सीखो।—वहाँ क्या आकर्षण हो सकता है? अथवा कि वहाँ प्रेमकी बात ही कहना अनर्गल है।

उत्तर—आकर्षण हो सकता तो है। अगर उनके दुखमें हम अपना अन्याय देखें, तो उसके प्रति सचमुच बहुत बड़ा आकर्षण होनेका कारण हो जाता है। हमारा अपना रोग हमको किस कदर अपना मालूम होता है!—सब पीछे, अपना रोग पहिले। एक रोग सब ओरसे हटाकर हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है कि नहीं? इसी तरह, लोगोंकी गरीबी क्या समाजके लिए रोग नहीं है? इतनी चैतन्य-बुद्धि हममें अगर जाग जाय, तो मैं मानता हूँ कि समाजके दीन-दलितोंमें हमें आकर्षण भी हो आये। और वह आकर्षण छोट-मोटे आकर्षणोंको नीचे ही छोड़ दे।

प्रश्न—किन्तु, आकर्षणमें तो मोहनेकी शक्ति होती है, न कि दुखी करनेकी। फिर ऊपर आप यहाँ कैसा आकर्षण बतलाते हैं?

उत्तर—क्यों, उस मोहमें दुःखकी सम्भावना क्या बिल्कुल नहीं है? उस वक्त वह भी सुख-सा मालूम होता है अवश्य, किन्तु, आकर्षणका हेतु तो दुख यानी अपूर्णता ही है। वह दुःख ही आकर्षणद्वारा अपने लिए मानो चैनका मार्ग खोज निकालता है। आकर्षण ख़ुदमें सुखकर मालूम होता है, पर उत्पन्न वह सुखमेंसे नहीं हो सकता।

८—आकर्षण और स्त्री-पुरुषसम्बन्ध

प्रश्न—स्त्री और पुरुषका प्रेम क्या पुरुष-पुरुष अथवा स्त्री-स्त्रीके प्रेमसे भिन्न है ?

उत्तर—हाँ भिन्न है।

प्रश्न—किस तरह ?

उत्तर—वह शायद कुछ अधिक दुर्निवार्य है और अधिक संगत भी है।

प्रश्न—स्त्री और पुरुषका संयोग-सहयोग भी क्या समाजके प्रति एक कर्त्तव्य है ?

उत्तर—समाजमें स्त्री हैं, पुरुष हैं। इसलिए, समाजमें उन दोनोंका सहयोग न हो, तो समाज कैसे होगा ? हाँ, समाज-भावनाके विकासमें सहायक होकर वह सहयोग कर्तव्य-रूप भी हो जाता है। उक्त सहयोगको नीतिद्वारा नियमित-संयत करना पड़ता है जिससे वह संयुक्त सामाजिकताकी बढ़ती हुई भावनाको मदद दे, उसमें बाधक न हो। दांपत्य और परिवार आदि संस्थाएँ इसी राहमें बनी और बनी हुई हैं।

प्रश्न—विवाहका कारण आपके विचारसे स्त्री-पुरुषका एक दूसरेके प्रति आकर्षण है अथवा उन दोनोंका समाजके प्रति कर्त्तव्य ?

उत्तर—विवाहकी संस्था सामाजिक हेतुसे जन्मी है। मैथुन तो पहिलेसे था। पशुओंमें भी है। किन्तु, उसको अनर्गल रहने देनेसे काम नहीं चलता दीखा। उसे नीति-नियमोंमें बाँधनेकी आवश्यकता प्रतीत हो आई। उसको संयमकी आवश्यकता ही कहिए। मेरा खयाल है कि नाना कालों और देशोंमें मानव-जातिने इस संभोगको नियमित करनेकी आवश्यकताको लेकर तरह-तरहके प्रयोग और परीक्षण किये होंगे। विवाह वैसा ही एक प्रयोग है। वह संभोगके लिए नहीं है, संभोगको संयत करनेके लिए है। इसलिए मैं मानता हूँ कि उसका आधार भोग नहीं है, उत्सर्ग है। 'प्रेम'के नामपर साधारणतया जिस विलासका आशय लिया जाता है, वह विवाहकी सार्थकता नहीं है। एक सामाजिक कर्त्तव्यकी पूर्तिके अर्थ विवाहका विधान है। 'विधान'का आशय यह कि सच्चे

विवाहका वही स्वरूप है, और हरेक विवाहको अधिकाधिक तदनुरूप होना चाहिए। जो ऐसा नहीं है, वह उतना ही कम 'विवाह' है।

प्रश्न—इतिहाससे ज्ञात होता है, हरेक पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार सुन्दरसे सुदन्र स्त्रीपर, और वह भी अधिक से अधिक संख्यामें, अधिकार पानेकी चेष्टा करता आया है। तो यह विवाह पुरुषकी अधिकार-भावनाका विकास-स्वरूप ही क्यों न माना जाय?

उत्तर—विकास-स्वरूप ऐसे विवाहोंको इसलिये नहीं मान सकते कि वे विकासमें सहायता नहीं देते। इसमें क्या उस पुरुषका कोई अपना विकास हुआ कहा जा सकता है जिसने ऐसे अनेकानेक भोग-विवाह किए हैं? या कि उन स्त्रियोंका ही किंचित् विकास हुआ माना जा सकता है जिनसे विवाहके नामपर ये संबंध स्थापित किये गये और विवाह (?) के कुछ ही बाद जिन्हें ज़नानखानेमें घुटते रहनेके लिए पटक दिया गया। इससे समाजका क्या कोई सुख बढ़ा? किसी व्यक्तिहीका कोई सुख बढ़ा? फिर यह 'विकास' कैसा?

प्रश्न—मैं यह नहीं कहता कि उस विवाहसे समाजका वास्तविक विकास हुआ कि नहीं। बल्कि कहनेका अभिप्राय यह था कि मनुष्यकी स्त्रीपर अधिकारकी वृत्तिहीका समाजके साथ समन्वय विवाह-रूपमें हुआ है। क्या इसमें आपको कुछ आपत्ति है?

उत्तर—समन्वय इस रूपमें हुआ है, यह तो मैं मान लूँगा। पर इसीमें यह आ जाता है कि अमर्यादित अधिकार जब संभव नहीं दीखा, तब मर्यादाके रूपमें यह संस्था पैदा की गई। इसका आशय यही होता है कि अधिकारकी भावना उसके मूलमें नहीं है, बल्कि उस अधिकारको संयत करनेकी आवश्यकता उस संस्थाके जन्मका कारण है। विवाह किसी जातिमें भी देखिए, वैवाहिक विधिको निष्पन्न करनेवाली जो रीतियाँ और जो मंत्र हैं, उनमें मनुष्यकी हीन-वृत्ति नहीं, बल्कि उत्कर्ष वृत्ति ही व्यक्त हुई है। सब विवाह-विधियोंमें समर्पणकी भावना है, वफ़ादारीकी प्रतिज्ञा है। यह ठीक है कि प्रबलने अबलको अपना गुलाम समझनेके लिए विवाह-संस्थाको एक सहारा ही चाहे बना लिया, किन्तु, ऐसे विवाहित आचरणको कभी भी सफल नहीं समझा

गया। इसीसे प्रगट है कि विवाह व्यक्ति-गत तृप्तिका प्रश्न ही नहीं है, वह तो समाज-गत धर्मका प्रश्न है।

प्रश्न—कदाचित् आप स्वीकार करते हैं कि विवाह पुरुषके स्त्री-गत अधिकारका संयत-रूप है। किन्तु, वह अधिकार समाजके प्रति भले ही संयत हो गया, किन्तु स्त्रीपर तो अधिकार ही रहा। और फिर उसीको यदि मंत्रों आदिसे पवित्र (idealise) भी कर दिया गया सही, किन्तु क्या मूल-रूपहीसे वह गलत चीज़ नहीं हो गई ? सो, प्रश्न यह कि संयत संभोगके लिए उस विवाहहीकी कौन आवश्यकता जिसका आधार केवल स्त्रीपर एकाधिकार पाना है ?

उत्तर—पुरुषका स्त्री-गत अधिकार कोई नहीं है। मैंने पहले ही कहा, जिसका दूसरा पहलू कर्त्तव्य ही नहीं है, वैसा अधिकार अहंकार है। विवाह अहंकारके समर्थनके लिये नहीं है। अगर उस समर्थनमें विवाह काममें लाया जाता है, और लाया जा रहा है, तो यह आदमीके भीतर घुसे हुए अहंकारका दोष है।

स्त्री-पुरुषके समाज-गत कर्त्तव्य एवम् उनकी मर्यादित प्रवृत्तिकी पूर्तिकी राहमें विवाह आता है। इससे एकका दूसरेपर एकाधिकार हो जाता है, यह मान भी लें, तो भी इसमें उस समयतक आपत्तिकी कोई बात नहीं है, जब तक कि उस अधिकारको दायित्व-हीन वृत्तिसे प्रयुक्त नहीं किया जाता। जैसे एक बालकका औरोंको छोड़कर अपने ही पितापर एकाधिकार है और उसमें हमें कोई आपत्ति-योग्य बात नहीं मालूम होती, वैसे ही पति-पत्नी-संबंधको भी हम क्यों न समझ लें ? ऐसा होता दीख नहीं रहा है, यह तो मैं भी देखता हूँ। फिर भी, जो उचित है, उचित उसीको कहना होगा।

प्रश्न—पुरुष जिस स्त्रीसे विवाह करता है, क्या उसका यह धर्म हो जाता है कि वह उसे छोड़ किसी अन्य स्त्रीके प्रति प्रेम-भावना न रक्खे ? और इसी प्रकार क्या उस स्त्रीके लिए भी ?

उत्तर—जहाँ तक प्रेम भावनात्मक है, वहाँ तक कोई भी स्त्री-पुरुष प्रेमके क्षेत्रसे बाहर क्यों समझा जाना चाहिए ? शरीर-संगवाले प्रेमकी बुद्धि बेशक पति-पत्निके सिवा अन्यमें रखना मर्यादा-शील व्यक्तिको उचित नहीं है।

प्रश्न—यदि कोई पुरुष या स्त्री किसी अन्य स्त्री या पुरुषसे आकर्षित होकर उस ओर आसक्ति-भाव रखने लगे, तो क्या इस प्रकार उनके पारस्परिक दांपत्य प्रेम में अन्तर पड़नेकी संभावना नहीं है? ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—कर्त्तव्य सदा यही है कि जहाँ तक बस चले, ऐसा अपनेसे कुछ भी न होने देना चाहिए जो सामाजिक सदाचारके विरुद्ध हो। जो विवाहिता है उसीमें भोग्य-बुद्धि रखनेकी इज़ाज़त समाजकी ओरसे पुरुषको है। वही स्त्रीको। अन्यत्र वैसी बुद्धि न रखना कर्त्तव्य हो जाता है। प्रश्न शायद यह है कि कर्तव्य निबाहा कैसे जाय? विकार तो हमारे वशमें नहीं है। इससे अन्यत्र भी आकर्षण हो आता है और बहुत तीव्र हो जाता है। 'कर्त्तव्य' 'कर्त्तव्य'की रट लगानेसे वह आकर्षण मिटता हुआ बिल्कुल नहीं दीखता। तब क्या हो? देखते तो हैं कि ऐसी अवस्थामें कुछका कुछ होने लगता है। हत्याएँ होती हैं, अपघात होते हैं। उन्माद होता है, हिस्टरिया होता है और स्वभावमें तरह-तरहकी गाँठें पड़ जाती हैं। ऐसा नुस्खा क्या बताया जाय जो सबको सब काल एक-सा उपयोगी हो जाय? फिर भी, जो इस द्वन्द्वसे त्रस्त है, उसे चाहिए कि अपनेको निर्बल मान कर ईश्वरसे प्रार्थनापूर्वक सहाय माँगे। निर्बलके बल राम होते हैं। लेकिन रामका बल, अर्थात् प्रार्थनाका बल, तभी प्राप्त होता है जब कोई सचमुच अपनेको निर्बल ही मान लेता है। पाप अहंकारसे नहीं जीता जा सकता। और ईश-कृपाकी एक किरण पापको क्षार कर सकती है।

प्रश्न—क्या विवाहित स्त्री-पुरुषके लिए आजीवन उसी प्रकार किसी भी हालतमें परस्पर बँधे रहना ही हितकर है? अथवा किसी दशामें अलग-अलग हो जाना भी हितकर ही होगा?

उत्तर—हितकर हो, तब उन्हें अलग हो जाना चाहिए। किस दशामें संयुक्त जीवन उन दोनोंके और समाजके लिए अवाछनीय है और कब तक वह हितकर है,—इसका निर्णय करनेवाले वे दोनों और तात्कालिक समाजके नीति-मान्य पुरुष हो सकते हैं। यह जरूर है कि अलग होनेकी तबियत मनमें आते ही यह समझ लेना उचित नहीं है कि दोनोंके अलग हो जानेसे झगड़ा मिट जायगा और चैन छा जायगा। इस मामलेमें सीधा-सा एक लक्षण निर्दिष्ट किया जा सकता है। पति-पत्नी एक-दूसरेको छोड़नेके प्रश्नका विचार उसी

अवस्थामें करें जब दोनोंमें परस्पर रोष न हो, कोई बाहरी आकर्षण दोनोंको अलग न फाड़ रहा हो और दोनों ठंडे मनसे विवेकपूर्वक अपनी स्थितिपर विचार करने योग्य हों। रोषसे प्रेरित होकर गृहस्थीका भंग करना समाजके लिए हितकर नहीं हो सकता और न अन्ततः व्यक्तिके लिए ही हो सकता है।

प्रश्न—ऊपर आपने आकर्षणसे प्रेरित होकर संबंध-विच्छेद करना अकर्त्तव्य कहा है। किन्तु, एक दंपति यदि संस्कारोंकी विषमताके कारण अपने उस संबंधसे संतुष्ट नहीं हैं, तो क्या उन्हें अथवा उनमेंसे किसीको भी यह उचित नहीं है कि वह किसी अन्यसे संबंध कर ले जो उसके जैसे ही संस्कार रखता हो?

उत्तर—केवल तृप्तिका अभाव, अथवा कि अरुचि, ऐसा करनेके लिए पर्याप्त कारण नहीं है। जब मानव-विवेक अर्थात् धर्म ही संबंध-विच्छेदको उचित बताये, तभी वह किया जा सकता है। लेकिन, मैंने कहा न कि अगर स्त्री पुरुष परस्पर मिल-बैठकर ठंडे जीसे बिना बाह्य तृष्णा और प्रेरणाके संबंध विच्छेद करना विचारें तो जरूर वैसा कर सकते हैं।

प्रश्न—लेकिन करें तो हानि भी क्या है? आखिर जब कभी भी सम्बन्ध-विच्छेद करना हितकर समझा जायगा, तभी, चाहे कितने भी ठंढे दिलसे विचारा जाय, उसमें विच्छेदके बादकी परिस्थितिके प्रति झुकाव और उसमें किसी न किसी प्रकार आकर्षण होना ज़रूरी है। यदि ऐसा नहीं, तो विच्छेद करनेसे लाभ?

उत्तर—नहीं, बाह्य आकर्षणके अतिरिक्त भी विवाहकी सामाजिक-परिधिसे बाहर जानेकी आवश्यकताके कारण हो सकते हैं। मान लीजिए कि पति क्लीब है, या किसी बीमारीसे पुंसत्व-हीन हो गया है अथवा कि स्त्री बंध्या है, अथवा पति या स्त्रीने कोई उत्तम-तर मार्ग (जैसे कि गौतम बुद्धने, मीराबाईने) ग्रहण करनेका संकल्प कर लिया है, या कि दोनोंमेंसे कोई साथी पागल हो गया है,—आदि स्थितियोंमें संबंध-विच्छेद नाजायज़ नहीं ठहराया जा सकता। थोड़ी देरके लिए समझिए कि पति स्वयं पुंसत्व-हीन है, किन्तु पत्नीकी गोद वह भरी हुई देखना चाहता है। पत्नी तो स्वयं संततिके लिए

इतनी विह्वल नहीं है और वह अपने इसी पतिके साथ अपना नेम निबाहनेको तैयार है। पर पतिको अपने कर्त्तव्यकी चिन्ता है। ऐसी स्थितिमें पति समझा-बुझाकर अपने पतित्वके अधिकारसे पत्नीको साग्रह मुक्त कर सकता है। ऐसे ही वंध्या स्त्री अपने पतिके कुलका नाम उजागर रहा देखना चाहती है, तो वह पतिको अनुरोध-पूर्वक दूसरे विवाहके लिए कह सकती है। अभिप्राय यह कि जहाँ प्रेरणा सद्भावनाकी है, विषय-सेवनकी नहीं है, वहाँ विच्छेद अनुचित नहीं है। विषय-तृष्णाकी खातिर किये गये तलाकका मुझसे समर्थन न होगा।

प्रश्न—क्या आपके कहनेका मतलब संक्षेपमें मैं यह समझूँ कि संबंध-विच्छेदके साथ दोनों पार्टियोंकी रजामंदी और एक दूसरेके प्रति सद्भावना हो। यदि ऐसा है, तो क्लीवता, वंध्यापन और संतातिके अभाव आदिहीको विच्छेदका कारण बनाना क्यों जरूरी है? फिर तो कोई भी कारण ठीक हो सकता है यदि उसके लिए वे दोनों खुशी खुशी तैयार हों।

उत्तर—आपके प्रश्नकी भाषामें 'आदि'के साथ 'ही' लगा है। जहाँ 'आदि' लिखा गया, वहाँ अभिप्राय है कि गिनाये गये कारणोंके अलावा भी कारण हो सकते हैं।

फिर भी यहाँ एक बात याद रखनेकी है। दोनोंका 'खुशी'से तैयार होना काफी नहीं है। खुशी शब्द जरा बेढब है। मैं ऐसे पति-पत्नीके जोडेको जानता हूँ, जो दोनों खुश हैं, लेकिन पुरुष अपनेको पति जाहिर नहीं करता और स्त्री अपनेको विधवा बतलाती है। और इस भाँति खुशी खुशी स्त्रीके तनकी कमाईसे दोनों धन जोड़ते और फिर उस धनके बलपर समाजमें इज्जत बनानेकी कोशिश करते हैं। इसलिए 'खुशी' शब्द मौजूँ नहीं है। मैं तो वही शर्त रखना चाहूँगा कि वहाँ बाह्य तृष्णा या प्रेरणाका अभाव हो।

प्रश्न—बाह्य तृष्णा या प्रेरणासे क्या आपका मतलब इंद्रियगत विषयोंकी वासनासे है? यदि है, तो क्या संबंध-विच्छेदके लिए किसी इन्द्रियातीत यानी संस्कृतिसे उद्भूत आनन्दकी इच्छा करना काफी कारण हो सकता है?

उत्तर—हाँ बाह्य प्रेरणासे वैसी ही वासना अभिप्रेत थी।

'इन्द्रियातीत' और 'सांस्कृतिक आनन्द', ये शब्द बड़े मालूम होते हैं। लेकिन,

ऊपरके उदाहरणमें पत्नीको साग्रह दूसरे पुरुषसे संबंध स्थापित कर लेनेकी सलाह देनेवाला पति और इसी प्रकार पतिको सानुरोध दूसरा विवाह करनेके लिए कहनेवाली पत्नी,—दोनोंकी भावना अवैषयिक हैं और सांस्कृतिक भी हैं। आप उन दोनोंके सामने पहुँचकर पूछें कि क्या तुम्हारी भावना सांस्कृतिक है और नैतिक है, तो बेचारे दोनों ही शायद घबरा जायँगे और बेहद लज्जित हो रहेंगे।

लेकिन ऐसी अवस्थामें उनकी आत्म-लज्जा ही सांस्कृतिक सदाशयताका लक्षण होगी। संस्कृति कहीं यहाँ वहाँ नहीं रहती। जहाँ उत्सर्ग है, संस्कृति वहाँसे आदर्श प्राप्त करती है।

प्रश्न—इन्द्रियातीत और सांस्कृतिक आनंदसे तो मेरा मतलब केवल इतना ही था कि यदि दैवात् किसी बहुत ही परिष्कृत अभिरुचि (refined taste) की कवियित्री स्त्रीका किसी देहाती जड़ मछुएसे संबंध हो जाय, और बादमें दोनोंको यह संयोग कुछ अनमेल जँचे, तो क्या दोनोंकी रजामंदी होनेपर वे अलग अलग नहीं हो सकते? और खुशिसे अलग अलग होकर अपने अनुरूप शादी कर लेनेमें तब क्या हानि होगी?

उत्तर—दैवात् संबंध हो जाय, इसका क्या अर्थ? दैव सीधा अपने हाथोंसे तो शादी नहीं करता। या तो शादी उन दोनोंने स्वयं कर ली या माँ-बापने की। माँ-बाप ऐसी शादी नहीं करेंगे। यदि उन दोनोंने आपसमें संबंध कर लिया जिसे वे दोनों पीछे जाकर पाते हैं कि बेमेल है, तो स्पष्ट है कि किसी बाह्य मोहके कारण उन्होंने वैसी शादी की होगी। मोह सैकड़ों प्रकारका होता है। एक शब्द अँग्रेजीमें है 'रोमांस,' दूसरा शब्द है 'एडवेंचर'। कुछ ऐसी बहकमें ऊपरके प्रकारकी शादी हो गई हो तो अचरज नहीं। पर मोह तो अंतमें टिकता नहीं। आज नहीं कल, वह तो टूटेगा ही। वह मोह जब फूटे तो विवाह-संस्थाकी किस्मत भी फूट गई, ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं है। आपका प्रश्न है कि कहार और कवयित्री शादी तो करते कर बैठें, लेकिन अब मिलकर रहा नहीं जाता तो वैसी अवस्थामें क्या किया जाय? इसपर मेरे जैसा व्यक्ति, अगर वह कवियित्री मुझे अपने पास आने दें, तो उनसे कहेगा (क्योंकि कवियित्री होनेसे वह बारीक बातोंको अधिक समझनेके योग्य होंगी) कि 'सुनो कवियित्री, यह तुम्हारा पति बिल्कुल अयोग्य है न? लेकिन तुम तो योग्य हो। उसको थोड़ी

अपनी योग्यता देकर योग्य बना लो। और सुनो, उससे कवियित्री बनकर बात करोगी, तो कहार कहार ही रहेगा। लेकिन थोड़ी देरके लिए कहारिन बनकर उससे बोलो-चालोगी, तो क्या जाने ऐसे वह कवि ही बनने लग जाय। सेवा बहुत-कुछ संभव बनाती है और प्रेम तो असंभवको संभव बना देता है। सुनो, जो हुआ सो हुआ। उसे मूर्खता कहकर सिर न धुनो। चाहोगी तो उसमेंसे ही सुन्दर फल निकल सकेगा।'

पर मान लीजिए कि कवियित्री बेहद कवियित्री हैं। तो ऐसी हालतमें वे जानें और उनका भाग्य जाने, मैं कुछ नहीं जानता।

प्रश्न—यदि कवियित्री देखती है कि प्रस्तुत वातावरण उसकी प्रतिभा एवं सांस्कृतिक जीवनके विकासके सर्वथा प्रतिकूल है और साथ ही वह मछुएके लिए भी उपयुक्त संगिनी नहीं है, और यह भी जानती है कि अलग होनेमें किसीकी नाराजगीका सवाल नहीं है, तो क्यों न वह अलग होकर अपने जीवनको समाजके लिए और अधिक उपयोगी बनाये, बजाय इसके कि वह उसे वहीं बर्बाद कर दे?

उत्तर—अगर प्रतिभा सच्ची है, तो वह हर किसी स्थितिको अपने लिए सहायक बना लेगी। मैं नहीं मानता कि रुचि-गत ऐसा कोई कारण हो सकता है जो एक बार बिवाहमें बँधकर उनके बिछुड़नेको औचित्य दे। अगर किसी कोरी भावुकतामें वह विवाह हो गया था, तो उसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य है। वैसी हालतमें कवियित्री भी जरूर अपने मछुए पतिको छोड़ देगी। नहीं छोड़ेगी, तो त्रस्त रहेगी। लेकिन इसमें मुझसे पूछनेकी क्या बात है? छोड़ना पड़ ही रहा है, तो किसीके कहने न कहनेका परिणाम ही क्या होगा? कर्म-फल क्या टाले टलता है?

प्रश्न—क्या कोई समाज-गत कर्त्तव्य पति-पत्नीको एक-दूसरेसे अलग होनेके लिए उपयुक्त कारण हो सकता है?—भले ही उस हालतमें दोनोंकी सहमति न हो।

उत्तर—हाँ, हो सकता है। बुद्ध घर छोड़कर चले गये, तो यह कहना कठिन है कि यशोधराकी उसमें अनुमति थी। लक्ष्मणने रामका साथ दिया, उर्मिला अयोध्या ही रह गई, तो क्या उर्मिलाकी यही चाह थी? ये पौराणिक उदाहरण हैं। लेकिन समाजमें भी ऐसे उदाहरण यत्र तत्र मिलेंगे।

प्रश्न—तो क्या वह कवियित्री अपने जीवन-विकासको अच्छेसे अच्छा अवसर देनेमें समाजके प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं समझ सकती?

उत्तर—आपको कवियित्रीकी चिन्ता विशेष है। उसके जीवन-विकासके लिए तो यह और भी परखका मौक़ा है। अपनी उसी साधारण जिंदगीमें भी क्यों उस परम ध्येयको नहीं खोजा जा सकता जो ऊँचेसे ऊँचे काव्यका विषय है? अगर काव्य भीतर है, तो बाहरकी कौन चीज़ रुचिर होनेसे बच सकती है?

प्रश्न—अच्छा, यह तो सब ठीक है। लेकिन मेरी समझमें अभी यह नहीं आया कि उन सब शर्तोंके साथ जो मैंने कहीं, अलग होनेमें उनका या समाजका अहित ही क्या हो सकता है?

उत्तर—विचारपूर्वक और सद्‌भावनापूर्वक दो मिले हुए व्यक्ति अलग भी हो सकते हैं। यह बात पति-पत्नीसंबंधमें भी लागू है। तृष्णापूर्वक, रोषपूर्वक अथवा मदमत्त अवस्थामें वे एक दूसरेसे अलग होते हैं, तो उचित नहीं है। यह बात शायद मेरे पहले शब्दोंमें भी आ गई है।

प्रश्न—ऊपर आपने बतलाया कि पति-पत्नी समाजगत कर्त्तव्यकी पूर्तिके लिए एक दूसरेकी अनुमति बिना भी अलग हो सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि एकको दुखी करके भी बहुतोंको सुखी करनेका प्रयत्न उचित ही है। किन्तु, क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि अहिंसाका आरंभ हिंसासे भी किया जा सकता है?

उत्तर—नहीं, इससे यह सिद्ध नहीं होता। हिंसा होती नहीं है, वह की जाती है। मुझको कारण बनाकर अगर किसीका मन दुखी रहता है, तो मैं उस हेतुसे हिंसाका अपराधी नहीं समझा जा सकता। हिंसा भावनाश्रित है, इसी तरह अहिंसा भावना-मय है। अगर मनमें प्रेम भरा है तो ऐसे व्यक्तिका आचरण अहिंसक तो कहलायेगा, फिर भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि उसको कारण बनाकर कोई प्राणी अपनेको दुखी नहीं बना सकता। इस भाँति यह कहना संगत नहीं है कि हिंसाद्वारा अहिंसा फल सकती है। हाँ, हिंसाको देखकर अहिंसाकी संकल्प-शक्ति बढ़ जरूर सकती है।

१—विवाह

प्रश्न—क्या आप बतलाएँगे कि विवाह करते समय वर-वधू स्वयं उस संयोगके निर्णायक हों अथवा अन्य कोई ?

उत्तर—मैं यह पसंद करूँगा कि अपने अपने बारेमें वर-वधू दोनों स्वयं निर्णायक हों। लेकिन दूसरेको चुननेके बारेमें, अर्थात् संयोगकी उपयुक्तताके बारेमें, मुख्य निर्णय उनके अभिभावक लोग करें।

प्रश्न—अपने अपने बारेका निर्णय और फिर संयोग की उपयुक्तताका निर्णय,—क्या इसे आप और स्पष्ट करेंगे ?

उत्तर—मेरी शादी हो रही है, तो मैं अपनी शादी होने दूँ अथवा न होने दूँ,—इसका निर्णय मुख्यतासे मेरे हाथमें होना चाहिए। अमुकसे ही मेरी शादी हो, यह निर्णय मैं नहीं कर सकता। अमुकसे न हो, अलबत्ता, किन्हीं विशेष कारणोंसे ऐसा निर्णय मैं कर सकता हूँ।

प्रश्न—विवाह करने न करनेका निर्णय अभिभावकोंको न देकर अपने ही हाथमें रखनेका क्या हेतु हो सकता है ?

उत्तर—विवाह दो समझदार व्यक्तियोंके बीचमें हो, तभी वह विवाह है। 'समझदार'से यह मतलब कि वह अपने बारेमें निर्णय करने योग्य हैं। साथ ही 'समझदार'का यह भी मतलब होना चाहिए कि रंग रूप आदिके कारण वह किसीको हीन अथवा अयोग्य न समझें। जो अपने संबंधमें निर्णय करने योग्य है, वह क्यों न यह तय कर सके कि अभी मैं विवाह न करूँ, अथवा कि इतने वर्ष बाद करूँ, अथवा बिल्कुल ही न करूँ।

प्रश्न—विवाह अमुकके साथ हो अमुकके साथ नहीं,—यह निर्णय अभिभावकोंके हाथ रहना क्यों आवश्यक है? और क्या इस अधिकारसे वर-वधूका सर्वथा ही वंचित रहना जरूरी है ?

उत्तर—युवा और युवती अधिकतर बाहरी बातोंको महत्त्व दे सकते हैं। देखा गया है कि वे बातें अंत तक उतनी महत्त्व पूर्ण नहीं रहतीं। अभिभावकोंकी निगाह कुछ पक चुकी है और वे उस सम्बन्धको तनिक स्वस्थ दृष्टिकोणसे देखने

योग्य स्थितिमें होते हैं। विवाह-तत्पर युवाजनोंके हाथमें वह फ़ैसला आ जानेसे कम संभावना रहती है कि वह फ़ैसला विकार-हीन हो।

प्रश्न—इस निर्णयके लिए आपके विचारानुसार अभिभावक लोग किस विशेष लिहाजसे (criterion से) काम लेंगे ?

उत्तर—मामूली तौरपर उन्हें अपने संतानोंके सुखका और हितका ही विचार प्रधान होना चाहिए। द्रव्य-प्रधान (Capitalistic) सोसायटीमें इस मामलेमें पैसेका ख़याल भी रहने लगा है,—पर वह जुदा बात है। उस अपने लड़के-लड़कीके सुखका ख़याल रखकर वधू-वरमें वे लोग अनुकूलता खोजेंगे। जहाँ संस्कार, शिक्षा, वय आदिकी अनुकूलता दीखती हो, वहीं वे संबंध करना उचित समझेंगे।

प्रश्न—संस्कार और शिक्षा आदिकी अनुकूलतासे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—अभिप्राय बहुत अँधेरा जान पड़ता है क्या ?

प्रश्न—क्या अनुकूलता वर-वधूके संस्कार और शिक्षामें समतासे है ?

उत्तर—ठीक ठीक समता नहीं। जरूरी नहीं कि लड़का एम० ए० हो तो लड़की एम० ए० के अतिरिक्त कुछ हो ही न सके। मतलब है कि गुण-कर्म-स्वभाव परस्पर विषम नहीं होने चाहिए।

प्रश्न—गुण-कर्म-स्वभावकी विषमता या समताका अनुभव वर-वधूकी अपेक्षा अभिभावक अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे,—क्या यह अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता ?

उत्तर—नहीं, मुझको यह अधिक सहज जान पड़ता है।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्यों कि वर-कन्या और बजुर्गोंके बीच कोई शंका संकोच अथवा किसी विशेष आकर्षणका भाव वर्त्तमान नहीं रहता। वे प्राकृतिक परिस्थितिमें एक दूसरेसे मिल-जुल सकते हैं। फिर, अपनी इच्छा-अनिच्छाओंके बारेमें युवा-जन चाहे जितना भी ज्ञान रखते हों, लेकिन अपनी अक्षमताओं और मर्यादाओं और अपने झुकावसे शायद उनकी इतनी जानकारी नहीं होती जितनी उनके अभिभावकोंकी होती है।

प्रश्न—संबंधके विषयमें वर-वधूकी सहमतिका होना क्या आवश्यक नहीं है ? यदि है, तो उसका अभिभावकोंके निर्णयके साथ किस प्रकार समन्वय संभव होगा ? और वह यदि न हो, तो आखिरी निर्णय किसके हाथमें रहे ?

उत्तर—वर-वधूकी सहमति आवश्यक है। यह क्यों समझा जाय कि अभिभावकोंकी सम्मतिमें वर-वधूकी असहमति होगी ? वर-वधूकी उसमें असहमति तभी हो सकती है, जब कोई बाहरी कारण उपस्थित हो। बाहरी कारण अधिकांश मोह-रूप होता है। यदि कोई आंतरिक बाधा वर-वधूकी ओरसे उस विवाहमें हो, तो वह अभिभावकोंपर प्रकट की जा सकती है। इस तरह अभिभावकोंकी असहमति लेकर कोई भी विवाह क्यों हो ? मेरे विचारमें उनकी सहमति लगभग अनिवार्य ही करार देनी चाहिए।

प्रश्न—कारण आंतरिक और बाह्य किस प्रकारके हो सकते हैं ?

उत्तर—बाह्यसे मतलब उन कारणोंसे है जिनमें कोई बाहरी लगावकी रुकावट है। जैसे वर किसी और लड़कीको चाहता है अथवा कि कन्या किसी और युवकके प्रति आकृष्ट है। या कि दोनों एक दूसरेके रूपसे, आर्थिक अवस्थासे, अथवा और ऐसी बाहरी बातोंसे संतुष्ट नहीं हैं। इन्हें मैं बाहरी लगाव गिनता हूँ। 'आंतरिक'से मतलब कुछ वैसी बातोंसे है जो दूसरेकी त्रुटि अथवा अयोग्यतासे नहीं, अपनी त्रुटि अथवा अयोग्यतासे संबंध रखती हैं। जैसे कि वर यह माने कि अमुक कन्याके योग्य तो न उसमें शिक्षा है न गुण हैं, अथवा कि कन्या इसी प्रकार किसी विशेष युवकके संबंधमें अपनेको अपात्र समझे, तो इस बाधाको सच्ची बाधा समझनी चाहिए। 'बाह्य' और 'आंतरिक' शब्दोंसे मैं यही मतलब निकालना चाहता हूँ।

प्रश्न—लेकिन वर और कन्या कैसे जाने कि वह उस संबंधके लिए उचित पात्र हैं कि नहीं ?

उत्तर—अगर उसे यह जाननेका मौका नहीं है, तो कोई बुरी बात नहीं है। यह तो बल्कि और अच्छी ही बात है।

प्रश्न—तो क्या यह जानना उसका कर्त्तव्य ही नहीं है ?

उत्तर—क्या जानना उसका कर्त्तव्य नहीं है ? क्या यह कि जिससे मेरी शादी हो रही है, वह असलमें क्या है ? तो मैं कहता हूँ कि अगर यह पूरी

तरह विवाहसे पहले जान लिया जायगा तो विवाह नीरस हो जायगा । असलमें विवाहसे पूर्व कुछ ऊपरी विवरण ही जान लिये जा सकते हैं । व्यक्तिकी भीतरी प्रकृति तो परखनेपर ही खुलती है । तब क्या वह यह जाने कि मैं उसके योग्य हूँ या नहीं ? असल योग्यता तो तभी है जब वह विवाहके बाद भी प्रमाणित ठहरे । इससे मैं मानता हूँ, कि जरूरतसे बहुत अधिक जाननेका आग्रह वर-वधूके लिए इस मामलेमें विशेष अर्थकारी नहीं होगा । सच कहा जाय तो विवाह समर्पणका संबंध है । और समर्पणकी भावना उसीके प्रति संभव है जो सर्वथा ज्ञात ही नहीं है, बल्कि जिसमें अज्ञात काफ़ी कुछ है ।

प्रश्न—आप मानते हैं कि वर-वधू स्वयं अपने विवाहके उपयुक्त निर्णायक नहीं हैं, क्यों कि वे ऊपरी बातोंसे बहक सकते हैं । लेकिन, बहुधा अभिभावकोंके बारेमें क्या नहीं देखा जाता कि वे विवाह-संबंध करते समय उन अपने निजी आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा-आदिकी धारणाओंसे (Considerations **से) बहक जाते हैं जिनका वर-वधूके हितसे कोई संबंध नहीं होता ?**

उत्तर—अगर अभिभावकोंमें ऐसी बहक है, तो वयःप्राप्त युवा और युवती सविनय अवज्ञाका व्यवहार प्रयोग कर सकते हैं । वे तब अभिभावकोंका निर्णय रद्द कर सकते हैं और स्वयं अपना संबंध चुन सकते हैं । लेकिन, यह ध्यान रहे कि उस सम्बन्धके चुनावमें वैसा बाहरी मोह न रहे । सविनय अवज्ञाके प्रयोगका अधिकार उसीको है जो उस अस्त्रको धर्म-भावसे ग्रहण करता है । उसमें ज़रूरी तौरपर अपेक्षाकृत एक सामाजिक कर्त्तव्यका उल्लंघन आ जाता है । किन्तु, वह उल्लंघन अपने लिए नहीं है, सामाजिकसे भी बड़े किसी कर्त्तव्य, अर्थात् मानवीय कर्त्तव्यके पालनके लिए है । अपनी तृष्णाकुल आकांक्षाओंसे लुब्ध होकर हम यदि माता-पिताकी इच्छाओंका, चाहे फिर वे इच्छाएँ अर्थ-लालसासे विकृत ही हों, विरोध करेंगे, तो उससे यह कहना कठिन होगा कि हमने बुराईका विरोध अच्छाईसे किया है । दूसरेकी बुराईका विरोध अपनी बुराईसे नहीं किया जा सकता । इसलिए, यदि इस (सत्याग्रह) तत्त्वकी मर्यादाका पालन हो, तो वर-कन्या अभिभावकोंकी मर्ज़ीके विरोधमें भी परिणयमें बँध सकते हैं ।

प्रश्न—उपर्युक्त परिस्थितिमें अवज्ञा (सविनय) करना क्या

कर्त्तव्य होना चाहिए? अभिभावकके प्रति उत्सर्गकी भावना रखकर अवज्ञा न भी की जाय, तो क्या अनुचित होगा?

उत्तर—सविनय अवज्ञा उस समय कर्त्तव्य है। उत्सर्ग कर्त्तव्यका नहीं किया जाता। कर्त्तव्यके लिए मोहका उत्सर्ग किया जाता है। आत्म-हत्या चाहे जिस अवस्थामें हो, पाप ही है। कोई यह मान कर कि मैं अपनेको उत्सर्ग कर रहा हूँ, अपनेको मार नहीं सकता। ऐसे उदाहरण मिलते अवश्य हैं। धर्मके नामपर, प्रेमके नामपर, थोड़ा-बहुत गर्वके भावसे लोग आत्म-घात कर लेते हैं। लेकिन, हमारा जीवन हमारा ही नहीं है। जिसने वह दिया, वही जब उसे लेना विचारे, तब दूसरी बात है। अन्यथा मृत्यु आने तक उस जीवनकी रक्षा ही कर्त्तव्य है। आशय यह कि माताको, पिताको, सभीको तजा जा सकता है, पर अपने स्वधर्मको तो नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए, यदि आत्म-मोह नहीं है तो वर-कन्याको माता-पिताकी इच्छापर अपनेको कुरबान कर देनेका हक़ नहीं रहता और उनके आदेशकी (विनीत) अवज्ञा करके भी स्वधर्म-पालन करना उचित हो जाता है।

प्रश्न—अभिभावकों द्वारा विवाह-सम्बन्ध निश्चित होनेके पूर्व वर-कन्याका एक दूसरेको देखना क्या आवश्यक है?

उत्तर—रिवाजन तो आवश्यक नहीं है। सच यह है कि इसके बिना भी काम चल सकता है। लेकिन, आपसमें देखा-देखी होने ही न पावे, ऐसे आग्रहमें कुछ अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि यदि तक हो सब काम सहज भावसे होना चाहिए जिससे वासनाको कमसे कम गुंजायश मिले। परस्पर परिचय निषिद्ध नहीं है, बल्कि उपयोगी ही है। जहाँ देखनेके मानी सिर्फ एक दूसरेकी आकृति और रूप देखना भर है, तो वैसा देखना न देखना एक-सा है।

देखनेकी बात तो यहाँ तक बढ़ गई है कि वर-पक्षके लोग कपड़े उतरवाकर अंग-प्रत्यंगकी जाँच करते हैं। यह लज्जाजनक है। इसलिए बाहरी देख-दाखकी पद्धतिका समर्थन मेरे मनसे नहीं निकलता।

प्रश्न— क्या अभिभावकोंके लिए वर-कन्याको देखना आवश्यक है?

उत्तर—हाँ, कतई आवश्यक है। देखना क्यों, पूरी तरह जानना और समझना आवश्यक है।

प्रश्न—यदि किसी कुमार और कुमारीमें प्रेम इतना दृढ़ हो गया है कि विवाह-संबंध न होनेसे उनके जीवनके नष्ट होनेकी संभावना हो, तो क्या अभिभावकोंको उसका विचार करना और उनका विवाह कर देना अनुचित होगा?

उत्तर—अभिभावकोंको उसपर विचार करके अवश्य अपनेको झुका देना चाहिए।

प्रश्न—किन्तु, क्या इससे उस प्रवृत्तिको प्रोत्साहन न मिलेगा जिसका आधार आपके विचारानुसार मात्र आकर्षण होता है और जो विवाहके सिद्धान्तके विरुद्ध भी है?

उत्तर—मिलेगा। लेकिन, जीवन एक कोरा सिद्धांत ही नहीं है। वह आदर्शके साथ संभवका समझौता है,—व्यवहारका आदर्शके साथ ऐक्य साधन है। वह बात व्यवहारको छोड़ देनेसे नहीं सिद्ध होगी। व्यवहारको जब कि आदर्श-संगत बनाना है, तब आदर्श भी व्यवहार-युक्त होनेपर ही कुछ महत्त्व रख सकता है। प्रस्तुत उदाहरणमें एक तरफ मौत है तो दूसरी ओर कुछ वह कर्म है जो सौ फी-सदी सही नहीं है। कह दो कि वह ग़लत है, लेकिन मौत उससे भी गलत है और जीते रहना मौतसे सब दर्जे बेहतर है।

प्रश्न—किन्तु, क्या समाजके आधार-भूत उस सिद्धांतकी रक्षाके लिए, जिसपर इतना बड़ा सामाजिक जीवन निर्भर है, एक-दो मौत भी हो जाना बेहतर नहीं है?

उत्तर—मौत हो जाना बेहतर हो सकता है, लेकिन मौतका किया जाना बेहतर नहीं है। ऊपरके उदाहरणमें मौत अगर सचमुच हो जाती है, तो वह मौत की गई है। एक व्यक्ति यदि सामाजिक कर्त्तव्यकी भावनाको ज्वलंत रूपसे अपने भीतर जगाकर अपने प्रेमी अथवा प्रेमिकाका बिछोह सह लेता है, तो क्या उसकी विथा जिंदा मौतकी विथासे कम है? ऐसी अवस्थामें मैं कहूँगा कि ऐसा जीवनद्वारा अपनाया गया मरण सचमुच उसका और समाजका उपकार करता है, और करेगा।

प्रश्न—जिस प्रेमावस्थाके लिए आपने ऊपर सिद्धांतकी बलि देना भी उचित बताया है, उसको उदाहरण मानकर युवक-समाज ऐसे

प्रेमकी ओर प्रेरित न होगा और इससे विवेक-मय जीवनको हानि न पहुँचेगी, क्या आपका ऐसा विचार है?

उत्तर—सिद्धांत क्या चीज़ है? क्या वह अपने ही आपमें कुछ है? प्रेमसे च्युत होना सिद्धांत नहीं है। और प्रेमके भारको उठानेके बजाय मौत उससे बच निकलनेका उपाय है। इसी तरहसे वह भी कोई सिद्धांत नहीं है जिसके पालनमें अपनी तो नहीं, दूसरेकी जानपर आ बीते। कोई लड़के-लड़की हठपूर्वक एक दूसरेसे ही परिणय करना चाहें और नहीं तो जान दे दें, तो मैं नहीं जानता कि वह कोई सिद्धांत होगा जो उन्हें उस परिणयसे रोककर मर जानेको बाध्य करता है। अगर वह कुछ है तो सिद्धांत नहीं, हठ है। यद्यपि मेरा अनुमान है कि इस प्रकारकी शादी कुछ दूरतक ही सफल दीखेगी, आगे तो उसमें निष्फलता ही दिखाई देगी, फिर भी, ठोकर खाकर सीखनेका जवान आदमियोंको हक़ है। उस हक़के प्रयोगसे उन्हे ज़बरदस्ती नहीं रोका जा सकता। समझ-बूझकर रोका जा सके, तो दूसरी बात है।

१०—सन्तति

प्रश्न—विवाहको आप समाजके प्रति कर्त्तव्य ही मानते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ। तो फिर क्या संतानोत्पत्ति भी उसी कर्त्तव्यकी राहहीमें है? यदि है तो कैसे?

उत्तर—तात्कालिक कर्त्तव्य, मैंने पहले भी कहा, कि, दो चीज़ोंके मेलसे बनता है; एक आदर्श, दूसरे संभव। काम-वासनासे छुट्टी बिरले व्यक्तिको मिलती है। विवाहमें उस कामवृत्तिके लिए रोक भी है और छूट भी है। आजके मनुष्यको देखते हुए विवाहको एक कर्त्तव्य कहना ही चाहिए। बिरले व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकते हैं। ब्रह्मचर्य आदर्श भले हो, किन्तु वह नियम नहीं हो सकता। वह अपवाद ही है। ब्रह्मचर्यको सामने रखकर विवाहका आदेश है। विवाहमें संभोगकी छूट है, किन्तु वहाँ संभोग लक्ष्य रूप नहीं है। लक्ष्य तो संभोग-परिमाण या संयम ही है। इसलिए, सब देखते हुए कहा जा सकता है कि संततिका उत्पादन एक सामाजिक ऋण है और एतदर्थ विवाह भी कर्त्तव्य कर्म है।

प्रश्न—संततिका उत्पादन एक सामाजिक ऋण है, तो क्या जो अंत तक ब्रह्मचारी रहकर जीवन बिता देते हैं, उनपर समाजका ऋण रह जाता है?

उत्तर—जो कोरे ब्रह्मचारी रहते हैं, यानी ब्रह्मचर्यद्वारा जो शक्ति संग्रहीत होती है उसको फिर समाजकी सेवामें नहीं लगा देते, ऐसे लोगोंपर समाज-ऋण शेष रह जाता हो, तो मुझे अचरज न होगा। किन्तु, ब्रह्मचर्यका पालन व्यक्तिको सार्वजनिक सेवाके अधिक योग्य बना देता है, यह तो निर्विवाद है। ऐसे लोग समाजको संततिका दान अवश्य नहीं करते, पर अपनेको कुलका कुल ही विश्वके अर्थ होम जाते हैं। इससे बड़ी उऋणता और क्या होगी? हाँ ब्रह्मचर्य, यानी अविवाहित अवस्था, अपने आपमें कोई कारनामा (achievement) नहीं है।

प्रश्न—ब्रह्मचर्यद्वारा संग्रहीत शक्तिको यदि समाजके प्रति वे

नहीं लगाते हैं, तो वे उन लोगोंकी अपेक्षा आखिर समाजके प्रति कौन बड़ा अहित करते हैं जो उसी शक्तिसे संतानोत्पादन करते हैं? क्या जीव-क्रम चलना और चलना ही चाहिए, ऐसी कुछ अनिवार्यता और आवश्यकता है?

उत्तर—हाँ, प्रकृतिकी ओरसे ऐसी ही कुछ अनिवार्यता मालूम तो होती है। यदि जीवन है तो वह अभिव्यक्त भी होगा। नहीं तो, जीवन क्या है? जिसको उत्पादन कहते हैं, वह फलकी दृष्टिसे तो उत्पादन है, पर मूल प्रेरणाकी दृष्टिसे तो उसे अभिव्यक्ति ही कहना चाहिए। जीवनके माने हैं निरन्तर प्रवाह-शील चैतन्य। चैतन्य चैतन्यको जन्म देता है। ऐसे महापुरुष जिन्होंने अपनेको समूचे तौरपर चैतन्य-जागृतिमें लगा दिया, वे सहज रूपसे ब्रह्मचारी भी रह सके। पर कोरी ठान ठानकर कौन ब्रह्मचारी रह पाया है? कोई अगर रहा भी हो, तो वह उस ब्रह्मचर्यके परिणाममें कुछ अक्खड़ और असहिष्णु बन गया होगा। असहिष्णुता और अक्खड़पन असामाजिक हैं। ऐसा ब्रह्मचर्य भी हित-कर नहीं है। विवाह मेरे ख़याल्में स्वभाव-पालन और स्वभाव-विकासकी राहमें आ ही जाता है। मुझसे पूछिए तो विवाहको मैं अनिवार्य ही कह सकता हूँ। जिनके लिए फिर ब्रह्मचारी रहना वैसा ही अनिवार्य हो, उन्हींको हक़ आता है कि वे अविवाहित रहें। अविवाहित-पनको अपने आपमें कोई बड़ी चीज़ मानना ग़लत है। मैं सोचता हूँ कि जो ब्रह्मचारी समझे जानेके मोहके कारण विवाहसे मुँह मोड़ते हैं, वे अपना या समाजका लाभ नहीं करते।

प्रश्न—संतानोत्पत्तिमें स्वभाव अथवा प्रकृति-रूपसे मानव-शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। किन्तु, अभिव्यक्तिको समाजके प्रति कर्तव्यकी डोरमें बाँधकर भी क्या हम संभवनीय समझ सकते हैं? यदि ऐसा नहीं, तो वह कर्त्तव्य क्यों कर कही जा सकती है? दूसरे, क्या स्वभाव भी कर्त्तव्य-अकर्तव्यकी रेखाओंसे घिर सकता है?

उत्तर—अभिव्यक्ति, सच तो यह है कि, एक अनिवार्यता ही है। इसलिए शुद्ध तात्त्विक दृष्टिसे कहा जाय तो कहना होगा कि जो कुछ हो रहा है, वह किसी तत्त्वकी अभिव्यक्ति ही है। किसीके किये-धरे कुछ नहीं हो रहा है।

भाग्य ही अपनेको निष्पन्न कर रहा है या विधि अपनी लीला दिखा रही है। मूल सत्ता अवैयक्तिक है।

किन्तु, जब हम व्यक्तिकी परिभाषामें विचार करते हैं, तो 'होना' 'करना' हो जाता है। अगर हम अपनेको मात्र भवितव्यताका आखेट न मानना चाहें, तो कहना उचित होगा कि जो कुछ हो रहा है, वह 'हो' ही नहीं रहा है, बल्कि हम उसमें बहुत-कुछ कर भी रहे हैं। Being, thus, becomes doing 'करना' 'होने'की परिभाषा है। इस तरह दीख पड़ेगा कि प्रत्येक व्यापार दोहरी प्रेरणासे संभव होता है। एक अन्दरकी स्फूर्ति, दूसरी बाहरकी माँग। जो कर्म अन्तःप्रेरणाके दृष्टिकोणसे मात्र अभिव्यक्ति प्रतीत होगा, वही बाहरी माँगके लिहाज़से उपयोगी, प्रयोजनीय, एवं कर्त्तव्य कर्म कहलायेगा। इस भाँति संतति-उत्पादन अपनी अन्तस्थ वृत्तियोंकी अपेक्षा स्वाभिव्यक्ति ही है, फिर भी, सामाजिक कर्तव्यकी भावनाको वहाँ पूरे तौरपर रहनेकी गुंजायश है।

यह सच्ची बात है कि 'अभिव्यक्ति' शब्दकी अनायासता और 'कर्त्तव्य' शब्दमें व्यापी हुई नियंत्रणकी ध्वनि, ये दोनों परस्पर विरोधी दीख पड़ती हैं। अधिकाश और दूर तक वह विरोध हैं भी सही। फिर भी उन दोनोंके मेलमें सिद्धि है। वह मेल संभव है। सहज-प्राप्त न हो, किन्तु साध्य इष्ट वही है।

परिणाम निकला कि प्रत्येक कर्मकी सचाईके दो बाहरी लक्षण हैं। पहला, एक आनंद-भाव जो कि इस बातको प्रमाणित करता है कि यह कर्म व्यक्तिके लिए बंधन-रूप न होकर अभिव्यक्ति-रूप है। दूसरा है हिताहित-विचार अथवा विवेक, कि जिससे प्रमाणित होगा कि वह कर्म मन-माना नहीं है, किन्तु सुविचारित और लक्ष्ययुक्त है।

संयम जहाँ आनन्दका नाशक है, वहीं मानो वह अपने मूलको खाता है। और जहाँ आनन्द-भाव विवेकहीन हो चलता है, वहाँ मानो वह अपनी निष्कलुषताको खो देता है। मैं यह मानता हूँ कि कर्त्तव्य-भावनाको भुला देना प्रेमके जागरणके लिए आवश्यक नहीं है।

प्रेम अंधा है, मैं इस उक्तिसे असहमत नहीं हूँ। जो बस चामकी आँख जितनी दूर तक देखता है, वह सचमुच प्रेम नहीं है। प्रेमको अंधा इसी अर्थमें स्वीकार करना मैं चाहता हूँ कि वह वह देखता है जो आँख नहीं देख सकती है। वह

दोमें एकको देखता है। उसके लिए दोकी दुईको सहना मुश्किल होता है। इसीलिए, प्रेम अंधा तो हुआ ही, लेकिन, ऐसा अंधापन श्रेयस्कर है।

जिसको सामाजिक कर्त्तव्य-भावना कहो, वह किसी विषमतामें ऐक्यको साधेनकी चेष्टाका ही नाम है। प्रेम भी उसीका नाम है। तब अन्ततः ये दोनों विरोधी कैसे हो सकते हैं? इसीसे तो आगे जाकर कहना पड़ता है कि धर्म प्रेम है।

प्रश्न—अभिव्यक्तिका आनंद दो प्रकारका हो सकता है, एक इन्द्रिय-गत और दूसरा इन्द्रियातीत। और इन्द्रियातीत आनंद या तो हमारे इन्द्रियगतका प्रतिबिम्ब-स्वरूप होता है या कर्त्तव्य और विवेकके पालन-स्वरूप। कहना यह है कर्त्तव्य-विवेक अथवा सौन्दर्य-आदर्शके विकासके साथ वह इन्द्रियगत आनन्द संभव नहीं है। किन्तु, मैं समझता हूँ कि संतति-उत्पादन इन्द्रिय-गत अभिव्यक्ति अथवा आनन्दके बिना संभव नहीं है। और वह इन्द्रिय-गत आनन्द हमारे विकासके उस तलकी चीज है, जिसे छूट जाना है। तो क्या फिर एक समय मानव-विकासकी ऐसी स्थिति नहीं आ सकती कि जब उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही उस इन्द्रिय-गत आनंदको पार कर जाय जो संतति-उत्पादनके लिए आवश्यक है। तब क्या मनुष्य किसी अकर्त्तव्यका भागी होगा?

उत्तर—इन्द्रियोंकी अभिव्यक्ति कोई वस्तु नहीं है,—अभिव्यक्ति उन इन्द्रियोंद्वारा होती है। अर्थात् कोई आनंद ऐसा नहीं है जिसमें इन्द्रियाँ भाग न लेती हों। इसलिए, जिसको इन्द्रियातीत कहा, उसके अर्थ यह नहीं हैं कि इन्द्रियोंका उस आनंदमें असहयोग होगा, अर्थ यह है कि वह आनन्द अधिक व्यापक होगा और अधिक गहरा होगा। वह जल्दी टूटेगा नहीं और प्रतिक्रिया भी नहीं होगी। जो समय अथवा पात्रकी दृष्टिसे जितना ही संकीर्ण (Exclusive) है, उसे (समझानेके लिए) उतना ही ऐन्द्रियिक कहना होता है। यों तो मनो-विज्ञान बतलाएगा कि उसका मूल भी इन्द्रिय-विषयोंमें न होकर कहीं गहरे (Subconscious) में होता है।

यह ठीक है कि संतति-उत्पादन अनिवार्यरूपसे वैषयिक कर्म है। उसमें पूर्ण अनासक्ति असंभव है। इसलिए, एक जगह जाकर प्रेमी (महाप्रेमधारी)

पुरुष विषय-प्रसंगके अयोग्य ही हो जाता है । ऐसी स्थिति समाजके लिए लाभकर ही होगी, क्योंकि उस व्यक्तिका प्रेम स्थूल संभोगमें तनिक भी तृप्ति न पाएगा और इसलिए समाज-हितके प्रति वह प्रेम अधिकाधिक विवश भावसे बहेगा ।

प्रश्न—मानव-विकासके उपर्युक्त स्थिति तक पहुँचनेका विचार करके, मानव-समाजके किसी समय सर्वथा ही लोप हो जानेकी संभावना है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—संभावनाको क्यों हम छोटी करें । उस संभावनासे डरनेकी जरूरत नहीं है । महान् वैज्ञानिक कहते हैं कि जाने कितने लाख वर्ष बाद यह हमारी पृथ्वी ही न रहेगी । इसपरका जीवन (प्राणी-जीवन) तो उससे पहले ही निबट चुकेगा । अगर ऐसा होनेवाला हो, तो क्या उससे आजके हम मानव-प्राणी डरें ? कौन चीज़ नाशवान् नहीं है ? इसलिए किसीके समाप्त होनेकी आशंका,—चाहे फिर वह हमारा समाज ही हो, चाहे हमारा कोई मान्य देवता हो,—हमें क्यों विचलित करे ?

और मुक्तिमें मृत्यु गर्भित है । मोक्षकी बौद्ध-संज्ञा निर्वाण है । समाज जिस क्षण लुप्त होगा, उसी क्षण वह अपनी सार्थकता पा चुका होगा, यह मान लेनेमें हमें क्यों कुछ कष्ट होना चाहिए ?

प्रश्न—ख़ैर, दुनिया न रहे न सही, किन्तु क्या सुख-दुखका विचार करते हुए संततिको जन्म देकर मनुष्य एक निरा पाप अथवा अन्याय ही नहीं करता है ? उसे अपनी ऐन्द्रियिक अभिव्यक्तिका हक़ भले ही हासिल हो, किन्तु, दुनियाके प्रपंचमें डालनेके लिए जीवोंको जन्म देनेका उसको क्या अधिकार है ? और इस तरह क्या हम नहीं कह सकते कि संतति न उत्पन्न करनेके लिए भी वह ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे, और ब्रह्मचर्य व्रतका पालन यदि न भी करे, तो कमसे कम संतति-उत्पादन न करे ?

उत्तर—संतति उत्पन्न न करनेकी इच्छा मौलिक नहीं है, वह प्रतिक्रिया है । आदमी अपनी संततिमें जीता है और कोई आदमी मरना नहीं चाहता । यानी मनुष्य-मात्र संततिद्वारा मानो अपने जीवनको सदा क़ायम रखना चाहता है ।

संतति-उत्पादन पाप है, यह शायद इस लिहाज़से कहा या समझा जा

सकता है कि अब भी काफ़ी आदमी हैं जिनको भर-पेट खाना नहीं मिलता और जो मानव-समाजके लिए रोग-रूप हैं। जब अब भी मनुष्योंकी पर्याप्तसे अधिक संख्या है, तो संतति-उत्पादनद्वारा उसमें और बढ़वारी करना कौन बुद्धिमत्ता है ?

तो जिस तलका यह तर्क है, संतति-उत्पादनके प्रश्नका उस तलपर विवेचन समीचीन न होगा। हम मनुष्य-जातिका गणितके सिद्धान्तोंसे संचालन नहीं कर सकते। आंकिक सिद्धान्तोंसे मानव-कल्याणका निर्माण न होगा। यह कह कर कि बूढ़ोंसे हमें काफ़ी प्रतिफल प्राप्त नहीं होता है, इसलिए उन बूढ़ोंको एक साथ यम-घाटसे पार उतार दिया जाय,—संभव है कि प्रयोजनको (Utility को) ध्यानमें रखकर कोई शास्त्र गंभीरतासे इसी प्रकारका उपाय सुझाने चले। पर जिस रोज ऐसी बात आचरणीय ठहराई जायगी वह दिन प्रलयका भी होगा। पर मैं जानता हूँ, वह दिन कभी न होगा। क्यों कि विकास अवश्यंभावी है और मनुष्य पशु नहीं हो सकता। और भविष्य उजालेका नाम है।

इसलिए, संतति-उत्पादन यदि सामाजिक दृष्टिसे अनुपादेय भी हो जावे, तो भी हम उसको कृत्रिम साधनोंसे रोककर लाभ नहीं उठा सकेंगे। संयम ही संतति-निरोधका प्रथम और अंतिम कारगर उपाय है।

भोग भोगकर और फिर भी किसी चतुराईसे प्रजननको रोककर लोग अपने पैरों कुल्हाड़ी ही मारेंगे। मनुष्यको एकत्रित भावमें रखनेवाली वस्तु है नैतिकता। कृत्रिम निरोध अनैतिक है।

लेकिन, प्रकृतिके कामोंके बारेमें हम भ्रममें न रहें। बरसात होती है तो चारों ओर कितनी हरियाली दीखती है! जाने कितने प्रकारके पौधे धरती फोड़कर अपना सिर ऊपर उठा उठते हैं! लेकिन, क्या वे सब ही जीते हैं ? अधिकांश उनमें उगते नहीं कि मर भी जाते हैं। कुछ बिरले ही उनमें पुष्ट वृक्ष बननेका अवसर पाते हैं। क्या यहाँ हम यह कहें कि प्रकृतिने उन पौधोंको उगाकर पाप किया जिनको आगे जाकर वृक्ष नहीं बनना था ? यह कहना मेरी समझमें कोई विशेष महत्त्वकी बात न होगी।

तब फिर पाप-पुण्यकी कैसी विवेचना और कैसा समाधान! कानून बनाकर प्रजनन नहीं रोका जा सकता। जिस हद तक रोका जायगा, उसी अनुपातमें अनाचार भी फैलेगा। हम काम-प्रवृत्तिको, कुचल कर नष्ट नहीं कर सकते और

न उसके परिणामको नष्ट कर सकते हैं। हाँ, उस वृत्तिको अधिक चरितार्थताके मार्गपर डाला जा सकता है, और उसके फलको भी उन्नत किया जा सकता है। सृजनशील कला (Creative Art) वासनाका सात्त्विकरूप (Sublimated passion) है। क्या यह कहना ग़लत होगा कि जिसको प्रतिभा कहा जाता है, वह भी उसी मूल (काम-) शक्तिका परिवर्त्तित (उन्नत) प्रकार है।

प्रश्न—किन्तु, प्रश्न है कि अच्छेसे अच्छे संसारकी कल्पना करते हुए भी आप मनुष्यको इस बातका अधिकारी कैसे मानते हैं कि वह अपनी बहकी इच्छा-पूर्त्तिके लिए,—वह इच्छा भले ही वंश चलानेकी हो,—संततिको जन्म दे? दूसरे, जब संसार रहने लायक नहीं है, तब क्या यह विवेक-युक्त नहीं कहा जा सकता कि वह संततिको जन्म न दे?

उत्तर—कहा जा सकता है। लेकिन, इसका तो यही मतलब हुआ कि क्या ब्रह्मचर्यका उपदेश नहीं दिया जा सकता? और कि क्या विषय-भोगोंके दुखद परिणामोंकी याद दिलाकर उस ब्रह्मचर्यके उपदेशका पोषण नहीं किया जा सकता? मैं समझता हूँ कि यह सब कुछ किया जा सकता है, किया जाता है, और करना उचित है।

किन्तु, प्रश्न यह शेष रहता है कि संभोगके परिणामोंको (जिनको आप बुरा क़रार देते हैं) ऊपरके प्रकारके उपदेश-आदेश आदिसे आगे और अलग क्या और भी उपायोंसे रोकनेकी चेष्टा की जा सकती है, और क्या वह चेष्टा उचित है?

तो यहाँ मेरा उत्तर है, 'नहीं'। दुनिया पहलेहीसे जीनेके लिए सुखकर जगह नहीं है, इसलिए, किस अधिकारसे हम एक नवीन प्राणीको यहाँ पैदा करके उसे जीवनके दुख उठानेके लिए लाचार करें? और वह पैदा इसीलिए हो न कि एक दिन मरे!—तो मैं कहता हूँ, कि यह और भी बड़ा कारण है कि हम विषय-भोगोंसे निवृत्ति पाएँ।

लेकिन, इस तर्कके सहारे काम-वासनासे निवृत्ति कहाँ प्राप्त हो सकी है? क्या वैसी निवृत्ति अब तक कभी कहीं हो पाई है? अतः क्या हम प्रजननको

निन्दित ठहरा कर उसे हठ-पूर्वक रोकनेकी चेष्टा न करें ? तो मेरा उत्तर है कि चाहे तो ऐसी चेष्टा कर देखें, पर वह अकारथ होगी।

संभोगको जो उत्तरोत्तर संयमसे बाँधनेका प्रयास मानव-जाति करती चली आई है, उसके माने ही यह हैं कि अनर्गल प्रजनन रुके। किंतु, कृत्रिम संतति-निरोध अगली संततिको रोके अथवा न रोके, पर इस संततिको तो वह निर्बल ही बनाकर छोड़ेगा। कहा जा सकता है कि उससे दोहरा नुकसान है। अगर उस प्रकारके संतति-निरोधको लाभ भी कह दिया जाय, जो कि असलमें वह है नहीं, तो भी उससे होनेवाली तात्कालिक हानि तो स्पष्ट ही है।

मैं स्पष्टतया संयमके अतिरिक्त दूसरे उपायोंसे गर्भ-निरोधके पक्षमें नहीं हूँ।

प्रश्न--क्या आप किसी ऐसी कामावस्थाको माननेके लिए तैयार हैं जब मनुष्यका अपनेको खाली (purge) करना जरूरी और वांछनीय ही हो ?

उत्तर—हाँ, जो भोग तात्कालिक सामाजिक विधानको बिना तोड़े भोगा जा सकता है वह नाजायज़ नहीं है। उससे आगे बढ़नेका हक़ मनुष्यको नहीं है।

यदि प्रश्न हो कि क्या अपराधीके लिए अपराध ज़रूरी है, तो इसका क्या उत्तर बनेगा? ज़रूरी न बन गया होता तो अपराध होता ही क्यों? लेकिन, इतना कहकर भी वह अपराध दंडनीय फिर भी ठहरता है। सामाजिक दंड-विधानके (Penal Codeके) दायरेमें जो आ जाय वह अपराध कर्म, चाहे वह अपराधीके दृष्टि-कोणसे लाचारीका परिणाम ही हो, क्या उस कारण दोष-हीन हो जायगा ? एक व्यक्ति अपने बच्चोंकी भूख न सह सकनेके कारण चोरीका अपराध करता है। इस हालतमें चोरीको जरूरी कहा जाय या नहीं ? शायद है कि अदालती जज भी वैसी दारुण भूखकी परिस्थितिमें चोरीके अतिरिक्त और कुछ न कर सकता। फिर भी, चोरी चोरी समझी जायगी और परिस्थितियोंके कारण वह व्यक्ति निर्दोष न कहलाएगा। अपराध-विज्ञान अधिकाधिक हमको यह बतलाता जाता है कि उस अपराध-वृत्तिसे छुटकारा पानेके लिए यह अधिक संगत है कि हम उस अपराधको अपराधीके स्थानसे देखें, न कि जजके स्थानसे। तब अपराधीको दंड देनेके बजाय अपराधके मूलको निर्मूल करनेकी प्रेरणा अधिक होगी।

इसीलिए, ऊपरके उदाहरणमें मैं यह कहना चाहूँगा कि काम-वासनाको निषेध-नियमोंसे बाँधनेसे अधिक यदि किन्हीं उपयोगी प्रणालियोंमें ढाल देनेकी चेष्टा की

जावे, तो यह अधिक कार्यकारी होगा। जिसका मतलब यह होता है कि नैतिकताकी वृद्धिकी दृष्टिसे हम सामाजिक संघटन और उसके आर्थिक बँटवारेकी विषमताको न्यूनसे न्यूनतम करें। जीवन समूचा एक तत्त्व है और आर्थिक दुश्चिन्तासे घिरनेपर नैतिक स्थिरता और उच्चता दुर्लभ ही बनती है।

प्रश्न—संभोगमें संयम एक साधना है और सांस्कृतिक विकास-द्वारा ही विकसित होनेवाली चीज है। उसकी सिद्धि होनेतक कुछ न कुछ असंयम हो ही जाता है। किन्तु, उस कमसे कम एवं अनिवार्य असंयमको अवांछनीय संतति-उत्पादनका कारण भी क्यों बनने दिया जाय, और कृत्रिम उपायद्वारा ही क्यों न उसके दुष्परिणामसे रक्षा की जाय?

उत्तर—कौन जाने जिस संततिको अवांछनीय कहकर हम कृत्रिम साधनोंसे रोकते हैं, वह किस हदतक अवाछनीय है। क्या इस निर्णयमें हमारा मोह भी नहीं हो सकता? मैं देखता हूँ कि समर्थ दंपति, जिनके पास सामर्थ्य है और शिक्षा है, वे अपनी स्वच्छंदता बनाये रखनेके लिए और संभोग निर्बाध रखनेकी इच्छासे कृत्रिम उपायोंसे संततिसे बचते हैं। हमको अपने कर्म-फलसे बचनेका हक़ नहीं है। वैसा बचाव संभव भी नहीं है। स्वाभाविक फलसे बचेंगे तो अस्वाभाविक परिणाम हमपर हावी हो जावेंगे। जिसको दुष्फल कहा (अथात् संतति) उसको संयमसे बचानेकी क्षमता जब तक नहीं है, तब तक चलो, अपनी चतुराईके बलसे बच जायँ, यह कहना अपनेको धोखा देना ही है।

अव्वल तो कौन जाने कि कौन बच्चा आगे क्या कुछ निकलेगा। गरीबोंके बच्चोंने इतिहासमें क्या कम चमत्कार दिखाये हैं? इसलिए, अव्वल तो यही संदिग्ध है कि संतति-उत्पादन दुनियाकी दृष्टिसे अनिष्ट ही है। पर, यह मान भी लें, तो मैं समझता हूँ कि उसूल तो यही पक्का है कि आँख भुगतनेपर खुलती है। संतति बढ़ती जायगी तो माता-पिताओंके निकट संयमकी आवश्यकता भी प्रकट होती जायगी। फिर भी, उसके पालनमें यदि वे शिथिल होंगे, तो और क्लेश उठायेंगे। आखिर उन्हें आँखें खोलनी ही होंगीं। नहीं, आँखें खोलेंगे तो संभव है कि बिलखते ही उनके सब दिन कटें।

और भाई, यह समझना भयंकर है कि दुनियाको बच्चोंकी और जवानोंकी जरूरत नहीं। वे सदा जरूरी हैं और चूँकि आजके बच्चे कल जवान और कलके

जवान परसों अधेड़ हो जाते हैं, इसलिए, सदा नवीन संतति चाहिए जो कि मौतपर जीवनके विजयकी घोषणा हों।

प्रश्न—संतति-उत्पादनके प्रति प्रायः महान् पुरुषोंकी अरुचि होती देखी गई है और संस्कृति-विकासके हेतु वैसा होना स्वाभाविक भी है। किन्तु, समाज यदि उनकी संततिको देखना चाहती है, तो क्या उसकी यह माँग अनुचित होगी और उसके पूरी किये जानेकी कोई गुंजायश है ?

उत्तर—जिनको महापुरुष कहा जाय, वे अपने पूरे स्वत्वका ही समाजको दान कर जाते हैं। उससे अधिक भी समाज उनसे कुछ माँग सकती है, यह मेरी समझमें नहीं आता। पुत्र-दान आत्म-दानसे बड़ा नहीं है। जो एक पुत्रको अपना बनाता है, वह मानो उसी कारण अन्य बालकोंको पराया भी बना देता है। क्या आप चाहते हैं कि सभी इतने संकीर्ण हों ? अर्थात् कोई उतने व्यापक व्यक्तित्वका पुरुष न हो जो अपना आत्मज हुए बिना भी सभी बालकोंको अपना मान सके।

एक और भी बात इसी प्रसंगमें याद रखने योग्य है। वह यह कि विचक्षण पुरुषोंकी संतान अधिकांश अयोग्य होती है। ऐसा क्यों होता है, इसका जवाब देनेकी कोशिश मैं नहीं करना चाहता। अकारण तो कभी कुछ होता नहीं। इस-लिए, कौन जाने कि प्रतिभावान्की संतानके हीन होनेमें कोई कार्य-कारण संगति भी हो। अतएव, इस मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक प्रतिभाशाली पुरुषको पिता देखनेका समाज आग्रह रक्खे।

११—सन्तति, स्टेट और दाम्पत्य

प्रश्न—संतति-उत्पादन राष्ट्रके निर्माणमें एक अहमियत रखता है। इसलिए वह राष्ट्रका प्रश्न भी हो जाता है। तो क्या संतति-उत्पादनमें राष्ट्रका हस्तक्षेप उचित और आवश्यक नहीं है ?

उत्तर—राष्ट्रका इस मामलेसे कुछ न कुछ तो संबंध है ही, किन्तु, सब व्यक्तियोंको पिता बने हुए देखनेका ज़िम्मा राष्ट्रका हो, सो नहीं। राष्ट्र-कर्म विविध-रूप है। गृहस्थ उसमें काम आता है तो संन्यासी राष्ट्रके उससे भी अधिक काम आ सकता है। फिर राष्ट्र-हित संन्यासीको गिरस्ती क्यों बनाना चाहेगा ?

इस संबंधमें कहना होगा कि स्टेट वहाँ तो हस्तक्षेप कर सकती है जहाँ कोई व्यक्ति असामाजिकताको बढ़ाता हो अथवा समाजको दूषित बनाता हो। यथा, स्टेटके लिए जरूरी है कि वह रोगियों और विक्षिप्तोंके आराम और इलाजके लिए अस्पतालोंका प्रबंध करे। वहाँ रहकर अपने रोगसे मुक्त होनेकी वे सब सुविधा पायें और उस रोगको समाजमें प्रविष्ट करनेकी सुविधा वहाँ उन्हें न हो। जब तक वे एक खास हदतक रोग-मुक्त नहीं हो जाते, स्टेट उन्हें अधिकार-पूर्वक प्रजोत्पादनसे अलग रख सकती है। इसी तरह अन्य असामाजिक प्रवृत्तियोंको फैलनेसे रोका जा सकता है। किन्तु यहाँ हम कुछ मौलिक प्रश्नके किनारे पहुँच गये हैं। वह प्रश्न है व्यक्ति-धर्म और समुदाय-धर्मका संबंध। प्रतिभा भी थोड़ी-बहुत असामाजिक वस्तु है। इसलिए शायद हरेक प्रतिभावान् मनुष्यको समाजकी अवज्ञा प्राप्त होती है। समाज आरंभमें उससे भरसक बचता है, उससे आशंकित रहता है और मैं कह सकता हूँ कि प्रतिभाका और समाज-विधानका जरूर संघर्ष चलता है। मैं इस हक़में नहीं हूँ कि सामाजिक विधान पहलेसे प्रतिभाके स्वच्छंद वर्त्तनके लिए अपनेमें छूट रक्खे। प्रतिभा भी एक प्रकारका पागलपन ही है। मैं समझता हूँ कि प्रतिभावान् मनुष्यके लिए लगभग वैसा ही प्रबंध होना चाहिए जैसा कि साधारणतया एक विशिष्ट राजनीतिक अपराधीके लिए होता है।

उसका भार स्टेटको लेना चाहिए। आशय यह कि उसके सामाजिक संपर्कके बारेमें उसपर प्रतिबंध आवश्यक हो सकते हैं। आप देखेंगे कि प्रतिभाशाली लोग स्त्री-प्रेमके विषयमें कुछ दुर्भागी होते हैं। जो नारी उन्हें प्रेम करे, वह पहलेसे अपनेको अभागिनी मान ले। इस लिहाज़से मुझे मालूम होता है कि यदि प्रतिभाशाली पुरुषोंके सामाजिक संसर्गपर स्टेट प्रतिबंध न भी लगाये, तो भी वे स्वयं अपने अन्दरसे ही ऐसी अड़चनें खड़ी कर लेते हैं कि उनके संसर्गसे समाज काफी हद तक बचा रहता है। वे बेचारे निसर्गसे कुछ एकांत सेवी-से होते हैं। उनका संपर्क मुश्किलसे झेला जाता है। वे या तो अहंकारी या अतिशय लज्जाशील होते हैं या — खैर, यह विषय कि समाज किसके मामलेमें कहाँतक हस्तक्षेप कर सकता है और कहाँ नहीं कर सकता, इतना व्यावहारिक है कि ऐन मोक़ेसे पहले इस विषयमें कोई फैसला करना ठीक न होगा।

कोई वजह नहीं है कि क्रान्तिकारीको एक स्टेट क्यों न जेलमें बंद कर दे, चाहे भवितव्य यही हो कि वह अपराधी बनकर जेल पानेवाला व्यक्ति ही थोड़े दिनों बाद शासनाधिकारी बने।

ऐसे उदाहरण इतिहासमें बिरले नहीं हैं। आजका राजा कल फाँसी पा गया है, उसी तरह कलका कैदी आँखों आगे प्रेसिडेण्ट बन गया है। किन्तु उसके प्रेसिडेण्ट बननेका समय आनेसे पहले कोई समाज सरकार उसे क्यों जेलमें बन्द करनेका अधिकार नहीं रखती, यह मेरी समझमें नहीं आता। इसी तरह मैं यह मानता हूँ कि राजा जबतक राजा है तबतक समाजके लिए मान्य है, चाहे अगले क्षण वह अपराधी ठहराया जाकर सूली ही चढ़नेवाला हो। व्यक्ति और समुदायके धर्ममें निरन्तर संघर्ष चलता है और उसीका फल प्रगति है। ईसाके मनमें समुदायकी भलाई ही थी, लेकिन तात्कालिक समाजने उसे सूली दे दी। सूली देनेके बाद उस समाजको चेत हुआ और ईसा एक महान् धर्मका प्रवर्त्तक हुआ। भविष्यमें चूँकि ईसा एक धर्म-प्रवर्त्तक होनेवाला था, इस हेतुसे ईसाकी सम-सामायिक समाजका उसे सूली देनेका अधिकार मेरी दृष्टिमें तनिक भी कम नहीं होता। किन्तु, उसके साथ मेरा कहना इतना ही है, कि, समाजके हाथों सूली पाते हुए भी, उसी समाजकी भलाई चाहनेका और उस भलाईको अपने तरीक़ेसे करते जानेका ईसाका अधिकार भी उसी भाँति अक्षुण्ण मानना होगा। व्यक्ति और समुदायके धर्मोंमें संघर्ष होकर भी उनमेंसे कोई स्वधर्म नहीं छोड़ सकता।

कानून इसलिए है कि व्यक्तिको रोके, किन्तु व्यक्ति इसलिए है कि सब क़ानूनोंके ऊपर जो एक क़ानून है और जिसकी ज्योति उसके भीतर है, उसकी तरफ़ चलता ही चले, किसीके रोके न रुके।

इस भाँति व्यक्तिकी गति और कानूनकी स्थितिमें टक्कर उपस्थित होती है।

किसीको इनमें हारनेका अधिकार नहीं है। स्थिति भी आवश्यक है, गति भी आवश्यक है। फिर भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इसी युद्धमेंसे जीवन संपन्न होता है।

इसलिये कब क्या हो, इसका जवाब तब और तब ही दिया सकता है;—यानी इसका जवाब जुदा केसमें जुदा होगा और बिना सामने कोई केस हुए वह जवाब न होना ही अच्छा है।

प्रश्न—किन्तु संततिके दायित्वसे बचने-मात्रके हेतुसे जो लोग उस ओर निश्चेष्ट हो गये हों, क्या स्टेट उन्हें अपराधी समझे और बाध्य करे ऐसा न होनेको ?

उत्तर—कोई कर्म असामाजिकताकी लहर फैलाये, तभी वह स्टेटके लिए विचारणीय बनता है, इससे पहले नहीं। विवाह सामाजिक कर्म है सही, लेकिन विवाह होता तो व्यक्तियोंका है। और पहले कहा जा चुका है कि सरकार वह उतनी ही अधिक सफल है जिसे जितनी कम नियन्त्रणकी आवश्यकता है। इस लिहाज़से इस संबंधमें सरकारी हस्तक्षेपके मैं विशेष हकमें नहीं हूँ।

प्रश्न—संततिके लालन, पालन और शिक्षणका अधिकार आपके विचारसे माता-पिताकी मर्जीके अनुसार होना चाहिए अथवा उसपर स्टेटका अधिकार होना चाहिए ?

उत्तर—स्टेटकी मर्जीका क्या अर्थ होता है ? 'स्टेट' शब्दको हम ऐसे व्यवहारमें न लायें कि मानो स्टेट कोई व्यक्ति है या कि वह जन-सामान्यसे अलग कोई सत्ता है। 'शिक्षा'का मतलब है व्यक्तिका समाजोपयोगी विकास। व्यक्तिकी उपयोगिता पहले अपनेसे और घरसे आरंभ होती है, यद्यपि वह वहाँ समाप्त नहीं होती। यानी माता-पिता और परिवारसे आगे बढ़कर क्रम-क्रमसे पुत्रको नागरिक होकर समाज और जातिके लिए भी उपयोगी होना पड़ता है। इसलिये क्यों न कहा जाय कि बालककी आरंभिक शिक्षा तो स्वभावतः माता-पिताके द्वार ही होती है। यह नहीं समझा जा सकता कि जन्मके दिनसे ही बच्चा कुछ सीखना

और पाना आरंभ नहीं कर देता। जब बालक औरोंसे मिलने-जुलने लगे, समझिये कि पाँचसे सात वर्षकी अवस्थाके मध्य, तब वह फिर कुछ सार्वजनिक रूपमें सीखनेका पात्र हो जाता है। यानी अब उसे परिवारके साथ साथ एक बड़े समुदायके बीचमें रहनेका अवसर मिलना चाहिये। उसीको कहिए पाठशाला अथवा स्कूल। शायद ऐसी शिक्षाका विचार करते समय हमारे मनमें दो ही सत्ताओंका विचार रहता है : एक स्टेट, दूसरा बालकका अभिभावक। लेकिन मेरे खयालमें स्टेटसे इधर और परिवारसे आगे बढ़कर और भी सांघिक संस्थाएँ (=Public Institutions) होती हैं। वे अधिक आदर्श-प्राण होती हैं, क्योंकि शासन-चिंतासे वे मुक्त होती हैं। मैं समझता हूँ, सबसे अच्छी बात तो यह हो कि ऐसे सार्वजनिक हितका ध्यान रखनेवाले निस्पृह लोग अथवा उनका संघ अपने आपमें शिक्षण-संस्थाओंके केन्द्र बन जाएँ।

ऐसा होनेतक स्पष्ट रूपमें स्टेटका कर्त्तव्य होता ही है कि वह बच्चोंकी प्राथमिक शिक्षाकी व्यवस्था करे। वह शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क होनी चाहिये।

'अनिवार्य'से यह आशय नहीं कि कोई बच्चा सरकारी स्कूलके अतिरिक्त और किसी प्रकार कुछ सीख न सके, अथवा कि स्वाधीन प्रयोगका अवकाश न रह पाए। आशय यही कि कोई बालक शिक्षासे वंचित न रहने पावे।

प्रश्न—किन्हीं अभिभावकोंके और राष्ट्रके (=स्टेटके) जीवनसंबंधी आदर्शमें विचार-भेद हो सकता है। उस समय बच्चोंके जीवन-निर्माणका अधिकार अभिभावकोंका है अथवा स्टेटको?

उत्तर—अमुक अवस्था तक अभिभावकोंसे बच्चोंकी ज़िम्मेदारी नहीं छीनी जा सकती। कुछ आगे जाकर बेशक राष्ट्र उस ज़िम्मेदारीको बँटाने लगता है। अभिभावकोंकी ओरसे यह खतरा है कि वह व्यक्ति-गत अथवा परिवार-गत स्वार्थोंकी परिभाषामें बालकके भविष्यको देखना और बाँधना चाहने लगें। तब राष्ट्रकी ओरसे भी यह आशंका है कि वह अपनी पर-राष्ट्र-नीतिकी वेदीपर उपयुक्त बलिपात्र बननेकी आशा बच्चोंसे रक्खें। दोनों तरफ़ ही अनिष्टका खतरा है, इसलिये लगे हाथ यह नहीं कहा जा सकता कि बच्चे किसीकी मिल्कियत हैं, अभिभावकोंकी अथवा कि सरकारकी। असलमें तो बच्चे मिल्कियत किसीकी नहीं हैं, क्यों कि वे चैतन्य प्राणी हैं। अतः उनकी शिक्षाका बन्दोबस्त कुछ

ऐसा होना चाहिए जो कि उन्हें एक ही साथ योग्य पुत्र और योग्य नागरिक बनाए जिससे कि पारिवारिकता निवाहनेमें नागरिकताका हनन न हो, और सार्वजनिक सेवाके व्यवसायमें गृहस्थ-धर्मका अंत न हो जाय।

सरकार अपनी लड़ाइयाँ लड़नेके लिए सिपाही चाहती है, माँ-बाप पारिवारिक परिग्रह बढ़ानेके लिए, जैसे भी हो, मोटी कमाई चाहते हैं। शिक्षाका उद्देश्य न लड़ाईमें मरना-मारना है और न कमाईको मोटा करते जाना है।

इसलिए जब जब राष्ट्र अथवा अभिभावक अपनी अर्थ-स्पृहाकी तृप्ति संततिसे चाहें, तब वे शिक्षाके संचालनके अधिकारके अपात्र भी हो जाते हैं। इसीसे तो ऊपर कहा गया है कि अच्छा यह होगा कि नैतिक निष्ठा और ब्राह्मण-वृत्तिके लोग अथवा ऐसी सार्वजनिक संघ-संस्थाएँ अपनेको शिक्षाका केन्द्र बना लें। विकार-हीन शिक्षाका मार्ग तो यही मालूम होता है।

प्रश्न—एक स्वाधीन देशकी, यानी स्टेटकी, सम्मति एक व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, अनुभव-प्राप्त, मूल्यवान् और माननीय होनी चाहिए,—ऐसी श्रद्धा रख कर यदि व्यक्ति संततिको स्टेटके हाथ सौंप दे, तो क्या अकर्त्तव्यका भागी होगा?

उत्तर—विवेकपूर्वक अगर वह ऐसा करे तो इसमें कोई अकर्त्तव्य जैसी बात नहीं है।

प्रश्न—पति-पत्नीमें मत-भेद हो तो उस समय उन दोनोंका क्या कर्त्तव्य होगा? अपने मतका उत्सर्ग अथवा उसपर आग्रह?

उत्तर—ज़बर्दस्तकी जीत होगी।

प्रश्न—लेकिन क्या जबर्दस्त होनेके लिए अपने अपने मतपर अड़े रहना होगा? यदि ऐसा है तो निर्णय किस प्रकार होगा?

उत्तर—जिससे जो बनेगा करेगा। अहिंसक संकल्प विजयी होगा।

प्रश्न—आखिर पति-पत्नीके मत-भेद जैसी परिस्थितियोंमें 'करने' का अर्थ क्या लिया जाय? सत्याग्रह? तब तो पग-पगपर सत्याग्रह हुआ करेगा। इसके बजाय क्यों न उनमेंसे किसी एकके लिये यह नियम बना दिया जाय कि ऐसे समय उसके लिए झुकना ही आवश्यक होगा।

उत्तर—बना लो नियम। लेकिन झुकेगा वही जो कमजोर होगा। मान लो, नियम पास हो गया कि स्त्री झुके। अच्छा, नियमके मुताबिक़ स्त्रीको ज़िदसे रोक दिया गया। वह रुक गई। लेकिन उसका मुँह तो खट्टा बन ही आया। उसको तो नियमसे नहीं रोका जा सकता न? उस खट्टे बने मुँहको देखकर पुरुषका चित्त पानी हो गया, या दहल आया। बस, इसपर उसने अपना आग्रह छोड़ दिया। तब उस हालतमें क्या हो? इसलिए, सच मानिए, कि नियम चाहे एक न हो, विजय अहिंसक संकल्पकी ही होगी। और कोरे अथवा अस्थिर मिजाज़की हार होगी। इसमें स्त्री-पुरुषका सवाल नहीं है।

प्रश्न—समाज-सेवाके हेतु आश्रित परिवारको कष्ट देनेका हक़ क्या मनुष्यको हो सकता है?

उत्तर—हक़ कर्त्तव्यमेंसे आता है। यदि कर्त्तव्य-भावनासे किया गया कर्म किसीके लिए थोड़े-बहुत कष्टका कारण होता है, तो क्या बचाव है?

प्रश्न—किन्तु, क्या उन आश्रितोंके प्रति उसका कुछ कर्त्तव्य नहीं होता?

उत्तर—'किं कर्त्तव्यमकर्त्तव्यं कवयोऽप्यत्र मोहिताः', यह गीताजीका कथन है। तब मैं क्या चीज़ हूँ?

१२—सौन्दर्य

प्रश्न—आपने पहिले बताया है कि विवाह-संयोगका निर्णय बाह्य आकर्षणसे प्रेरित नहीं होना चाहिए। किन्तु, विवाह होनेपर क्या उन्हें शारीरिक सौंदर्यकी परवाह करना पाप होगा।

उत्तर—नहीं, शारीरिक सौन्दर्यकी परवाह करना न विवाहसे पहिले न विवाहके बाद पाप है। किन्तु, सौन्दर्य स्वास्थ्यसे अलग और क्या है ? अस्वस्थ रहनेका या स्वास्थ्यके बारेमें लापरवाह रहनेका हक किसीको नहीं है।

प्रश्न—किन्तु, सौंदर्यके लिए आकर्षण आवश्यक है, और आकर्षण ही उसकी कसौटी है। तो क्या सौंदर्यकी रक्षा आकर्षणके लिये की जाय? यदि की जाय तो क्या यह ऐन्द्रियिक विषयकी पुष्टि करना न होगा ?

उत्तर—सौन्दर्यमें आकर्षण आवश्यक है। शारीरिक सौन्दर्य, किन्तु, शरीरकी अमुक बनावटके कारण नहीं होता। सौन्दर्यका संबंध आकारसे नहीं है। सौन्दर्य भावात्मक तत्त्व है। इसलिये तात्त्विक दृष्टिसे सौन्दर्यके साथ 'शारीरिक' विशेषण लगाना उपयुक्त नहीं। किसी सुन्दर कन्याको बिजली छुआ दी जाय, तो इससे आकार तो नहीं बिगड़ेगा, केवल अन्दरकी जान चली जायगी। किन्तु, इस प्रकार, क्या फिर उस बे-जान देहको भी सुन्दर कहा जा सकेगा ?

अतः सौंदर्य एक चैतन्य-भाव है। जो उसे शारीरिक तलपर देखते और ग्रहण करते हैं, उनकी चेतना प्रधानतासे शारीरिक तलपर है, ऐसा समझना चाहिए। असलमें तो दीखनेवाले सौंदर्यके भीतरसे स्थूल दृष्टिसे न दीख सकने योग्य ही कुछ व्यक्त हो रहा है। अर्थात्, रूप भीतरसे गुण है। जो अव्यक्त है उसे गुण कहा, तब उसीके व्यक्त भावको रूप कह दिया। गुण इन्द्रिय ग्राह्य हो-कर रूप-मय हो जाता है। रूपको गुणकी अपेक्षामें, अर्थात् उसे संपूर्णतामें, देखनेसे दैहिक ममत्व नहीं जागता। रूपको गुण-भावमें देखनेकी क्षमता न होनेसे सौंदर्य दैहिक और रूपज जँचने लगता है। सौंदर्यका इसमें दोष नहीं है। दोष मानव-बुद्धिका है जो दैहिक विकारसे गँसी रहती है।

प्रश्न—उपर्युक्त बिजली छुआनेके उदाहरणमें यदि साथ ही एक भद्दी शक्लकी लड़कीको भी बिजली छुआकर निर्जीव किया जाय, तो क्या तब उस भद्दी और उस सुन्दर लड़कीके रूपमें सौंदर्यके किसी अन्तरका भान न हो सकेगा?

उत्तर—आप देखेंगे कि उचित उम्रपर आकर भद्दी लगनेवाली शक्ल भी बहुत कुछ आकर्षक हो आती है। वह क्यों? यौवनावस्थामें जो आकर्षण होता है वह और अवस्थामें क्यों नहीं होता? मंगोलियन चेहरा हमें शायद ठीक न जँचे, पर क्या इस कारण मंगोलियन जातिमें परस्पर आकर्षणका अभाव अनुभव होता होगा? ऐसे ही नीग्रो-सौंदर्यकी भी बात समझनी चाहिए। इस सबसे, सौन्दर्य आपेक्षिक है, यह तो मान ही लिया जायगा।

प्रश्न—सौंदर्यकी रेखाएँ भावोंसे निरूपित होती हैं। किन्तु, क्या रेखाएँ ही उन भावोंको प्रदर्शित करनेके लिए सफलता-पूर्वक नहीं बनाई जा सकतीं? चित्रकला और अभिनय क्या इसका प्रमाण नहीं हैं?

उत्तर—मुझे मालूम होता है कि सौंदर्य अन्तरंग आकांक्षाका प्रति-बिम्ब है। अपने आपमें वह बिम्ब है और दीखनेवालेकी दृष्टिसे वह ही प्रति-बिम्ब है। मेरे भीतरका भाव, जो भी वह हो, मुझपर बिंबित हुए बिना नहीं रह सकता। वह मेरी झलक ही है मेरा सौंदर्य। अगर वह झलक दूसरेमें कुछ तरंग पैदा कर देती है, तो वही उसके निकट होगी सौन्दर्यानुभूति।

अब चाहे रेखाएँ हों, चाहे पत्थरकी मूरत हो, और चाहे ध्वनि अथवा शब्द या अभिनय हों, सभीमें यह कसौटी काम दे सकती है। रेखाओं अथवा अन्य उपादानों द्वारा मैं जितना दूसरेके हृदयको तरंगित कर सकता हूँ, उतना ही मैं उन रेखाओं अथवा अन्य उपादानोंको सौंदर्य दे सका हूँ, ऐसा कहा जा सकता है। मेरा मत है कि रेखाएँ ड्राइंगके सहारे नहीं, बल्कि सुंदर बन सकेंगी तो मेरी अपनी अंतरंग आकांक्षाको अभिव्यक्त करनेके कारण ही सुन्दर बन सकेंगीं।

इससे मैं कहूँगा कि सौंदर्य आकांक्षाका प्रतिबिम्ब है।

प्रश्न—एक नव-जात बच्चेके मुखपर दर्शकको अपनी किसी आकांक्षाका प्रति-बिम्ब तो मिलता हो, किन्तु उस प्रति-बिम्बके पीछे भी क्या कोई अन्तरंग आकांक्षा होती है?

उत्तर—जरूर होती होगी। बच्चेमें जगत्के प्रति अपार विस्मयका जो भाव है, वह क्या कम विमोहक है ? उसी अबोध अनन्य विस्मयकी झलक शिशुके चेहरेपर झलककर हमें क्यों न मोह ले ? वह भाव बीमारीमें मंद हो जाता है, तब उसका सौंदर्य भी हमें कम हुआ लगता है।

प्रश्न—सौंदर्य, माना, अन्तरंगका प्रति-बिम्ब है, किन्तु क्या 'मेक अप' जैसी चीज़से उसमें परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता ? किया जा सकता है तो क्यों और क्या वह उचित है ?

उत्तर—खाली 'मेक अप'से मेरे ख़यालमें असुन्दरता बढ़ती है। वह 'मेक अप' तो सहायक भी हो सकता है जो किन्हीं विशेष परिस्थितियोंके साथ हमारे मनका तादात्म्य बढ़ाये।

मान लीजिए कि हम आठवीं शताब्दीके किसी दृश्यकी अवतारणा करना चाहते हैं। तब पृष्ठ-भूमिपर आठवीं शताब्दीकी कल्पनाको रखकर अभिनेताओंका तदनुकूल किया हुआ 'मेक अप' सुन्दर मालूम हो सकता है। लेकिन, मान लीजिए कि अपने नित्य-प्रतिके व्यवहारमें, यानी बीसवीं शताब्दीके बीचमें, उसी चाल-ढाल और बनावटको लेकर वे अभिनेता घूमें तो इससे सुन्दरता बढी हुई नहीं दीखेगी। क्यों कि तब उनको लेकर तादात्म्यका भाव तो उत्पन्न न होगा, केवल विषमताका (= Disharmony) बोध ही खलेगा।

'मेक अप' इसलिए वहीं तक ठीक है जहाँ तक वह अपनी जगहपर है। हमारा कपड़े पहिनना, हजामत बनाना, साफ़ रहना भी क्या 'मेक अप' नहीं है ? लेकिन ज़बर्दस्ती लुभानेके लिये रंग पोतकर घूमना भी यदि 'मेक अप'में आता हो, तो वह ज़्यादती है।

प्रश्न—उदाहरणार्थ आँखोंकी सुन्दरताको लें। कभी उनके बड़े होनेमें सौन्दर्य समझा जाता है, कभी उनके विशेष आकारमें और कभी उनकी भावात्मकतामें। आख़िर किस बातको सौन्दर्यका माप (=criterion) माना जाये ? परिमाणको, आकारको, या भावात्मकताको ? अथवा इन सबका किसी एक और तत्त्वमें समन्वय ढूँढा जा सकता है ? वह क्या है ?

उत्तर—यह प्रश्न तो मैं खुद आपसे करूँ। अगर सौंदर्य देखनेवालेकी

भावनासे अलग होकर सुन्दर प्रतीत होनेवाली वस्तुमें ही हो, तो प्रश्न करनेको मुझे हो जायगा कि वह सौन्दर्य अमुक आकार-प्रकारमें है, अथवा कि किसमें है ? मेरे विचारमें देखनेवालेके मनसे अलग होकर सौन्दर्य अपने आपमें कुछ है, यह प्रतिपादित करना कठिन होगा।

प्रश्न–देखनेवाला किसी वस्तुके सौन्दर्यका निर्णायक है और इसलिए विभिन्न जनोंके साथ सौन्दर्यका विभिन्न माप-दंड हो सकता है, शायद यह आपका अभिप्राय है। किन्तु फिर भी जीवनकी सत्यता भी तो कोई एक चीज़ है। इसलिए क्या उनमें कोई ऐसा एक तत्त्व ही व्याप्त (=pervaded) नहीं है।

उत्तर—हाँ, जरूर है। पर सत्य एक है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति अनेक-विधि क्यों नहीं हो सकती ? एक ईश्वर है। बाकी सब अनेक हैं। सत्य मानवी होकर अनेक है, क्योंकि मानव अनेक हैं। सौन्दर्यका अस्तित्व अनुभूतिकी अपेक्षासे है। 'सौन्दर्य' शब्द ही गुणवाचक है। कहा जाता है, सौंदर्यकी पहचानके लिए 'आँखें चाहिए।' इसका मतलब यही तो हुआ कि पहचानवाली आँखके अभावमें सौंदर्य नहीं-बराबर है। आकांक्षासे अलग करके मैं सौंदर्यका अस्तित्व नहीं मान पाता।

प्रश्न–किन्तु फिर भी, सौन्दर्यके निरूपणमें मानव-अनुभूति क्या बिलकुल अकारण (=arbitrary) हो सकती है ? यदि नहीं, तो सचमुच (=objective) वह कौनसा तत्त्व है जिसके अधीन उसे रहना पड़ता है ?

उत्तर--शायद वही आकांक्षाका प्रतिबिम्बवाला तत्त्व हो।

१३—आकांक्षा और आदर्श

प्रश्न—हम देखते हैं कि आकांक्षा उत्तरोत्तर किसी एक दिशामें प्रगतिशलि है,—जैसे वह बराबर कुछ अधिक और अधिक खोजनेमें लगी है। वह क्या चीज है?

उत्तर—अपनी आकांक्षाका प्राप्य विषय हूँ मैं स्वयं। मैं हूँ आत्मा। आत्मा है एक। एक है ईश्वर। इसलिए मेरी, तुम्हारी, सबकी सब कामना, साधना और चेष्टाका परम इष्ट है परमात्मा और परमात्मस्थिति। शायद यह बात बुद्धिहीन-सी मालूम हो। किन्तु जो मर्मगत आकांक्षा हमारा स्व-भाव है, उसको अपनेसे अलग करके परिभाषा दे सकना संभव नहीं है। और यदि बुद्धि-प्रयोगसे संभव बनाया भी जावे तो उस परिभाषासे प्रश्न और बढ़ ही उठेंगे। मैं किस लिए जी रहा हूँ,—इसका जवाब अंतमें दो ही रूपोंमें हो सकेगा: एक यह कि किसीके (महासत्ताके) जिलाये मैं जी रहा हूँ। दूसरा यह कि मैं अपने लिए (अपनेको पानेके लिए) जी रहा हूँ। इसके अतिरिक्त जो भी तीसरी बात कही जायगी, वह काम-चलाऊ-भर होगी, उसमें तथ्य विशेष न होगा।

प्रश्न—यदि जीनेवाला ईश्वरके लिए जीता है, तो क्या आप कह सकते हैं कि संसारमें प्रत्येक प्राणी ईश्वरहीको पानेके लिए लालायित होकर हरेक कार्य करता है? यदि ऐसा है तो पाप और धर्म, आस्तिक और नास्तिककी परिभाषा क्या होगी?

उत्तर—जानकर ईश्वरके लिए जीना बहुत कठिन है। लेकिन अगर मैं कहूँ कि जो भी हमारा इष्ट है और काम्य है, वह भी अंततः महासत्यका एक रूप ही है, तो इसमें किसीको क्या आपत्ति हो सकेगी?

न कहो ईश्वर, कह दो भाग्य, भविष्य, विधाता, विकास। कुछ भी कहो, लेकिन आखिर कुछ तो कहना होगा। सृष्टिका क्या उद्देश्य है? तमाम जीवनको निरुद्देश्य मानो तब तो सब झगड़ा ही समाप्त है। लेकिन अगर जीवन निरर्थक नहीं है, और उसका उद्देश्य है, तो उस उद्देश्यको क्या कहा जाय? मेरा तनिक भी आग्रह नहीं है कि ईश्वर, अथवा 'ईश्वर' नामवाची किसी प्रचलित संज्ञासे

ही निपटारा हो सकता है। संज्ञा दूसरी भी हो सकती है। लेकिन, उसका भाव व्यक्तिसे अतीत होगा, कहनेका आशय इतना ही है।

कोई अच्छा है, कोई बुरा है। कोई पापी है, कोई धर्मात्मा है। लेकिन, मरते सभी हैं। मौतके लिए पापी और धर्मात्मा एक हैं,—क्या यह कहना झूठ होगा? लेकिन फिर भी, पापी पापी है, धर्मात्मा धर्मात्मा है।

इसी तरह सब ईश्वरमें समाए हुए होकर भी अगर अपनेमें अलग अलग हों तो इसमें कोई अयथार्थता नहीं प्रतीत होगी।

प्रश्न—लेकिन जो जीनेवाले प्राण हैं, उन्हें स्वधर्म और स्वभाव-हीसे हमेशा जीते रहना है। यदि उनके जीवनका कोई उद्देश्य हुआ, वह कुछ भी हो, तो उद्देश्य प्राप्त होनेपर क्या प्राण निर्जीव हो जायँगे? किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि प्राणी एक न एक चीज़के पीछे रहता ही है,—क्या आप इस समस्याको सुलझायँगे?

उत्तर—उद्देश्यका खिंचाव तभी तक है जबतक वह अप्राप्त है। ईश्वर सदा अप्राप्त है, अर्थात् सदा प्राप्त होनेको शेष है। ईश्वरको पानेका मतलब अपनेको उसमें खोना है। 'पाने' शब्दमें ही पृथकताका बोध है, यह भाषाकी असमर्थता है। हमारी भाषा पृथक-बोधपर ही संभव बनती है। जहाँ वैसा पार्थक्य नहीं, वहाँ द्वित्व न होनेके कारण भाषा अथवा कोई भी मानवीय व्यापार संभव नहीं। अतः तद्विषयक चर्चा न हो सकेगी, क्यों कि वहाँ भाषा काम नहीं देगी।

प्रश्न—अपेक्षाकृत जड़से चेतन और चेतनसे और अधिक चेतन एवं सुन्दरकी ओर विकास-क्रम देखते हुए क्या हम नहीं कह सकते कि ध्येय (ईश्वर) केवल मानवके आदर्शीकृत सौन्दर्यका प्रतीक-मात्र है, अलग अथवा वस्तुतः कुछ नहीं है?

उत्तर—कह सकते हैं। लेकिन तब ईश्वर हमसे बड़ा नहीं, बड़े हुए हम। अगर ग़लत है, तो वह कथन बस इसी ख़यालसे ग़लत हो सकता है कि उसमें मानवका अहंकार मिला हुआ है। नहीं तो तत्त्वतः उसमें ग़लती नहीं है। मानवमें जो सूक्ष्म तम है,—शुद्धतम है, वह ईश्वरीय है, यह तो बिल्कुल सही बात है।

प्रश्न—क्या आदर्श-भावनामें छोट-बड़ेका अहंकार-भाव अनिवार्य रूपसे आता है? यदि केवल अपनी सत्ताके आग्रहहीका (=Assertion हीका) भाव अहंकार है, तो क्या कोई भी वस्तु सत्-रूप (Existent) होकर उससे मुक्त हो सकती है?

उत्तर—समर्पणमें अहंकार मिटता है। अन्य व्यापारोंमें अहंकार रहता है। अहंकार बिल्कुल मिट जाय तो दुई न रहे। तब शरीर ही न रहे। इसलिए पूरी तरह तो अहंकार इस जीवनमें मिटता नहीं। फिर भी जितना वह कम हो, उतना ही उत्तम है।

यह माननेका कारण नहीं है कि अहं-भावके अभावमें निर्बलता आ जायगी। बल्कि अहं-भाव आदमीको संकीर्ण बनाता है, समर्पण व्यापक। और व्यापकता ही प्रबलता है।

प्रश्न—छोटे-बड़ेका अहं-भाव एक बात है, और आदर्शका (जिसमें समर्पण आ सकता है) भाव दूसरी बात है। क्या आप इन दोनोंको त्याज्य समझते हैं?

उत्तर—बस, जिसमें समर्पण है, वह ठीक है। त्याज्य नहीं वह विधेय है। ऊपरसे वह अहंकार-सा भी दिखलाई दे, तो भी विपत्ति नहीं। निर्बलता धर्म-भावका लक्षण नहीं है; किन्तु धर्मबल, चूँकि उसमें विनयकी लचक है, सामान्य बलसे अधिक यद्यपि भिन्नरूपसे प्रबल होता है। पत्थर मजबूत है, लेकिन हथोड़ेसे टूट जाता है। किन्तु इस बलसे बली आदमी गालीसे अथवा गोलीसे भी नहीं टूटता। वह द्वेषका जवाब प्रेमसे देता है। द्वेषमें अहंकार करनेवाला आदमी उसपर अपने प्रहारका असर न देखकर अपनी विफलतामें क्षुब्ध होकर कह सकता है कि यह आदमी बड़ा मानी है, किन्तु, वैसा मान बुरा क्यों है? उसमें बुराईकी बुराई ही है, शेष सबकी तो उसमें भलाई ही होती है।

प्रश्न—जीवनके आदर्शांकित सौंदर्यमें मनुष्य जिस ईश्वरको देखता आया है, और देखता है, क्या कभी भी वह सर्वदा प्राप्त हो सकेगा? दूसरे शब्दोंमें, क्या कभी भी प्राणीके भीतर आदर्श, सौंदर्य अथवा स्वप्न (=Vision) का बनना बंद हो सकेगा? यदि ऐसा है, तो क्या ऐसे ईश्वरको सर्वथा प्राप्त कर लेनेकी आकांक्षा मानवका भ्रम ही नहीं है?

उत्तर—भ्रम नहीं है। भ्रम वह होता है जो टूटे। लेकिन ईश्वरकी खोज कभी नहीं टूटती। हाँ, जो आस्तिकता टूट जाती है, वह आस्तिकता ही नहीं है। यह भी कहनेमें हर्ज नहीं कि उस आस्तिकताका ईश्वर अनीश्वर है। जो सामान्यतया अ-प्राप्य है, आदर्शकी भावना उसीके प्रति होती है। आदर्श तो अप्राप्य ही है, फिर भी उसके प्रति आराधककी लगन उसे ज्वलंत रखती है, मिथ्या नहीं होने देती। स्वप्न और सत्यमें अंतर आखिर इससे अधिक क्या है कि सत्यके प्रति व्यक्तिका नाता आस्था-स्वीकृतिका है,—उससे वह प्रेरणा पाता है, जब कि स्वप्नको व्यक्ति ही स्वयं मिथ्या कहकर निषेध-पूर्वक टाल देता है। इस लिये, व्यक्ति अगर सच्चा है, तो उसका आदर्श झूठा नहीं ठहराया जा सकता। यों मेरा विश्वास मेरेसे अन्यके निकट भ्रम है ही। पर मेरा होकर वह विश्वास मेरे लिये भ्रम नहीं, प्रत्युत धर्म है।

प्रश्न—किन्तु देखा जाता है कि कल जिसे हम प्राप्य बनाये थे, आज वह प्राप्त हो जाता है और प्राप्य कुछ और बन जाता है,—मानो वह आगे सरक जाता है। इस प्रकार, हमारे आदर्शमें भी विकास और परिवर्त्तन हुआ ही करता है। वह न एक रहा है, न रह सकता है और केवल इसीलिए अप्राप्य है। तो क्या ध्येय ईश्वर भी वास्तवमें उसी प्रकार हमारे जीवन-विकासके साथ साथ बिम्ब प्रतिबिम्ब-रूपसे विकासशील और परिवर्त्तनशील नहीं है?

उत्तर—ज़रूर। ईश्वरकी धारणाओंमें बराबर विकास होता जा रहा है। वह विकास क्या कभी एक क्षणको भी रुकता है? जाने-अनजाने स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर हमारी गति है। जंगली आदमीकी ईश्वरसंबंधी धारणा और अत्याधुनिक विज्ञानाचार्यकी तत्संबंधी धारणामें काफ़ी अन्तर प्रतीत होगा। यह दूसरी बात है कि काफ़ी साम्य भी उनमें प्रतीत हो। उसी तरह मैं मानता हूँ कि महा-मेधावी पुरुषकी परमात्म-धारणासे आगे भी विकासकी अनंत गुंजाइश है। ईश्वर तो निर्गुण निराकार है, इससे धारणा-मात्र उससे ओछी रह जाती है। सहस्र ही नाम ईश्वरके नहीं हैं; वे तो असंख्य हैं। असलमें सब नाम उसीके हैं। मेरा 'मैं-पन' तुम्हारा 'तुम पन' मीठेकी मिठास, नमककी नमकीनी वह है। इसीसे तो कहा जाता है कि ईश्वर बुद्धिका विषय नहीं है, श्रद्धाका विषय है। इसलिए ईश्वरसम्बन्धी हमारी एक मान्यता आज अपर्याप्त हो भी जावे, तो दूसरी कोई

मान्यता उसका स्थान ले लेगी। परमात्मामें क्या कुछ नहीं समा सकता? अनंत-कालतक उसमें तो अप्राप्य हमारे लिए कुछ न कुछ शेष रहे ही चला जायगा। बूँद जब समन्दरमें मिल जायगी, तब वह बेशक समन्दर हो जायगी और तब सवाल ही कुछ नहीं रहेगा। पर यों वह बूँद चाहे कितनी ही फैले, कितनी ही फूले, समुद्रता उसके लिए अप्राप्य ही बनी रहेगी। इसलिए समझद्वारा ईश्वरको पाना फैलनेकी कोशिश करके बूँदके समुद्र होनेके प्रयास करने-जैसा है। बूँद अपनेको मिटा दे, तब वह इस क्षण भी समुद्र ही है। इसके अर्थ यह हैं कि समष्टिगत ईश्वरको बुद्धि-प्रयासद्वारा पाया न जायगा। अपनेको (व्यष्टिको) उसमें (समष्टिमें) खो देनेसे ही, यानी प्रेमके मार्गसे ही, उसको (समष्टिको) आत्मगत किया जाय तो किया जा सकता है।

प्रश्न—किन्तु इस बारेमें एक बात पूछना चाहूँगा। वह यह कि ईश्वर हमारे आदर्शकी प्रतिमा होनेके कारण क्या हमारी धारणाके अतिरिक्त कुछ और भी रह जाता है? और धारणा हमारी बुद्धिसे नहीं तो हमारे व्यक्तित्व (=Being) से निर्मित तत्त्व है। तो फिर हमारी ही सत्ता (=Being) से अलग वह ईश्वर कौन-सी चीज़ रह जाती है जिसकी उपमा समुद्रसे दी गई?

उत्तर—धारणा बुद्धिकी उपज है। बुद्धि हमारा (=Being का) एक भाग है। बुद्धि सब नहीं है। वह कुल नहीं है।

ईश्वरकी धारणा हम बनानेका निश्चय करके नहीं बनाते। जब हमारी चेतना मानो किसी विराट् स्पर्शसे अभिभूत हो जाती है, तब लाचार हम उसे मान उठते हैं। बुद्धि भी तब विराटकी अनुप्रेरणासे कर्म-शील होकर उस संबंधमें अपनी शक्तिके अनुसार एक धारणा रच चलती है। इस तरह हम देखेंगे कि मनुष्य अपने आदर्शका निर्माता होनेसे अधिक, मानो आदर्शके हाथों अपनेको सौंपकर, उसीको अपना निर्माता बनाना चाहता है। इसी अर्थमें कविकी कविता कविसे बड़ी है। मनुष्यका आदर्श मनुष्यसे बड़ा है।

किसी ईश्वर-विश्वासीसे पूछकर देखिए अथवा कि किसी भी प्रकारके सच्चे विश्वासीसे पूछिए। वह यह न कह सकेगा कि उसने स्वयं अपने विश्वासको बनाया है, बल्कि वह तो यही कहेगा कि उसे यह विश्वास 'प्राप्त' (=Revealed)

हो गया है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि सच्चा ज्ञान सदा 'प्राप्त' होता है, वह 'बटोरा' अथवा 'बनाया' नहीं जाता।

जो किसी क्षण हमपर प्रकाशित हो गया है, उसके निर्माता हम हैं,—ऐसे अहंकारके लिये स्थान नहीं है। ईश्वरकी प्रतीति ऐसी ही प्रतीति है। वह अपौरुषेय है। वह पुण्य-योगसे प्राप्त होती है।

प्रश्न — किन्तु आकाशको भी मनुष्य निश्चय करके नहीं बनाता है, एक प्रकारसे वह भी प्राप्त (=revealed) ही होता है। फिर भी क्या मनुष्यकी चेतना-धारणाके विना वह कुछ वस्तुतः रह जाता है?

उत्तर — क्यों नहीं रह जाता? व्यक्तिसे आकाश बड़ा है। हाँ, यह जरूर है कि जो आकाशमें है, वह व्यक्तिमें भी है। इसलिए यह कहनेमें विशेष अर्थ नहीं रहता कि कोई बड़ा या छोटा है। साथ ही यह कहनेमें भी विशेष अर्थ नहीं है कि मानव-चेतनाके अभावमें आकाश रह भी नहीं सकता। ऐसी उक्ति दार्शनिक विवेचनमें प्रयुक्त हो भी जावे, किन्तु फिर भी उसके शब्दार्थमें सार नहीं है। मानव-चेतनाके अभावमें आकाश-रूपी मानव-धारणा भी असंभव हो जायगी, यहाँ तक तो बात ठीक है। किन्तु उससे आगे उस कथनकी सत्यताको नहीं खींचा जा सकता।

अब जैसे आकाश है और उसको बनानेवाला मनुष्य नहीं है, वैसे ही वह महासत्ता भी है जिसके बोधको मनुष्य पाता है, लेकिन उस बोधको बना नहीं सकता।

प्रश्न—व्यक्तिसे ईश्वरको बड़ा आप बतलाते ही हैं: और उसी व्यक्तिसे आकाश अर्थात् शून्यको भी बड़ा बताते हैं। किन्तु ईश्वर और आकाशमें कौन बड़ा है?

उत्तर—आकाश क्या आपको दीखता है? अगर दीखता है, तो इसी कारण वह ईश्वरसे कम हो गया। क्योंकि ईश्वर दीखता तक नहीं।

आकाश शून्य है न? किन्तु शून्यकी शून्यता क्या है? वही ईश्वर। आकाश आकाशसे भी अधिक ईश्वर है।

१४—ध्येय

प्रश्न—व्यक्ति जो कुछ भी करता है स्वके लिए ही करता है। स्वको पर एवं शून्यके साथ ठीकसे ठीक तौरपर बिठानेहीमें उसका जीवन और उसीमें उसके जीवनकी कला रहती है। किन्तु तब ईश्वरको माननेकी अनिवार्यता कहाँ आती है ? और क्या उसे माने बिना व्यक्ति जीवनके प्रति सफल कलाकार नहीं बन सकता ?

उत्तर—स्व और पर किसमें एक और अभिन्न है ? वही तो ईश्वर है। इस लिए स्व-परके सामंजस्यकी जहाँ सम्पूर्ण सिद्धि है उस स्थितिको मेरे शब्दोंमें ईश्वरता कहो। उसे ध्यानमें लाना किसी भी कलाके लिए साधक ही हो सकता है। पर वह कोई हौआ तो नहीं है। उसकी कोई एक परिभाषा नहीं है। जो जिसको माने, वही उसका ईश्वर। असली तत्त्व निस्सग समर्पण है। कोई उपलक्ष्य उसके लिए काम दे सकता है। क्या जरूरी है कि ईश्वर शब्द बिना कोई 'स्व' परोन्मुख हो ही न सके ? इस लिए ईश्वर (शब्द) बेशक हमारे व्यापारोंके लिए संगत संज्ञा नहीं है। वह तो मौनपूर्वक आराधनीय है। मौनपूर्वक। शब्द-जालद्वारा नहीं। लेकिन जब कि शब्द जरूरी नहीं है, तब विश्वास तो कलाकारके लिए बिल्कुल ही जरूरी है। वह विश्वास फिर चाहे किसीको भी लेकर हो। उसके बाद यह दूसरी बात है कि जैसे सब नदियाँ समुद्रमें जाती है, वैसे ही सब विश्वास नाना देवी देवताओंकी राहसे ईश्वरमें ही अर्पित होते हैं।

नदी विना समुद्रको जाने बहती रह सकती है कि नहीं ? मेरे खयालमें बहती रह सकती है। अपनी चरम स्थिति यानी समुद्रमें समाहित होनेका अज्ञान उसके प्रवाहमें बाधा उपस्थित नहीं करता। ऐसा ही कला आदि मानव-व्यापारोंके विषयमें समझना चाहिए।

प्रश्न—व्यक्ति अपने जीवनका कलाकार है। उसको कला-व्यापार स्वके प्रति सुख और आनन्दकी अपेक्षासे प्रेरित करता है, अथवा परके प्रति उपयोगिता और आकर्षणकी आवश्यकतासे ?

उत्तर—शायद पहले भी यह बात आगई है कि मेरा कोई भी काम मेरी दृष्टिसे

जब कि अन्तःप्रेरित होगा–अर्थात व्यक्तिगत हेतुसे होगा,—तब नैमित्तिक दृष्टिसे कुछ उपयोगिताका भाव भी उसमें होना आवश्यक है। कोई भी गति दो खिंचावोंके कारण होती है—एक अन्तरंग, दूसरा बहिरंग। जैसे बिजली दो विरोधों (धन और ऋण धाराओं) के कारण चलती है। इसी तरह व्यक्तिका अन्तःकरण और समाजकी आवश्यकता, इन दोके परस्पर संयोग-वियोगसे मानव-व्यापार संभव होते हैं।

१५—समाज-विकास और परिवार-संस्था

प्रश्न—स्व और परके समन्वयमें परिवारिक संस्थाएँ आपके विचारसे बाधक हैं कि सहायक ?

उत्तर—परिवारमें कोई व्यक्ति पूरा स्वतंत्र नहीं है। वहाँ ज़रूरी है कि वह अपनी स्वतंत्रताको दूसरोंकी स्वतंत्रताके साथ निबाहे। इस तरह परिवार व्यक्तिमें स्व-पर-समन्वयकी आवश्यकताका बोध जगानेमें सहायक होता है।

और परिवार आरंभ भी कैसे होता है? लड़के लड़की युवा होनेपर पाते हैं कि वे अपने लिए नहीं रह सकते। एकको दूसरेकी जरूरत हो आती है। चाह हो आती है कि कोई हो जिसके लिए वे रहें, जिसके प्रति वे अपनेको दे डालें। इस अवस्थाके आनेपर विवाह होता है और परिवारका बीज पड़ता है। संतति स्त्री-पुरुषके परस्परार्पणका फल है। इस तरह परिवारके मूलमें स्व-पर-संमिलन और सामंजस्यका भाव विद्यमान है।

पर वह सामंजस्य यदि सजीव है, तो विकास-शील भी है। वह एक जगह आकर ठहर नहीं सकता। उसे बढ़ते रहना चाहिए। अपने कुटुम्बसे आगे वसुधाको भी तो अपना कुटुम्ब बनाना है। इस प्रयासमें प्रतीत हो सकता है कि परिवार एक अड़चन बन गया है। अगर परिवारके प्रति वफ़ादारी हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा मानवीय कर्त्तव्यसे विरोधी बन जाती हो, तो वह वफ़ादारी निबाहने योग्य नहीं है। व्यवहारमें ऐसा विरोध अक्सर उपस्थित होता है, यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे समन्वय सब काल संभव है। जैसे व्यक्ति रहकर भी एक आदमी एकका पिता, किसी अन्यका भाई और किसी तीसरेका पुत्र एक ही साथ रह सकता है और ये तीनों-चारों हैसियतें आपसमें झगड़ती भी नहीं हैं, वैसे ही और अन्य हैसियतोंका भी समन्वय हो सकता है। लेकिन परिवारमें जो एककी दूसरेके साथ प्रयोजनजन्य प्रत्याशाएँ बँध जाती हैं, वे विकासमें बाधा भी पहुँचाने लगती हैं। अधिकांश वे बाधा ही पहुँचाती हैं। कुटुम्बवालोंको प्रत्याशा होती है कि बालक बीस बरसका हो गया है सो जैसे हो साठ सत्तर रुपये हर महीने कहींसे लाकर दे। वह अपनी आत्माको मारता

है और उतना कमा कर देता है। नहीं देता तो गड़बड उपस्थित होती है और देता है तो हो सकता है कि उसका मन उस कमाईको न्यायोचित न मानता हो। फिर भी, वह ऐसा करनेको बाध्य है। तो इस उदाहरणमें कहा जा सकेगा कि उसने परिवारसे अपने विकासको सीमित बना लिया है।

अगर परिवार इतर जनोंसे मुझे पृथक् और विरुद्ध डाल देता है, तो वह बाधा है। ऐसा नहीं, तो परिवार आत्म-विकासमें सहायक है ही।

प्रश्न—क्या परिवारके प्रति अपने-पनकी भावना मूलतः दूसरेको ग़ैर समझनेहीकी भावनासे उद्भूत नहीं होती है और इस प्रकार परिवारकी शुभ कामनामें दूसरोंके प्रति सद्भावना कम नहीं हो जाती है?

उत्तर—मूलतः नहीं। मैं पहले अपनेको ही अपना समझना आरंभ करता हूँ, परिवार मेरा इस संकीर्णतासे उद्धार करता है। आरंभमें तो वह मेरा भला ही करता है, आगे जाकर उसके कारण मैं अपना अलाभ करने लगूँ तो बात दूसरी है। यह तो अकल्याणकर ही है कि मैं परिवारमें अपना स्वत्व-भाव इतना मानने लगूँ कि धर्माधर्मका विवेक भूल जाऊँ।

प्रश्न—बालक माता पिता आदि कहना-समझना सीखता है, तो क्या धर्माधर्मके विचारसे? क्या इस प्रकार परिवारको अपना समझनेमें अहंकारकी वृत्ति कमजोर पड़नेके बजाय दृढ ही नहीं होती है?

उत्तर—अहंकारकी दृढ़ताको और क्षीणताको समझना चाहिए। ममत्व जितना संकीर्ण है, उतना ही तीक्ष्ण है। अगर वह व्यापक है, तो उसकी तीक्ष्णता कम हो जायगी। रागात्मक वृत्तिको अपनेमेंसे निर्मूल नहीं किया जा सकता। उसको कुचलना ही उपाय हो, ऐसा नहीं है। कुचलकर उसे मिटाया नहीं जा सकता। उन वृत्तियोंको व्यापक बनानेसे ही उनकी धार मारी जाती है। मैं अगर सबको प्रेम करने लगूँ, तो किसी विशेषके प्रति उस प्रेमके खोटे होनेकी संभावना भी नहीं रहेगी। ममता खोटी तभी होती है जब वह किसी दूसरेके प्रति अवहेलनाके बलपर पोषण पाती है। अन्यथा, गुणके प्रति ममता अर्थात् व्यापक ममता दुर्गुण नहीं है।

अहंकारके विषयमें भी यही बात है। अहंभाव मुझमें जितना सिमटता

जायगा उतना वह पैना होगा। जितना फैलता जायगा, उतनी ही उसकी विषमता कम होगी। चारों दिशाएँ जिसकी जागीर हैं ऐसा आदमी सर्वथा अपरिग्रही ही हो सकता है। बटोरनेका आग्रह उसीको है जो मनमें दीन है। कबीर साहबने गाया तो है, 'हाथमें कूंडी बगलमें सोटा, चारों दिसि जागीरीमें'। इस भाँति 'अहं' की भावना व्यापक बनाते जानेसे उसकी धार भी लुप्त होती जायगी और अहंकार तब, यदि होगा भी, तो सात्त्विक होगा। अहंकारसे पूरा छुटकारा तो इस जन्ममें संभव है नहीं। इससे, अपने अहंको समर्पित यानी व्यापक बनाते जाना ही, अहंकारसे मुक्ति पानेकी ओर बढ़ना है।

प्रश्न--एक परिवारके लोग अलग अलग कमायें-खायें अथवा एक जगह मिलकर? इन दोनोंमें आप क्या उचित समझते हैं?

उत्तर—एक परिवार या कि अनेक परिवार, जितने अधिक लोग ऐक्यभावसे इकट्ठे रह सकें, उतना अच्छा है।

प्रश्न--किन्तु, क्या ऐसा हो सकेगा? क्या व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको बिल्कुल खो देना गवारा करेगा?

उत्तर—जो अकेला रहकर पुष्ट बनता है, उस व्यक्तित्वमें त्रुटि भी रह जाती है। आखिर व्यक्तित्वका बल इसीमें तो है कि लोग उसकी ओर आकृष्ट हों? जो एक समुदायका केन्द्र नहीं बन गया है, उस व्यक्तित्वको बलिष्ठ भी नहीं कह सकते।

प्रश्न—जो व्यक्ति मुख्य परिवारसे टूटकर अलग परिवार बसाता है, क्या यह उसकी अनधिकार चेष्टा है?

उत्तर—अगर किसी जिदमें वह ऐसा करता है, तो जरूर वह चेष्टा अनधिकृत है। अन्यथा तो वृक्षकी पौध या क़लम दूर जाकर रोपनेसे और भी अधिक फल लाती है।

प्रश्न–क्या वैसे पारिवारिक जीवनमें व्यक्तिकी स्वावलम्बकी शक्तिका ह्रास होनेका खतरा नहीं है?

उत्तर—जरूरी तौरपर तो वह ख़तरा नहीं है। जब वैसी बात सामने उपस्थित हो जाय, तब व्यक्ति अपनेको किसी संस्था अथवा परिवारसे अवश्य तोड़ सकता है।

प्रश्न—जिस व्यक्तिमें किसी परिवारके द्वारा दूसरोंपर गुजारा करनेका व्यसन हो गया है और जितना वह कर सकता है उद्यम (Contribute) नहीं करता है, तो उसके प्रति परिवारका क्या कर्त्तव्य होगा ?

उत्तर—उस व्यक्तिको धीमे धीमे समझा-बुझाकर, नहीं तो फिर अनुशासनसे, अपनी ज़िम्मेदारियोंको पहचाननेके निकट लाना होगा।

प्रश्न—वह अनुशासन किस प्रकारका हो सकता है, क्या आप बतायेंगे ?

उत्तर—यह तो वह परिवार ही जाने और समझे।

प्रश्न—किन्तु, फिर भी मैं जानना चाहता हूँ कि क्या अनुशासन-द्वारा उसके लिए दंड अथवा कोई और ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे वह मजबूर हो जाय ?

उत्तर—मजबूर करनेकी आवश्यकता है, तभी तो प्रश्न भी उठता है। मेरे ख्यालमें ऐसा उपाय काममें नहीं लाना चाहिए जिससे व्यक्तिकी नैतिक भावनाको उत्तेजन मिलनेके बजाय वह उल्टी पस्त हो। जिसको दंड कहा जाता है, वह मनुष्यकी नैतिकताको अक्सर मंद करता है।

प्रश्न—तो फिर अनुशासन रखनेका क्या दूसरा उपाय हो सकता है, मिसालके तौरपर आप बतलायेंगे न ?

उत्तर—मिसालके तौरपर बहुत-कुछ बतलाया जा सकता है, लेकिन यह ध्यान रहे कि वह मिसाल है।

मानिए कि बालक स्कूल नहीं जा रहा है। चाहा जाता है कि वह स्कूल जाय। तब बालकके मामलेमें यही पहले विचारणीय बनता है कि उसके स्कूल जानेकी अरुचिमें कारण क्या हो सकता है ? उस कारणको दूर किया जाय। बालकके मामलेमें अनुशासन ज़रूरी नहीं होगा, क्यों कि परिवारके और लोगोंकी अच्छी अथवा बुरी सम्मतिका उसपर काफ़ी प्रभाव होता है। वह सहसा अपने संबंधकी अच्छी सम्मतिको खो नहीं सकता। करना सिर्फ़ इतना होगा कि माँ-बाप लाड़ लड़ानेके अपने अकस्मात् उठनेवाले चावको रोकें और लड़केकी उस आदतके बारेमें अपनी असम्मति पूरी तरह प्रकट हो जाने दें।

लेकिन वयःप्राप्तको कैसे सुधारा जाय, जो अपेक्षाकृत दूसरेकी सम्मतिके प्रति चुनौतीकी भावना रखने लगता है ? तो मैं कहूँ कि असहयोगसे यह काम किया जा सकता है। असहयोग भी एक अनुशासन ही है। और दंडके लिहाज़से भी छोटा नहीं है। परिवार कह सकता है कि परिवारका आश्रय उस व्यक्तिको अनुकूल आचरण न करनेपर प्राप्त न रहेगा। अगर परिवारमें उस व्यक्तिके प्रति प्रेम है और परिवारके प्रति उस आदमीमें आस्था है, तो वह सहज उस आश्रयसे वंचित अपनेको नहीं करेगा।

प्रश्न—परिवारमें यदि किसी मत-भेदसे दो भाग हो जायँ, तो क्या बड़े भागको अधिकार है कि वह छोटेको अपने मतानुसार चलानेको अनुशासनका प्रयोग करे ? वह क्यों न उस छोटे भागको अपना अलग एक परिवार बनानेकी स्वाधीनता दे दे ?

उत्तर—वैसी स्वाधीनता तो है। अनुशासन भी तभीतक लागू है जबतक कि बड़े भागके अंग बनकर रहनेकी इच्छा छोटे भागमें शेष है। अगर वैसी इच्छा शेषतक नहीं रह गई है, तो दोनों भाग अलग हो ही जायँगे। कोई अनुशासन तब काम न देगा।

प्रश्न—परिवारके लोग यथाशक्ति काम तो करेंगे ही, किन्तु, आयकी मद सीमित होनेपर, खाने-खर्चनेके लिए कौन-सा सिद्धान्त काम करेगा ? वह बराबरीका होगा, अथवा कोई अन्य ?

उत्तर—कोई एक सिद्धान्त कहीं काम नहीं करता। जिस परिवारमें स्वास्थ्य है, वह ऐसी स्थितियोंमें अपनेको निबाह लेना जानेगा। अगर आय कम है तो उसी हिसाबसे छोटे बालकका दूध कम किया जाय जिस हिसाबसे बड़े आदमियोंकी आवश्यकताओंमें कटौती की जाय, ऐसे सिद्धान्तोंमें कुछ सार नहीं है। देखनेमें यह साम्य (वाद) का सिद्धान्त मालूम होगा, लेकिन वैसा नहीं है। इस मामलेमें एकमें दूसरेके लिए उत्सर्गकी भावना जितना सहज समाधान सुझा सकेगी, उतनी हिसाबबीनी नहीं सुझा सकेगी।

प्रश्न—परिवारकी सम्मिलित संपत्तिमेंसे एक व्यक्तिको परिवारसे अतिरिक्तके लिए दान देनेका क्या कोई अधिकार रह सकता है और कहाँ तक ?

उत्तर—यह तो परिवारके उसके प्रति विश्वासके ऊपर निर्भर है। जितना विश्वास उतना अधिकार।

प्रश्न—किन्तु, क्या वह स्वयं एतदर्थ अपना अधिकार समझकर उसके लिए परिवारपर ज़ोर नहीं डाल सकता?

उत्तर—नैतिक जोर डाल सकता है।

प्रश्न—नैतिक मसलन किस प्रकार?

उत्तर—'नैतिक'से मतलब वे उपाय जिनमें दूसरोंकी अनिच्छाको अपनी वेदनाके जोरसे मुलायम करके जीता जाता है। अपनी लगन और प्रेमकी तकलीफके जोरसे दूसरेके मतका परिवर्त्तन किया जाता है। इसमें लिहाज या विश्वास आ जाता है।

प्रश्न—क्या परिवारमें किसी व्यक्तिको अपनी प्रतिभाके अनुसार स्वयं अपने कार्यका निर्णय करनेका अधिकार होगा?

उत्तर—क्यों नहीं?

प्रश्न—किन्तु, इस बारेमें परिवारकी संयुक्त सम्मति व्यक्तिकी रायसे ऊपर क्यों न मानी जाय? क्या परिवारको यह हक नहीं कि वह उस व्यक्तिकी समर्पित शक्तिका अपने मतानुसार उपयोग करे?

उत्तर—ऊपरके उदाहरणमें उस प्रतिभाशाली व्यक्तिकी शक्ति परिवारके प्रति समर्पित नहीं हो रही है,—तभी तो प्रश्न सम्भव बना है। समर्पित हो, तब परिवार उससे लाभ उठायेगा ही।

प्रश्न—परिवारके प्रत्येक व्यक्तिकी शक्तियाँ तो परिवारके प्रति समर्पित पहले ही समझी जानी चाहिए। इसलिए पूछना यह है कि वह अमुक काम करे और अमुक नहीं,—क्या अपनी आवश्यकतानुसार ऐसा आदेश करनेका अधिकार परिवारको रहना चाहिए कि नहीं? अथवा व्यक्ति ही इस बातका निर्णायक रहेगा कि वह कौन-सा कार्य करनेके लिए अधिक उपयुक्त है और किसकी परिवारको सबसे अधिक आवश्यकता है?

उत्तर—परिवार-गतसे अगर कोई बड़ी प्रेरणा व्यक्तिसे कुछ और कराये, तो परिवार उसे कैसे रोक सकता है?

प्रश्न--यदि परिवारका कोई व्यक्ति ऐसे रोगसे ग्रसित है कि उसके द्वारा परिवारको ख़तरा है, तो परिवार उसके संबंधमें क्या करेगा?

उत्तर—खतरेसे अपनेको और अपने उस बीमार अंगको बचानेका प्रयत्न करेगा। हमारा हाथ खराब हो जाय, तो हम क्या करेंगे? स्पष्ट है कि कोशिश करेंगे कि वह अच्छा हो जाय। जरा खराबी होते ही उसे अछूत नहीं मान लेंगे। अगर उससे समूचे जीवनपर ही आ बने, तो उसे, हाँ, कटा देंगे।

प्रश्न--तो कटा देनेसे आपका क्या मतलब? उस व्यक्तिके जीवनांतसे है अथवा केवल परिवारसे अलग कर देनेसे?

उत्तर—जीवन तो जिसने दिया है, वही लेगा। परिवार जितना जो देता है, उतना ही उससे ले सकता है। लेकिन परिवारकी जिम्मेदारी उस रुग्णाङ्गको अलहदा करके समाप्त कहाँ होती है? घरका कूड़ा क्या दूसरे घरके आगे डाल देनेसे काम खत्म हो जाता है? वह काम तो तभी खत्म होगा, जब कूड़ेका कूड़ापन खत्म करके हम उसे कंचन बनाना सीखेंगे। जो मैला है, वह खाद बनकर उपयोगी होता है कि नहीं?—अर्थात् जो दूषित है, उसका दोष फैले नहीं, इसका ध्यान रखना तो जरूरी है ही। लेकिन स्वयं दूषित भी दोषसे मुक्त हो जाय, यह भी तो देखना है। इस तरह परिवारका धर्म आत्मरक्षापर ही समाप्त नहीं हो जाता, आगे भी जाता है।

१६–स्त्री और पुरुष

प्रश्न—स्त्री और पुरुष दोनों ही संसारके किसी भी कार्य-व्यवहारके लिए बराबर उपयुक्त हो सकते हैं, क्या आप ऐसा नहीं मानते हैं?

उत्तर—नहीं। पुरुष माता नहीं बन सकता है। इसीके अनुकूल उन *दोनोंकी सामाजिक हैसियतोंमें* भी विभेद रहेगा। कर्त्तव्योंका अंतर फिर थोड़ा-बहुत अधिकारोंमें भी अन्तर डालेगा।

प्रश्न—मातृत्वको छोड़कर, क्या कोई दूसरा उत्तरदायित्व स्त्रीका ऐसा नहीं रह जाता, जो पुरुषका नहीं है?

उत्तर—मातृत्व स्त्रीत्वका ही एक रूप है। माता न भी बने, तो भी स्त्री स्त्री है। ऐसी हालतमें भी पुरुषसे तो वह भिन्न ही है। तब (माता अथवा अमाता) स्त्री और पुरुषके स्थानमें कुछ भेद होना असंगत नहीं।

प्रश्न—विचारोंकी उदारता और कला और आविष्कारकी प्रतिभा स्त्रियोंकी अपेक्षा पुरुषोंमें अधिक रहती है,—क्या आप ऐसा मानते हैं? यदि मानते हैं, तो इसका कारण क्या हो सकता है?

उत्तर—मान सकता हूँ। कारण, स्त्रीकी लगन स्थूलकी ओर विशेष रहती है। सूक्ष्मकी लगन प्रतिभा कहलाती है। लेकिन ये सब हमारे ही तो शब्द हैं। यह न समझना चाहिए कि स्थूल कम उपयोगी है, अथवा कि गैरजरूरी है। मनुष्य ऊँची कल्पना दौड़ाता है, सो तभी जब उसे स्थूल चिन्ताओंसे स्त्रीकी सेवाके आधारपर अपेक्षाकृत छुट्टी मिल जाती है।

प्रश्न—किन्तु, पुरुष जो कि परिवारका संरक्षक होता है, क्या कम स्थूल चिंताओंसे ग्रस्त रहता आया है, क्या संघर्षकी चोट सीधे वही नहीं लेता है?

उत्तर—संघर्षकी चोट तो लेता है, फिर भी यह बात कि आज क्या दाल बने और आज क्या साग बने, इस ओरसे वह बहुत कुछ छूटा हुआ रहता है। नित्य प्रतिकी यह छोटी छोटी बातें स्त्री अपने ऊपर ओढ़ लेती है, तभी पुरुष बड़ी बातोंमें मोर्चा लेनेमें समर्थ होता है।

प्रश्न—स्त्रीको अबला कहा गया है। क्या उसे ऐसा शारीरिक बलके अभावसे ही कहना उचित है, अथवा आत्म-बलकी कमीपर भी?

उत्तर—कोरी शारीरिक बलकी दृष्टि इस विशेषणमें मुझे मालूम होती है।

प्रश्न—उनके उस अबलपनका कारण भी उनके ऊपर पुरुषोंकी संरक्षकता ही है, क्या आप ऐसा मानेंगे?

उत्तर—मान भी लूँ, तो फिर यह प्रश्न उठेगा कि वह संरक्षण बननेमें कैसे आया? इसलिए यह सवाल कि संरक्षण अबलताका कारण हुआ अथवा कि अबलता ही संरक्षणमें कारणीभूत हो गई चकरीला बन जाता है। वैसा चक्कर पैदा करना उपयोगी नहीं है।

प्रश्न—प्रायः जानवरोंमें, और खास तौरसे खूँख्वार जानवरोंमें, देखनेमें आता है कि मादा नरसे किसी भी तरह कम शारीरिक बल नहीं रखती। किसी किसी जातिमें तो वे अधिक ही ज़बरदस्त हैं। पर हाँ, फिर भी, उनमें नरका-सा साहस-वेग (boldness) नहीं है जो स्वभाव-बलसे संबंध रखता है। इसका समाधान क्या आपका उपर्युक्त कथन करता है?

उत्तर—मुझे नहीं मालूम कि पशुओंमें किस जातिकी मादा नरसे अधिक प्रबल होती है। फिर भी, जन्तु-जगतमें मादा कई जातियोंमें नरसे कहीं अधिक बड़ी और शक्तिशालिनी अवश्य होती है। वह अन्तर मेरे ख़यालमें उत्पादनके निमित्त प्रकृति करती है। आरंभमें मादा ही पाई जाती है, नर तो पीछेसे बनता है। कहीं तो नर बिल्कुल ही अप्रासंगिक है, कहीं वह इतना हीन है कि मादाके लिए केवल दयाका पात्र रहता है। जन्तु-जगतमें ऐसा उत्पादनके हेतुसे ही होता होगा, यह समझना युक्ति-संगत प्रतीत होता है; क्यों कि, प्रकृतिका मुक़ाबिला करनेकी शक्ति जंतुमें अति क्षीण होती है। फिर भी, उत्पादन तो प्रकृतिका नियम है। इसीलिए जान पड़ता है कि प्रारंभिक अवस्थामें मादाके प्रति प्रकृतिका पक्षपात है। उत्पादनकी दृष्टिसे मादा ही प्रकृतिरूपा है।

लेकिन सच यह है कि प्रकृतिके असल भेदका किंचित बोध भी हमें नहीं है। यह जो ऊपर कहा है, वैज्ञानिकोंका मंतव्य है। यानी मानव-बुद्धिकी

खोजका परिणाम है। और चूँकि मानव-बुद्धि विकास-शील और परिणमन-शील है, इससे वह मंतव्य बदल भी सकता है।

प्रश्न—स्त्री-पुरुष-विषयक मानसिक एवम शारीरिक बलकी विषमता कभी दूर हो जायगी, क्या आप यह विश्वास करते हैं?

उत्तर—मुझे उसकी जरूरत नहीं मालूम होती।

प्रश्न—तो क्या स्त्रियोंमें उदारता, प्रतिभा और शारीरिक बलकी वही क्षीणता बनी रहे, ऐसा आप चाहते हैं?

उत्तर—शारीरिक बलकी न्यूनाधिकता फिर इन गुणोंमें भी हीनाधिक्य पैदा करती है, ऐसा तो मैं नहीं मानता। कर्मकी विषमता स्त्री और पुरुषमें कुछ न कुछ रहेगी ही। उनके गुणोंमें भी तदनुकूल कुछ भेद रहे, इसमें कोई हानि नहीं है। बल्कि ऐसा होना अनिवार्य है।

प्रश्न—स्त्री-जगतमें जो एक आंदोलन पुरुषोंके प्रत्येक क्षेत्रमें समकक्ष होनेका चल रहा है, क्या वह बे-मानी है? या कुछ उसमें इष्ट भी है?

उत्तर—समकक्षता शाब्दिक अर्थमें खींचनेपर बे-मानी हो जाती है। यों, स्त्री पुरुषसे हीन है, यह बात तो ग़लत है ही। इस हीनताकी भावनाको पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके चित्तमेंसे निकालनेमें जहाँ तक यह आंदोलन सहायक होता है वहाँ तक तो कोई भी बुराईकी बात नहीं है। उससे आगे बढ़नेपर मेलकी जगह तनाव बढ़ता है और उस जगह पहुँचकर उस आंदोलनका समर्थन नहीं हो सकता।

प्रश्न—पुरुषोंकी मनोवृत्ति स्त्रियोंसे काम निकालनेकी (Exploitation की) रही है, क्या साधारणतया ऐसा कहा जा सकता है?

उत्तर—साधारणतया कह दीजिए, लेकिन यह कहनेकी इजाज़त मैं इसी लिए ले सकता हूँ कि मैं स्वयं पुरुष हूँ। स्त्री होकर मुझे यह कहना शोभा नहीं देगा। स्त्री होकर पुरुषको दोष देना मुझे अपने लिए लाभकारी न होगा। मुझे आलोचक बनना है, तो मैं अपना ही आलोचक बनूँ। अतः पुरुष होनेके नाते ही मैं यह कहनेको तैयार हूँ कि पुरुषने स्त्रीके प्रति दुर्व्यवहार किया है और उसे इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रश्न—स्त्री-जगतमें एक लहर पुरुष ही जैसे खतरनाक और साहसिक कार्य कर दिखलानेकी उठी है, कहीं तो वह आकांक्षा और फैशन भी बनती जा रही है। क्या ऐसी चेष्टाएँ कोई वास्तविक सार्थकता रखती हैं?

उत्तर—क्या मुझसे फैसला माँगा जाता है? जो कर्म किसी भीतरी प्रेरणासे नहीं, बाह्य आकांक्षासे प्रेरित है, वह कदाचित् ही हितकर होता है।

प्रश्न—सार्वजनिक कार्योंके प्रति स्त्रियोंका कर्त्तव्य क्या वैसा ही है जैसा पुरुषोंका? अथवा कुछ भेद-युक्त?

उत्तर—सार्वजनिक हितमें उसका समान भाग है। लेकिन, जिनको सार्वजनिक कार्य कहा जाता है, ऐसे कार्यमें स्त्री और पुरुषके भागमें मैं भेद मानता हूँ।

प्रश्न—वह भेद क्या है?

उत्तर—स्त्रीमें कोमल गुणोंकी विशेषता है। वह उन गुणोंद्वारा अपना दान समाजको देगी। यानी दौड़-धूप, व्यवस्था-संगठन और चुनावकी लड़ाइयोंका क्षेत्र उसके अनुकूल क्षेत्र नहीं है।

प्रश्न—किन्तु, उन क्षेत्रोंके कार्य-संपादनके साधनका क्या कोमलताके विरुद्ध होना अनिवार्य ही है? क्या वे कर्म स्त्रियोंकी कोमलतासे और भी सहज-संपाद्य नहीं हो सकते?

उत्तर—सब कामोंमें स्त्रीका हिस्सा लेना अनिवार्य नहीं है। अगर वकालत मीठी बोलीसे ज़्यादा भी चल सकती हो, तो इस कारण स्त्रीको वकालत करना जरूरी है,—ऐसा मैं नहीं मानता। कुछ काम ऐसे हैं,—और सामाजिक सार्वजनिक काम अधिकांश इसी प्रकृतिके होते हैं—जिनमें उत्सर्गसे अधिक आग्रह और विग्रहकी वृत्ति जरूरी होती है। इसमें कोई अर्थ नहीं कि स्त्रीसे चाहा जाय, अथवा कि स्त्री स्वयं चाहे, कि वह उन कामोंमें हाथ बँटाए ही बँटाए।

प्रश्न—लेकिन वकालत सामाजिक अथवा सार्वजनिक कार्य तो नहीं है। वहाँ भले ही स्त्रीकी कोमलताका सदुपयोग न हो सके, पर समाज-सेवामें वह क्यों ग़ैर मुनासिब है?

उत्तर—ठीक। वह सार्वजनिक अथवा सामाजिक नहीं, व्यावसायिक कार्य है।

मैंने कहा कि सार्वजनिक हितमें उसका कम भाग नहीं है। वह परिवारके बच्चोंको सँभालती है, अन्नको भोजनके रूपमें प्रस्तुत करती है, घरके और दस काम संभालती है। यह सब भी क्या सार्वजनिक और सामाजिक हितका काम नहीं है? अथवा कि यह काम क्यों कम महत्त्वका है? सार्वजनिक कार्य कहनेसे जिस एक विशेष प्रकारके व्यवस्थापक और कोलाहलात्मक कामोंका बोध होने लगा है, उसके लिए क्यों न पुरुषसे माँग की जाय कि वह उस भारको सँभाले। मेरे ख्यालमें पुरुषकी कठोरता भी इस भाँति चरितार्थ और सदुपयुक्त होती है।

प्रश्न—सार्वजनिक कार्यके लिए यदि किसी वास्तविक योग्यताकी आवश्यकता है और वह किसी स्त्रीमें पाई जाती है, तो क्या आप उसे उत्साहित न करेंगे?

उत्तर—जैसे?

प्रश्न—जैसे कि किसी अंदोलन, सभा-सोसायटी या कौंसिल-असेम्ब्लीमें नेतृत्व करनेकी क्षमता?

उत्तर—हाँ, उसके लिए मैं स्त्रीको उत्साहित नहीं करूँगा। इसके माने क्षमताका अपमान नहीं है। लेकिन क्षमताका लक्षण ही यह है कि वह भूखी नहीं होती। बाल-बच्चे और अड़ौस-पड़ौसमें क्या वह क्षमता क्षमता होकर काफी काम और संतोष नहीं पा सकती? अगर नहीं तो कैसी वह क्षमता है? पास-पड़ोसमें करनेको काम कम नहीं है, बल्कि जितनी क्षमता अधिक सक्षम हो, उतनी ही वह आसपासकी स्थितिको सुधारने और बदलनेमें अधिक समर्थ होगी।

फिर यह भी याद रखना चाहिए कि अपवाद नियमको सिद्ध करता है। अपवाद सदा होंगे और होने देने चाहिए।

प्रश्न—क्या कभी कभी ऐसा समय देश, जाति या परिवारके लिए नहीं आता है जब कि स्त्रियोंको बिना किसी भेदके पुरुषोंकी तरह बाहर आकर सार्वजनिक कार्यमें भाग लेना चाहिए?

उत्तर—'बिना किसी भेद' पर क्यों ज़िद हो? हाँ, ऐसे समय जरूर आते हैं जब उन्हें साधारण गिरस्तीके कामोंसे बाहर आकर कुछ और करना पड़े। राष्ट्रीय संकटके समय अथवा और अनहोनी घटनाओंके समय ऐसा होता है। उसमें अनुचित कुछ नहीं है।

प्रश्न—गिरस्तीके कामोंको छोड़कर क्या अन्य किसी भी कार्यके लिये स्त्री अनधिकारी और अनुपयुक्त है?

उत्तर—क्यों नहीं। गिरस्तीसे मतलब यह थोड़ा ही है कि अपने नातेदारोंसे आगे वह और किसीसे सम्बन्ध रक्खे ही नहीं। बच्चोंसे उसका संबंध प्राकृतिक है, और ऐसा मालूम होता है कि छोटे बच्चोंकी शिक्षाके लिए माताएँ और मातृ-जाति विशेष उपयोगी हो सकती है।

प्रश्न—किन्तु स्कूल, अस्पताल, मिशनरी-संस्था, न्यायालय, पुलिस-विभाग, जेल इत्यादि महकमोंमें बतौर पेशेके भी कोई स्थान ले सकती हैं कि नहीं?

उत्तर—जेल-पुलिसमें नहीं। न्यायालयमें कथंचित्। और आपके बताये अन्य विभागोंमें स्त्रीका उपयोग विशिष्टतर मालूम होता है।

प्रश्न—वे जब उन महकमोंमें मुलाज़िम होंगीं, तो गिरस्तीका कार्य उनके यहाँ कौन चलायेगा?

उत्तर—गिरस्तीका काम, अगर वह बहुत बड़ी गिरस्ती न हो तो, क्या समूचेका समूचा स्त्रीको भर लेता है? फिर गिरस्तियोंमें भी तो आपसमें सहयोग और मिलना-जुलना होगा। इससे सामुदायिक आवश्यकताएँ भी उत्पन्न होंगीं। जैसे शिक्षा या आरोग्य, रोगी-शुश्रूषा आदि। वे घरेलूसे अधिक नागरिक विषय हो जावेंगे। परस्परके सहयोगसे ही सब काम पूरे होंगे और कोई स्त्री किसी ओर, तो दूसरी दूसरी ओर विशेष मनोयोग दे सकेगी। फिर स्त्रियोंमें अविवाहित, विधवा, निस्संतति, सेवाव्रती, निश्चिन्त, अथवा गृहस्थिन आदि सभी प्रकारकी स्थितियोंकी स्त्रियाँ होंगीं। वे अलग अलग कम-अधिक इन-उन कामोंको निबाहने योग्य क्यों न हो सकेंगीं?

प्रश्न—जीवनके कार्योंको शायद आप दो भागोंमें बाँटते हैं। कुछ स्त्रियोंके लिए, कुछ पुरुषोंके लिए। क्या इसका यह अर्थ लिया जा सकता है कि स्त्री-पुरुषके अपने अपने गुण हैं और व्यक्तिरूपसे दोनोंमें कोई गुण-साम्य नहीं है?

उत्तर—मानव तो दोनों हैं, स्त्री भी, पुरुष भी। मानवताके सामान्य गुण दोनोंहीमें जरूरी हैं। उसके आगे बढ़नेपर स्त्री और पुरुषका कर्त्तव्य-भेद आता है। उस दृष्टिसे उनमें अन्तर भी है।

प्रश्न—क्या स्त्रीमें कोमलता आदि कुछ ऐसे गुण प्रधान हैं, जो पुरुषोंमें कम मिलते हैं? तो क्या ये गुण (कोमलता आदि) पुरुषत्वके विरुद्ध हैं?

उत्तर—विरुद्ध नहीं कहना होगा। असलमें आदर्शका रूपक जब बाँधा गया है, तो उसको 'अर्धनारीश्वर' विशेषण भी दिया गया है। इसलिए पुरुषत्व और नारीत्वमें किंचित् विरोध मानकर भी अन्तमें तो दोनों ही समन्वित होंगे, ऐसा मानना होगा। दाम्पत्य और परिवार ऐसी ही सम्मिलित संस्थाएँ हैं, जिनमें एकके सहयोगसे दूसरा संपूर्ण होता है।

प्रश्न—क्या पुरुषत्वमें स्त्रीत्वकी अपेक्षा कुछ न कुछ कठोरताका होना अनिवार्य है?

उत्तर—नहीं तो क्या?

प्रश्न—तो क्या वह कठोरता स्त्रीके मुक़ाबिले पुरुषकी एक-मात्र विशेषता है?

उत्तर—एक-मात्र क्यों? और मृदुता अगर कुछ भी कठोर बनना न जान सके तो क्या वह निकम्मी ही चीज़ न हो जायगी? इसी भाँति पुरुषकी कठोरता भी स्त्रीकी कोमलताकी ओर प्रेमसे उमड़कर कठोर कम यद्यपि तेजस्वी अधिक हो जाती है। फिर ये तो शब्द हैं। यों क्यों न कहो कि स्त्रीकी विशेषता यह है कि वह स्त्री है, और पुरुष अपनी ही विशेषतासे पुरुष है। उनकी विशेषताओंको अलग किसी और शब्दमें बाँधनेके आग्रहकी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—पुरुष अपनी कठोरतासे जिस संघर्षसे निबटता है, उससे क्या स्त्रीकी कोमलतासे भी निबटा जा सकता है?

उत्तर—कठोरताका आदर्श कठोरता नहीं है। कोमलतासे वह अपना सम्बन्ध जोड़ सके, कठोरता युगपत् भीतरसे कोमलता हो, यह उसका आदर्श है।

ईंटसे मकान बनता है। क्या मिट्टीसे काम नहीं बन सकता? लेकिन मिट्टी और ईंटमें प्रकृतिके लिहाज़ इतना ही तो फर्क है कि ईंट पकी हुई मिट्टी है। मिट्टी पक जाय तो ईंट हो जाय। पत्थर भी क्या मिट्टीका ही नहीं होता? इसलिए यह पूछना कि स्त्री-सुलभ कोमलतासे क्या जीवन-संघर्षको पार नहीं किया जा सकता, विशेष अर्थकारी नहीं है। क्यों कि जो स्त्री अपेक्षाकृत निस्सहाय और

एकाकी होकर जीवन-यापन करती है, कहा जा सकता है कि वह पुरुषोचित गुणोंसे भी काम लेती है।

क्या आप यह समझते हैं कि पुरुष एक मिट्टीका बनता है और स्त्री दूसरी मिट्टीकी बनाई जाती है? नहीं, दोनोंके गुण बीज-रूपसे दोनोंमें विद्यमान होते हैं। प्राधान्य जिनका होता है, वही फिर अन्ततः स्व-भाव-निर्णायक हो जाते हैं।

प्रश्न—निजी विशेषताओंसे स्त्री स्त्री और पुरुष पुरुष है,—यानी स्त्री कोमलतासे और पुरुष संघर्षोपयुक्त कठोरतासे,—तो क्या स्त्रीका आदर्श अधिकसे अधिक कोमल और पुरुषका अधिकसे अधिक वैसा ही कठोर होना नहीं है?

उत्तर—सो कैसे हो सकता है? आदर्श अर्धनारीश्वर है। आशय यह नहीं कि व्यक्ति संकर हो जावे। नपुंसक भी स्त्री अथवा पुरुष नहीं होता। पर नपुंसक आदर्श नहीं है। आदर्श निषेधात्मक नहीं, समग्रात्मक होता है। स्त्रीत्व और पौरुषका जीवित समन्वय आदर्श-रूप है। वहाँ होगी व्यक्तित्वकी पूर्णता। सभी गुण जहाँ पूर्णताको प्राप्त होते हैं,—शौर्य भी और मार्दव भी, तेज भी और आर्जव भी,—वह निर्गुणताकी स्थिति सिद्धि है। 'निर्गुण'से आशय गुण-हीनता नहीं, पर गुणोंकी यथावस्थितता है। जैसे सब रंग मिलकर निरंग सफ़ेद हो जाते हैं। धवलता वह रंगहीनता है जो प्रकाशकी भाँति केवल उज्ज्वल है और जिसमें सब रंग समाहित हैं।

प्रश्न—क्या इसका यही अर्थ हुआ कि पूर्ण व्यक्तित्वको पहुँच कर स्त्री स्त्री नहीं रहेगी और पुरुष पुरुष नहीं, बल्कि दोनों एक ही समान किसी तीसरी अवस्थामें होंगे? किन्तु फिर उस समय जीवनके कार्य व्यापारमें भी क्या उन स्त्री-पुरुषका भेद रहना आवश्यक होगा?

उत्तर—हाँ, बहुत कुछ यह अर्थ हुआ। बहुत कुछ हुआ, पूरी तरह नहीं। जिस अंशमें स्त्री-पुरुष अपनी अपनी मर्यादाओंसे विकास-क्रमसे ऊँचे उठते जायँगे, वैसे ही वैसे उनमें कर्त्तव्य-भेदकी मर्यादाएँ कम होती जायँगीं। मसलन संन्यास अवस्थामें गृहस्थीकी मर्यादा क्या स्त्रीपर लागू होती है?

प्रश्न—तो फिर निर्गुणावस्थाके प्राप्त होनेकी भी कोई संभावना है?

उत्तर—जबतक देह है तबतक गुणका बंधन भी है। शुद्ध निर्गुणावस्था देहातीत है।

प्रश्न—क्या आपका विश्वास है कि मानव-जीवनका विकास निर्गुणावस्थाकी ओर है ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—किन्तु, क्या आप नहीं मानेंगे कि जहाँ एक ओर भौतिक जटिलता बढ़ रही है, वहाँ उसीके साथ साथ हमारे संस्कार भी जटिल और बहुमुखी होते जा रहे हैं ?

उत्तर—यह भी मानता हूँ।

प्रश्न—तो फिर उन संस्कारों और भावोंके साथ साथ आप कैसे कहेंगे कि हम निर्गुणावस्थाकी ओर जा रहे हैं ?

उत्तर—जटिलता अंतमें अपनेको खा लेगी और गुणोंका परस्पर विरोध नष्ट हो जायगा। वही अवस्था गुणातीत अथवा निर्गुण होगी। जो निर्गुण, वह निराकार। निराकार अर्थात सर्वव्यापी। इसलिए निर्गुण-निराकारकी स्थितिमें अस्तित्वका नाश नहीं है। वहाँ अस्तित्वकी सर्वात्मकता है। वहाँ बाधा-रूप देह भी नहीं है।

पर ऐसे आदर्शके भजनसे हटकर उसका व्योरा पानेपर हम क्यों आ तुले हैं ? यह उपादेय नहीं है।

प्रश्न—किन्तु निर्गुणावस्थाके भजनसे आपका क्या अर्थ है ?

उत्तर—'भजन'से अर्थ है भजना, ध्यानमें लाना, आदि।

प्रश्न—तो क्या आप सीधे सादे शब्दोंमें समाजको उसके सब दुःखोंका नुसखा यह कहकर ही दे सकेंगे कि निर्गुणावस्थाका ध्यान करो ? क्या यह कहना आपका किसी भी क़दर सार्थक हो सकता है ?

उत्तर—नुस्खा अगर कोई हो, तो वह समाजको नहीं दिया जा रहा। समाजके व्यक्तियोंको दिया जा रहा है।

व्यक्तिमें ध्यानकी शक्ति है। व्यक्तिमें आदर्शके बिना गति ही नहीं है। निश्चय उस आदर्शका आदर्श-रूप निर्गुण-निराकारमय है। वैसा यदि नहीं है तो आदर्शकी आदर्शता कभी न कभी लुप्त हो जायगी।

ध्यान, भजन, मनन, साधन अथवा अन्य विधियोंद्वारा व्यक्ति उसी आदर्शको सगुण-साकार रूप देता है। सगुण आराधनासे वह शक्ति प्राप्त करता और प्रगति करता है।

इसमें नुस्ख़ेका प्रश्न नहीं। यह तो धर्म है, यानी वस्तु-स्वभाव है। होता ही यह है। हर मामलेमें, हर व्यक्तिके साथ, ऐसा होता है।

'निर्गुणके भजन'से उन आडम्बर-पूर्ण कृत्योंका अर्थ तो कहीं नहीं समझ लिया गया है जो धार्मिक कहे जाते हैं, और जिनकी हिन्दुस्तानमें और अन्य देशोंमें भी बहुलता दीखती है? वह मतलब नहीं है।

जिसको सम्पूर्ण व्यक्तित्वके ज़ोरसे उपलब्ध करनेके निमित्त हम जी रहे हैं, उसको शब्दोंद्वारा ऐसा या वैसा आकार देना कहाँतक उचित है, कहाँ तक वह संभव भी है, यह समझनेकी,—अनुभव करनेकी, बात है। और फिर उन भिन्न भिन्न आकार-धारणाओंपर विवाद और विग्रह भी होते हैं। वे विग्रह इसीलिए संभव होते हैं कि यह भुला दिया जाता है कि वे धारणाएँ यदि सत्य हैं तो इसीलिये सत्य हैं कि वे किसी अमूर्त्तकी मूर्त्त प्रतीक हैं। अमूर्त्तसे विमुखता धारण की कि मूर्त्त झूठ हुआ।

मैं नहीं जानता कि मानवोपयोगी कौन-सा सामाजिक प्रयत्न मूर्त्तद्वारा अमूर्त्त भजनके विरुद्ध पड़ता है। क्यों न समझा जाय कि आदमीकी सब चेष्टाएँ, सब प्रयत्न, अंतमें उसी एक उपलब्धिकी ओर उन्मुख हैं।

जिसको सामाजिक क्रान्ति कहो वह भी, और जिसे सामाजिक क्रमोदय कहो वह भी, सब उसी मुक्ति-मार्गमें अपने अपने क्रमसे उपस्थित होते हैं।

१७–अर्थ और परमार्थ

प्रश्न—उस आदर्शके भजन और ध्यानकी बात आज एकदम कितनोंको सूझती है,—यह तो मैं नहीं कह सकता। किन्तु, मुख्य प्रश्न क्या आजकलके व्यक्तियोंके सामने केवल रोटीके पाने और उसके साझे-बाँटेका नहीं है? उस समस्याका निर्णय क्योंकर हो सकता है?

उत्तर—उक्ति है 'कोउ काऊमें मगन कोउ काऊमें मगन'। यह बात मग्नताके विषयमें ही नहीं, उससे उधर भी सच है। किसीकी समस्या रोटीकी है, तो दूसरेकी समस्या रोटीसे आगे बढकर चुपड़ी रोटीकी है। तीसरेकी मोटरकी, चौथेकी मकानकी, पाँचवेंकी कर्ज़ भुगतानकी, वगैरह। हम एकदम सीधे तौरपर जब यह कह देते हैं कि समाजकी समस्या रोटीकी है, तब अपने साथ पूरा न्याय नहीं करते। असलमें समस्या समस्या है और अगर वह सचमुच परेशान कर रही है, तो उस समस्याको जीवित समस्या, अर्थात् जीवनकी समस्या, कहना चाहिए।

शब्द चल पड़े हैं: आर्थिक समस्या, राजनीतिक समस्या। उन शब्दोंको व्यवहारमें लाना गलत नहीं है। लेकिन, कहीं उनका मतलब यह न समझ लिया जाय कि जीवनमें वैसे खाने बने हुए हैं। अध्यात्मका एक खाना, समाजका दूसरा खाना, अर्थका तीसरा ख़ाना! न न, ऐसा बिल्कुल नहीं है। समूचा जीवन एक तत्त्व है। प्रश्न दृष्टिकोणका है। अगर हम अर्थकी ओरसे मूल समस्याको ग्रहण करते हैं तो वह आर्थिक जान पड़ती है, नीतिकी ओरसे उसे पाना और सुलझाना चाहते हैं तो वह नैतिक जान पड़ती है।

इसीलिये मेरा आग्रह है कि हम जो भी उलझन है, उसको किसी शास्त्रके (अर्थशास्त्र अथवा नीतिशास्त्रके) भरोसे न टाल दें। वह शास्त्रोंसे खुलने-वाली नहीं। पहली जरूरी बात यह है कि वह समस्या हमारे निकट सच्ची बने, यानी जीवनमें घुली-मिली दिखाई दे। इससे पहले उसको सुलझानेका कोई प्रयत्न सच्चा नहीं हो सकता। जब वह जीवनके साथ एकम-एक हो जायगी तब हम उसे चारों ओरसे ही सुलझानेकी चेष्टामें लगेंगे। पूरे जीवनके जोरसे हम

उसे खोलेंगे और सुलझाएँगे। और वह अगर सुलझ गई और खुली तो ऐसे ही खुलेगी, अन्यथा नहीं।

ऊपर जो अरूप-अमूर्त्तके भजनकी बात कही गई, वह इसी समूचे जीवनकी अपेक्षाको याद रखकर कही गई। सामयिक-कर्मके प्रोग्रामकी ध्वनि उसके आसपास नहीं है। वह कोरी आध्यात्मिक-सी बात मालूम होती है। किन्तु ऐसा इस कारण है कि सामयिक कर्मका प्रोग्राम देना न यहाँ मेरा लक्ष्य है न आपका ही। वह प्रोग्राम माँगनेका अभिप्राय होगा। वैसा प्रोग्राम व्यक्ति अपनी शक्ति और अपनी स्थितिके सामंजस्यसे स्वयं प्राप्त करेगा। वह सबको अन्दरसे मिलेगा। बाहरसे वह आरोपित हो नहीं सकता है और मैं स्वीकार करता हूँ कि उस दृष्टिसे आदर्श चर्चा, जो कि अमूर्त-चर्चा ही हो जाती है, अत्यन्त आवश्यकीय विषय है।

१८—मजूर और मालिक

प्रश्न—तो यह आप मानते ही हैं कि रोटीकी, उसके साझे-बाँटेकी, समस्या हमारे समूचे जीवनकी समस्याका एक भाग है। लेकिन इसके साथ क्या आप यह भी मानेंगे कि इस समस्याका मूल कारण हमारे मशीन-युगके कारण बन गई हुई पूँजीपति और मजदूर ये दो श्रेणियाँ हैं ?

उत्तर—नहीं, यह नहीं मानता। मशीन-युग स्वयं व्याधिका चिह्न और फल है, कारण नहीं। उसे कारण मानना बातका अपने हाथसे बाहर फेंक देना है।

प्रश्न—पूंजीपति अपनी पूँजीके बलसे मजदूरोंसे मनमाना काम करता है और कमसे एवज कम देता है, इसकी संभावना मशीन-युगसे पहिले नहीं थी, क्या आप इससे इंकार करते हैं ?

उत्तर—मशीन-युगसे पहिले मशीन नहीं थी, इसलिये मालिक एक साथ बहुतसे मज़दूरोंकी जानको इस भाँति अपनी मुट्ठीमें भी नहीं रखता था।

लेकिन तब गुलामीकी प्रत्यक्ष परोक्ष कई अन्य प्रथाएँ थीं। क्या वे मजदूरी-प्रथासे कम अनिष्ट थीं ?

प्रश्न—गुलामी-प्रथा इससे कहीं बढ़कर अनिष्ट थी। लेकिन सभ्यताकी ओर अग्रसर मानव-जातिने उसका प्रतीकार भी किया। तो क्या इस मज़दूरी-प्रथाको भी उसी प्रकारका अनिष्ट मानकर उसका प्रतीकार करना नहीं चाहिए ?

उत्तर—क्यों नहीं करना चाहिए ? किसीको क्या हक है कि दूसरे मनुष्यके रिश्तेमें वह अपनेको मालिक माने या कि अपनेको उसका आश्रित मजूर माने ? दोनों तरहसे यह मानवताका अपमान है और इसमें आत्मघात है। दो आदमियोंके बीच मालिक नौकरका रिश्ता सामाजिक पाप है। इसलिए एक लिहाज़से यह व्यक्तिगत पापसे भी अधिक चिन्तनीय है।

प्रश्न—तब यह मजूर-मालिककी समस्या इस युगकी होनेमें

आपको कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती है? किन्तु इसके निराकरणका उपाय भी कभी आपने सोचा है? सोचा है, तो क्या?

उत्तर—साफ़ तो है कि मैं न अनिच्छापूर्वक मजूर बनूँ, न अनिच्छापूर्वक किसीको मजूर बनाऊँ। एक एक करके लोकमत भी ऐसा बनता जायगा और पर्याप्त लोकमत बननेके बाद आईन-कानूनसे भी इसके पक्षमें सहायता मिलनी चाहिए। जो गलत है उसको वर्जनीय ठहराकर मैं आजसे ही अपना आचरण तदनुकूल चलाना आरंभ कर दूँ, और जिनपर मेरा प्रभाव हो उनको भी उस ओर प्रेरणा दूँ। यह स्पष्ट उपाय है और यह उपाय अमोघ भी है।

प्रश्न—मजूर अपनेको मजूर न समझे और मालिक अपनेको मालिक नहीं। किन्तु फिर भी कोई न कोई काम करनेवाला और कोई न कोई पैसा लगानेवाला तो रहेगा ही और पैसा लगानेवालेको अपने पैसेकी सुरक्षा और वृद्धिके लिये दूसरोंके 'कॉम्पिटीशनका' भी ख्याल करना होगा। तो फिर वह मजूरोंसे अधिकसे अधिक काम लेनेसे कैसे बच सकता है?

उत्तर—पैसेवाला पैसेको अपना न समझे, कामका पैसा समझे, तब पैसेसे हर हालतमें नफ़ा उठानेकी तृष्णा मंद हो जायगी। अब भी तो स्टेट शिक्षाके मदमें काफ़ी खर्च करता है। क्या उस मदसे पैसके अर्थमें मुनाफा होता है? औद्योगिक स्पर्धामें घुटकर व्यावसायिक मनोवृत्ति हो जानेके कारण ही ऐसा जान पड़ता है कि पैसेको हाथसे छोड़नेमें एक ही अर्थ हो सकता है, और वह अर्थ होगा उसपर मुनाफा उठाना। परन्तु, यदि गहरी दृष्टिसे देखें तो यह बात सच है नहीं। आज भी मंदिर, सदाव्रत, धर्मशाला, अस्पताल और अन्य सार्वजनिक संस्थाओंका होना क्या यह साबित नहीं करता है कि पैसा व्यक्तिगत आर्थिक प्रत्याशाके अभावमें भी खर्च हो सकता है? आप देखेंगे कि बड़ीसे बड़ी इमारतें अगर कहीं हैं तो वे व्यक्तिकी नहीं हैं, वे सार्वजनिक हैं। इसका यही अर्थ होता है कि व्यक्तिके भीतर ही सामाजिक और सार्वजनिक प्रेरणा हैं। उस प्रेरणाको पुष्ट और बलिष्ट किया जाय तो कोई कारण नहीं कि आदमी बिना संकीर्ण प्रतिफलकी भावनाके अपने संरक्षणमें आये हुए रुपयेको खर्च न करे।

और अगर पैसेपरसे अपने स्वत्वाधिकारकी भावनाको धनाढय व्यक्ति कम

नहीं कर सकेगा तो उसकी धनाढ्यता खतरेमें है, यह उसे पक्की तौरपर समझ लेना चाहिए। क्योंकि भूख तो भूखी नहीं रहेगी और फिर एक हदसे अधिक भूखी होकर वह धनाढ्यताके गर्वको खर्व किए बिना दम न लेगी।

इसलिये अगर मालिक सीधी तरह अपनेको मालिक समझना नहीं छोड़ देगा, तो भाग्य तो सीधे-टेढ़ेका ध्यान नहीं रखता है। और वह भाग्य फिर टेढ़े रास्तेसे ही भूले हुएको उसकी भूल सुझा देगा।

प्रश्न—यह तो आपने बतलाया कि मालिक उचित रूपसे क्या समझें और करें। किन्तु, जो ऐसा समझने और करनेके पास नहीं फटकना चाहते, उनका क्या इलाज है?

उत्तर—इलाज है उनका दुर्भाग्य। धर्म-शास्त्रोंने कर्म-फलको अनिवार्य बतलाया है। पापका फल नर्क और पुण्यका स्वर्ग बताया है। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, इसमें मुझे रंच-मात्र संशय नहीं है।

प्रश्न—पाप-पुण्यका फल देनेवाले भाग्यके हाथ-पैर भी, मैं समझता हूँ, वर्त्तमानके लोगोंमें ही रहते हैं क्योंकि उन्हींमें उचित-अनुचितके साथ बरतनेकी सूझ पैदा होती है। तो मैं यह पूछता हूँ कि आपको भी कोई ऐसी बात सूझती है कि इन अधर्मियोंके साथ क्या किया जाय?

उत्तर—नहीं, पापका फल देनेवाले हम-तुम नहीं। हमारे-तुम्हारे द्वारा अगर फल दिया जाता हो, तो वह बात दूसरी है।

अधर्मीको दंड मिलेगा, यह तो उस अधर्मी व्यक्तिको याद रखना ही चाहिए। पर दंड देनेका जिम्मा कौन है जो अपने ऊपर ले सके? है कोई जो बिलकुल अधर्मी नहीं है?

फिर भी, सामाजिक व्यवहारके लिए तरह-तरहके दायित्व समाजद्वारा लोगोंपर डाले जाते हैं और उस दायित्व-पूर्तिके वास्ते ज़रूरी अधिकार भी उन्हें दिए जाते हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि हम उन दायित्वोंको छोड़कर भाग सकते हैं। इसीलिये, समाजमें एक अपराधी है तो एक जज भी है। वह सामाजिक कार्य निबाहे तो जायँगे ही, फिर भी, व्यक्तियोंमें जहाँतक हो वहाँतक भावना साम्यकी ही रहनी चाहिए। जज कहीं यह न समझ बैठें कि अपराधी पशु

हैं और वह स्वयं दूध-धोए हैं। क्यों कि, यह तो अन्तर्यामी ही जानता है कि अधर्मी क्यों और कितना अपराधी है और धर्माभिमानीका भी पुण्यकर्म किस हदतक धर्म है। हमारा सामाजिक लेखा-जोखा इसकी तह तक नहीं पहुँच सकता। इसीलिये परम धर्म तो क्षमा ही है, दंडकी बात बस सामाजिकताको देखते हुए हो सकती है। जो कृत्य जिस कालमें सामाजिक ऐक्यके लिये जितना विघातक समझा गया वह उतना ही दंडनीय ठहरा, चाहे फिर भीतरसे वह कृत्य कितना ही धर्म-भावनासे प्रेरित क्यों न रहा हो। ईसामसीहकी सूली उसीका उदाहरण है।

अधर्मीके प्रति किसका क्या व्यवहार हो, यह तो एक व्यक्तिके ऊपर आ गये हुए सामाजिक उत्तरदायित्वकी अपेक्षामें निश्चित होगा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि अधर्मके प्रति असहयोग और स्वधर्मके प्रति निष्ठा, यह धार्मिक जनका कर्त्तव्य है। इसीमें सब-कुछ आ जाता है।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब है कि मजूर लोग वैसे मालिकोंका काम करना छोड़ दें?

उत्तर—वे मजूर बने ही क्यों? उन्हें अपने श्रमका मालिक रहना चाहिये। हरेक स्वाधीन भावसे उद्यमी क्यों न हो?

प्रश्न—किन्तु श्रमका मालिक बननेका भी तो यही अर्थ है न कि वे श्रमकी क़ीमतके लिये मालिकोंके अधीन न रहें, जैसे अधीन कि वह हैं? फिर इसके लिये असहयोग करें, यानी हड़ताल करें, यही न?

उत्तर—नहीं, श्रमकी क़ीमतके लिये नहीं, श्रमके दानके लिये वे किसीके अधीन न रहें। कीमतका जहाँ तक संबंध है वहाँ तक तो प्रत्येक आदमी कुछ न कुछ पराधीन है। क़ीमत सदा आपेक्षिक (=Relative) होती है। उसके निर्धारणमें बहुत-सी बाहरी बातों (=factors) का भी संबंध होता है। इसलिये कर्म-फलके बारेमें जब कि व्यक्ति स्वाधीन नहीं है, तब स्वयं कर्मके संबंधमें अवश्य वह स्वाधीन होता है। इसलिये मज़दूरका अपने परिश्रमके संबंधमें स्वाधीन होना, अर्थात् उसका स्वाधीन-चेता होना, काफ़ी है। स्वाधीन-चेता व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक सेवा करता है और विवेकपूर्वक कर्म करता है। वह अपने कर्मका कर्त्ता होता है और अपनी मज़दूरीका मालिक होता है। इस कारण वह दयनीय नहीं होता, अनुकरणीय हो जाता है।

प्रश्न—कर्म-फलको बिल्कुल अपने अधीन नहीं भी समझा जा सके, तो भी अपने श्रम और युक्तिके बलपर कुछ न कुछ उसे अधीन जरूर ही समझना होता है और उसे ऐसा बनानेहीके लिये श्रम होता है। नहीं तो क्यों और किसके लिये चेष्टा की जाय? तो पूछना यही था कि मजदूर भी अपनी मज़दूरीके प्रति न्याय प्राप्त करनेके लिये उस अधर्मी मालिकके साथ व्यवहार-रूपमें असहयोग किस प्रकार करे?

उत्तर—व्यवहार-रूपमें कोई क्या करे, यह उसकी स्थिति और उसकी शक्तिपर निर्भर करता है। लेकिन, जो मजदूर है उसको यह समझ लेना चाहिये कि जन-शक्ति धन-शक्तिसे हीन नहीं है। वह सदा ही उससे प्रबल है। धनमें यदि शक्ति है, तो इसी कारण कि उससे जन-शक्ति भी बहुत कुछ हाथमें आ जाती है। अगर जन-शक्ति स्वाधीन-चेता हो जाये तो पूंजी और परिश्रमके संघर्ष का सवाल भी बहुत कुछ हल हो जाय। क्यों मजदूर यह बर्दाश्त करते हैं कि पशुओंकी भाँति उनसे व्यवहार हो? उनकी इस झूटी सहनशक्तिमें ही रोगके कीटाणु हैं। क्या वे मनुष्य नहीं हैं? पहली आवश्यकता तो यह है कि वे मनुष्य बनें। मानवोचित व्यवहार करें और वैसा ही व्यवहार स्वीकार्य करें। अपना कर्त्तव्य पालन करनेके रास्ते अपने अधिकारोंके अधिकारी बनें। उनके ऐसा बननेके बाद पूँजीपतियोंमें यदि कुछ दुर्व्यवहारकी लत शेष भी रही होगी तो जाग्रत लोकमत उससे सुलझ लेगा। मजूर लोग यह क्यों नहीं अनुभव करते कि लोकमतकी शक्ति बड़ी होती है और उसके द्वारा शासन-पद्धति तक बदली जा सकती है? वे तो सदा ही संख्यामें अधिक होते हैं, तब उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि लोकमत पूंजी-पतिसे अधिक श्रम-पतिके निकट और वशमें होता है। ऐसा वे समझ जायें, तब फिर पूंजीकी (=Capital की) ओरसे श्रम के प्रति (=Labour के प्रति) नासमझीका व्यवहार संभव नहीं रहेगा।

प्रश्न—मजदूर जो मजदूरी पाते हैं वह कम है या अधिक, इसका निर्णय तो उन जरूरतोंके ख्यालसे हो सकता है जिनका अनुभव वे स्वयं करते हैं। किन्तु वह मजदूरी श्रमके अनुसार उनका ठीक पारिश्रमिक है कि नहीं, इसका निर्णय वे कैसे करें?

उत्तर—अपनी जरूरतोंके लिहाजके अतिरिक्त कोई निर्णयका पैमाना उनके पास नहीं हो सकता। न होनेकी जरूरत है।

हरेक प्राणीको जरूरी धूप और जरूरी हवा और जरूरी जमीन पानेका हक है, इसके बाद पेटभर खाना और आवश्यक आच्छादान भी उसे मिलना चाहिए। उसके आगे आत्मसंपादन और आत्मदान करने-योग्य क्षमता और सुविधा उसे मिलनी चाहिए।

जीवन ज्यों ज्यों जटिल होता जाता है, वैसे ही वैसे किसी प्रकारकी दस्तकारी अथवा व्यवसायकी (=handicraft or profession की) शिक्षा भी निर्वाह करने और समाजोपयोगी होनेके लिए जरूरी होती जाती है। वह शिक्षा भी प्रत्येकको मिलनी चाहिए।

श्रमीके श्रमका बाजार-मूल्य आज चाहे कुछ हो, लेकिन उसको (बाजार दरको) ऊपर बताई दिशाकी ओर ही बढ़ना चाहिए। मिसालके तौरपर आज एक मिलका मालिक बाजारकी कठिनाइयाँ बताकर यह कहता है कि मजदूरको दिनमें दो आनेसे ज्यादा देनेसे माल महँगा पड़ता है और बाजारमें बिक नहीं सकता। तो उसका यह कहना बाजारके लिहाजसे कितना ही सच हो, फिर भी, मेहनत करनेवालेकी मजूरी, जब कि जिन्दा रहनेके लिए बारह आने प्रति दिन जरूरी हो, दो आने किसी हालतमें नहीं की जा सकती।

यानी, आदमीकी मौलिक आवश्यकताओंके बारेमें किन्हीं आर्थिक अंकोंके आधारपर विचार करना काफी नहीं है। आदमीका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्तियोंका दान करनेको उद्यत रहे। इसके बाद उसका हक हो जाता है कि जिन्दगीकी जरूरियात उसकी मेहनतके एवजमें उसे मिल जाएँ।

लेकिन मेहनतकी बाजार दर नियत करनेमें और-और बातोंका भी असर पड़ता है। उसीका परिणाम है कि कभी जी तोड़ मेहनतसे भर-पेट खाना नहीं मिल पाता है और ठाली रहकर बिना मेहनत ढेर की ढेर कमाई की जा सकती है।

इसलिए बाजारका मूल्य-निर्धारण जिन सामाजिक एवं आर्थिक संघटनाओंपर निर्भर करता है, श्रमीके श्रमका मूल्य निश्चित करनेमें उनको ही अंतिम माप नहीं बनाया जा सकता,—कमसे कम श्रमीको बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह अपने श्रम-दानमें वही दृष्टि रक्खे।

ईश्वरीय न्याय है कि मनुष्य पसीनेकी कमाई रोटी खायगा। जो पसीना बहाता है उसकी रोटी नहीं छीनी जा सकेगी। इस न्यायमें जो बाधा है वह टूटेगी। कोई अर्थ-शास्त्र अगर उस अन्यायका पोषण करे, तो उसे गलत ठहराना होगा।

'सबको उनकी आवश्यकताके अनुसार और सबसे उनकी सामर्थ्यके अनुसार' नियम यह होना चाहिए।

पेट सबके है। अब किसीमें बुद्धि अधिक है, किसीमें कम। जिसके बुद्धि अधिक है, उसकी समाजके निकट उपयोगिता भी अधिक हो सकती है। लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि वह पाँच सौ आदमियोंके लायक रोटी (=वेतन) अथवा धन पानेकी हविस रक्खे। जैसे औरोंके एक पेट है, वैसे ही उसके भी एक ही पेट है। समाजका संगठन ऐसा होना होगा कि बुद्धि-शाली आदमीको भी जरूरतसे अधिक खाना बटोरनेको न मिले। नहीं तो, वह बुद्धिशाली आदमी अपनेको बिगाड़ बैठेगा। मिले उसे उसकी आवश्यकताके अनुसार, फिर भी उसकी बुद्धिका उपयोग पूराका पूरा समाजके लिए हो जाना चाहिए।

'सबको जरूरतके मुताबिक और सबसे क्षमताके अनुसार' यह सूत्र हमारे सामाजिक संघटनमें चरितार्थ हो निकले, उस ओर हमको बढ़ना है। जो (अर्थ-शास्त्रका) तर्क इससे उल्टी ओर खींचता है वह पूँजीका तर्क है, और स्वार्थका तर्क है। और उसको लाँघ जाना हमारा फर्ज होता है।

आज भी तो आप देखते हैं कि सरकारकी ओरसे मजूरीकी एक हद बनी रहती है। उससे कम मजूरी नहीं दी जा सकती। अर्थात् आज भी आदमीके श्रमको एकदम 'सप्लाइ' और 'डिमांड' के सिद्धान्तके आधीन नहीं रहने दिया गया है। इसके यह अर्थ नहीं हैं कि 'सप्लाइ' और 'डिमांड' वाले मंतव्यमें कोई सचाई नहीं है। अभिप्राय यही है कि मानवी सचाई उससे बड़ी है और वह किसी अर्थशास्त्रकी 'थियरी' पर समाप्त नहीं है।

प्रश्न—पानी और हवा उस मात्रामें मौजूद हैं कि हमारी आवश्यकताओंसे भी ज्यादा। इसलिये, उनके बटवारे तथा अधिकारका प्रश्न भी नहीं उठता। वह प्रश्न तो केवल उन चीज़ोंके प्रति उठता है जो इतनी सीमित हैं कि सब जन-समाजके लिये काफ़ी हो भी सकती हैं और नहीं भी। और इसलिये हमारी आवश्यकताएँ हवा

और पानीकी आवश्यकताओंकी तरह स्वाभाविक न होकर उन सीमित वस्तुओंकी (खाना-कपड़ा इत्यादिकी) सीमिततासे निर्धारित होती है। तो फिर श्रमी कैसे कह सकता है कि वह भले कितना ही काम करे, किन्तु उसकी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए ?

उत्तर—नहीं, नहीं आप भूल करते है। वस्तुस्थिति यह नहीं है कि धूप, हवा, पानीका सवाल कोई सवाल ही नहीं हो। सवाल नहीं होना चाहिए यह तो ठीक है, लेकिन यह सवाल अधिकाधिक होता जा रहा है, यह और भी ठीक है। यह दिल्ली है; गनीमत है कि दिल्ली ही है, न्यूयार्क नहीं है। लेकिन दिल्ली होकर भी हवा-पानीका सवाल क्या यहाँ सचमुच नहीं है ? पानीके एक नलपर यहाँ कैसी लड़ाइयाँ हो जाती हैं, क्या कभी आपने नहीं देखा या सुना ? सिर फूट गये हैं और जानोंपर आ बनी है। उसके बाद क्या आपने वे अँधेरी कोठरियाँ नहीं देखीं जहाँ चूहे नहीं रहते आदमी रहते हैं ? वे कैसे रहते हैं, यह मैं नहीं जानता, लेकिन करिश्मा देखिए कि आदमी सचमुच उनमें रह रहे हैं ! कहा यही जा सकता है कि वे आदमी चूहेसे बदतर हैं। लेकिन क्या यह भी कहा जा सकता है कि वे सचमुच धूप और हवा नहीं चाहते ? और आदमीकी जान उनमें नहीं है ?

अब प्रश्न यह है कि ख़ैर, हवा-पानीकी बात तो हल हो जायगी। क्योंकि हवा खूब है, पानी खूब है, और सबको मन-भर ये चीज़ें मिल सकती हैं। यह बात समझमें आती है। और इसका होना मुश्किल नहीं मालूम होता। [अगर्चे मुझे बहुत सन्देह है कि इस बातको इतना आसान हम लोगोंने रहने दिया है !] लेकिन कपड़ा, खाना और अन्य आवश्यकताओंका निर्णय कैसे किया जाय ? ये चीज़ें तो आदमीकी मेहनतसे बनती हैं और इनका बना बनाया कोई खज़ाना भी अटूट नहीं है। इसलिये इसका निपटारा कैसे होगा ? मानिए कि मुझे जरूरत है एक सालमें सिर्फ पहननेके कपड़ेके लिए पचास सूटकी। [मेरी यह जरूरत कम है, क्योंकि हज़ारों सूट रखनेवाले स्त्री और पुरुष बिरले नहीं हैं।] तब क्या मुझे यह सब कपड़ा मिलेगा ? नहीं मिलेगा, तो मैं क्यों न असन्तुष्ट रहूँ और उस समाज-विधानके ख़िलाफ़ क्यों न द्वेष रखूँ और

फैलाऊँ जो मुझे पचास सूट चुप-चाप नहीं दे देता है। अब कहिए, क्या कहिएगा ?

लेकिन यह कठिनाई उत्पन्न ही इसलिए हुई है कि जीवनकी अत्यन्त सामान्य आवश्यकताओंके बारेमें हमने सामाजिक विषमताको आश्रय देकर अभाव और अनिश्चयकी संभावना पैदा कर दी है। एकके पास आज जाड़ेसे बचने लायक भी कपड़ा नहीं है। वह ज्यों त्यों ठिठुरकर रात बिताता है। पासमें धन होते ही क्या आप संभव समझते हैं कि एक बार तो कपड़ेके मामलेमें वह अपनी हवस पूरी तरह नहीं निकाल लेना चाहेगा? फिर भविष्य-संबंधी अनिश्चय भी आदमीमें संग्रहकी तृष्णा बढ़ाता है। तिसपर इन सामान्य आवश्यकताओंसंबंधी पदार्थोंकी गिनतीसे व्यक्तिको छोटा अथवा बड़ा भी समझ लिया जाता है। इसीसे तरह तरहके रागचक्र (=Complexes) और मद-मत्सर आदि पैदा होते हैं। अगर ये बातें हट जायँ, वातावरणमें स्पर्धा न रहे, तो क्या मुझे पचास अदद सूट बोझ और बेवकूफ़ी ही नहीं मालूम होने लगेंगे ? जितनेसे मेरा काम चलेगा, उतनेसे अधिक फिर मैं चाहूँगा ही क्यों ? आज भी चार रोटीसे मेरा पेट भरता है, तो कल जाने क्या हो, इस ख़यालसे पाँचवी रोटी तो मैं पेटमें ठूँसनेकी कोशिश नहीं करता। अतः, समाजमें स्वास्थ्य हो चले और विषमता कम हो तो धन-सम्पत्तिके मामलेमें भी व्यक्तिकी लोभ-वृत्ति एक रोग समझी जाने लगे। और लोग उस संग्रह-सतृष्ण व्यक्तिपर ईर्ष्या करनेके बजाय करुणा करें।

आप देखें कि जीवनके जरूरी उपादानोंके बटवारेका सवाल उतना पेचीदा उस अवस्थामें नहीं रहता है। मेरी जरूरतें मेरा बंधन हैं। जरूरतें बढ़ेंगीं तो आज़ादी घटेगी। जरूरतें घटेंगीं तो बोझ भी कम होगा। बोझ कम हुआ कि फिर मैं प्रगतिके निमित्त खुला और हलका हो जाऊँगा।

आज तो धनका नहीं धूपके बटवारेका भी सवाल है। लोग रुपया देकर ज़मीनके बाड़ेके बाड़े घेर लेते हैं जिसका फल यह होता है कि दूसरा आदमी सीलदार भिटमें रहनेको लाचार होता है। जिस पद्धतीसे धूप, हवा, पानीकी समस्याका हल साफ़ और आसान मालूम होता है, ठीक वही पद्धती और तरहके बटवारेमें भी काम देगी। उस पद्धतीसे वह बटवारा भी सरल हो जायगा।

धूप ईश्वरकी है और सबकी है। हवा ईश्वरकी है और सबकी है। भूमि ईश्वरकी है और सबकी है। द्रव्य ईश्वरका है और सबका है। जो वस्तु सबकी है वह सबको मिले, इसीके सुभीतेके लिये हम चाहें तो किसीको राजा मान लेंगे, किसीको मंत्री, किसीको महाजन, किसीको चौकीदार, किसीको किसान, किसीको मेहनती। यह सब तो हमारे अपने बनाये हुए ओहदे (भेद) हैं और वे इसीलिए हैं कि सबकी चीज़ सबको पहुँचे। इन ओहदोंपर बैठे हुए लोग अगर सबकी चीज़को सब तक पहुँचानेमें मदद नहीं देते हैं,—अपने स्वार्थ पैदा करके उन्हें बीच-बीचमें अटका कर रोक लेते हैं, तो यह चोरी है, ईश्वरकी अनामतमें ख़यानत है और पाप है।

प्रश्न—जो चीज़ सबकी है, उसे सबके पास पहुँचानेके लिये आपने ऊपर राजा और मंत्रीकी बात जो कही, क्या इसका यह मतलब है कि समाजकी समस्त सम्पत्तिका वितरण-कार्य स्टेटके हाथमें रहे और उसके उत्पादकों या उत्पादनमें सहायक होनेवालोंका कोई अधिकार उसपर न रहे?

उत्तर—नहीं, यह मतलब नहीं है। किसी वस्तुका उत्पादक उसके उत्पादनमें श्रम तो अपनी ओरसे डालता है, परतु, साधन पहलेसे मौजूद पाता है। इसका मतलब यह है कि वह वस्तुका पूर्ण और एक-मात्र स्वत्वाधिकारी नहीं है। लेकिन स्टेटको उसका स्वत्वाधिकारी मानना फिर अन्ततः कुछेक व्यक्तियोंके समूहको स्वयं उत्पादककी अपेक्षा अधिक स्वत्वाधिकारी मान लेना है। स्टेट हर अवस्थामें ईश्वरकी प्रतिनिधि नहीं है। वह सच्ची जनताकी प्रतिनिधि विरल ही कभी होती है। फिर स्टेट अपने आपमें व्यक्तियोंसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है। स्टेट अगर किसीपर अपना अधिकार रख सकती है तो किसी व्यक्तिहीकी मार्फत। इस लिहाजसे माध्यमके (=Distributing agency) तौरपर चाहे स्टेटसे काम ले लिया जावे, और तदनुकूल उसके अधिकार भी मान लिये जावें, पर उससे अधिक अपने आपमें ही उन स्वत्वोंको स्वीकारा नहीं जा सकता। जैसे समझिये पंचायत। पंचायतका मतलब है कि वह प्रधानतः परस्परके अधिकारोंको झगड़ने नहीं देती, उन सबको मिलाए रहती है। ऐसे ही स्टेट। अगर व्यक्ति-गत विकारकी भावना सीमाका अतिक्रमण कर जायगी तो स्टेट उसे रोक देगी। सीमाका अतिक्रमण नहीं होगा तो स्टेट भी निष्क्रिय रहेगी। अर्थात् स्टेट

सर्वेसर्वा नहीं है, वह विशिष्ट सामाजिक उपयोगकी एक संस्था-मात्र है। इसलिये स्वत्वाधिकार सब पदार्थोंपर स्टेटका मानना विशेष अर्थ नहीं रखता। बल्कि वह एक विशिष्ट प्रकारका पूँजीवाद (=State Capitalism) हो जा सकता है, जो कि अनिष्ट है।

प्रश्न—अधिकार अथवा स्वत्वाधिकारकी बातको जाने दीजिए। जानना तो मैं यह चाहता था कि जो कुछ भी कमसे कम हरेक व्यक्तिकी अपनी आवश्यकताएँ होंगीं, उनको इस प्रकार पूरा करनेका काम (=Function) कौन-सी एक ऐक्यकारक (=Unifying) सत्ताका होगा कि जिसमें समष्टिका स्वास्थ्य बना रहे?

उत्तर—पारस्परिक सहयोग-भावनासे वह काम होगा। सत्तासे क्या मतलब? सैनिक शक्तिसे सन्नद्ध सत्ता? वैसी सत्ताको हम क्यों न एक दिन अनावश्यक बना दें। परस्परका सहयोग ही तब एक जीवित तत्त्व होगा। और यदि आप चाहें तो वह आपसी सहयोग ही आवश्यक होनेपर यथानुकूल संस्थाका स्वरूप सुझा देगा और स्वयं उस स्वरूपको स्वीकार कर लेगा।

प्रश्न—किन्तु, उस सहयोगके लिये क्या किसी भी प्रकारकी संस्था होना अनिवार्य नहीं है, और उस संस्थाको आप स्टेट न कहकर क्या कहेंगे?

उत्तर—सहयोग आवश्यतानुसार संस्था-रूप हो ही जायगा। परिवार भी क्या एक संस्था नहीं है? दांपत्य भी एक संस्था है। नगर भी एक संस्था ही है अगर उसमें कोई भी एकत्रित सांस्कृतिक सामान्यता हो। इसलिये संस्था अथवा संस्थाएँ तो होंगी ही। लेकिन उनका विधान इसी समय पेश नहीं किया जा सकता। उस संस्थाका नाम 'स्टेट' होगा भी, तो इसमें मुझे यही कहने योग्य जान पड़ता है कि 'स्टेट' शब्दमें ही शासन-संबंधी बाह्य उपादान, यथा पुलिस-फौज आदिकी आवश्यकताकी ध्वनि आती है। मैं समझता हूँ कि मानव-जीवनके विकासके साथ शनैः शनैः ये संगठित हिंसाके उपकरण कम और लुप्त होते जायँगे। उन हिंसोपकरणोंके संगठनके बिना भी स्टेटकी अगर आप धारणा कर सकते हैं, तो ऐसी अवस्थामें उसे 'स्टेट' कहनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न—वैसी स्टेट लानेके लिये क्या आजकी सामाजिक व्यवस्था

मौका दे सकेगी? अथवा कि उसे बिल्कुल तोड़-फोड़कर उस नई व्यवस्थाकी नींव डालनी होगी?

उत्तर—नींव तोड़ने-फोड़नेसे नहीं पड़ेगी। अतः तोड़ने-फोड़नेकी वृत्ति हितकर नहीं है। लेकिन धरतीमेंसे उगता हुआ नया किल्ला भी यदि धरतीको फोड़ता हुआ उगता है तो क्या यह कहा जा सकता है कि वह धरतीको फोड़ना चाहता है? ऐसा जान पड़ता है कि मानो धरती स्वयं उस किल्लेके जीवनको संभव बनानेके लिए अवकाश दे देती है। वह किल्ला ही फिर वृक्ष हो जाता है। इस भाँति जान-बूझकर किसीको भी तोड़नेके लिए प्रवृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है। सचाईपर जीना ही झूठको काफी चुनौती है। इसलिए यदि आगे कभी सोसायटीमें हम इस प्रकारकी अहिंसा-पूर्ण शासन-व्यवस्थाको संभव बना हुआ देखना चाहते हैं, तो उपाय है कि हम स्वयं अपने संबंधोंमें अहिंसाका व्यवहार आरम्भ कर दें। हिंसाके और आतंकके आधारपर खड़ी संस्थाएँ इस तरह स्वयं निष्प्राण होकर मुर्झा जायँगीं और समाज-व्यवस्थामें कोई भंग भी न प्रतीत होगा; क्योंकि तब तक अहिंसात्मक संस्थाएँ उनकी जगह लेनेको बन चुकी होंगीं। आधुनिक भाषामें कहिए कि शक्तिका हस्तांतरित होना (= transference of power) सहज भावसे घटित हो जायगा।

प्रश्न—लेकिन जो हिंसाकी संस्थाएँ किसी एक वर्ग अथवा दलकी सत्ताके लिए प्राण-स्वरूप हैं, क्या हम उम्मेद करें कि वे उन्हें मुरझा जाने देंगे?

उत्तर—क्या हम चारों ओर नहीं देखते कि आजका सप्राण आदमी कल निष्प्राण भी हो जाता है, यानी मर जाता है? क्या कोई स्वयं मरना चाहता है? इसलिए हिंसा-समर्थक संस्थाओंके समर्थक अपनी इच्छासे उन्हें मरने देंगे, यह कौन कहता है? फिर भी, एक दिन उन्हें नष्ट होना होगा। उन संस्थाओंका नाश तो इसीमें प्रमाणित हुआ रखा है कि वे स्वयं नाश करनेमें, यानी हिंसामें, विश्वास रखती हैं। विजय सत्यकी होती है, हिंसाकी विजय नहीं होती। पर यह तो ठीक ही है कि अनायास हमारे सामाजिक जीवन-व्यापारमेंसे हिंसा लुप्त हो जानेवाली नहीं है। इसलिए निरन्तर धर्म-युद्धकी जरूरत है। 'धर्म'के साथ 'युद्ध' लगाया है,—इसके माने ही हैं कि बहुत विरोध होगा जिससे धर्मको मोरचा लेना होगा। मैं मानता हूँ कि धर्मकी यह विजय यों सहज ही नहीं हो जायगी। वह बहुत कुछ बलि लेगी। लेकिन, बलि किसी दूसरेकी नहीं, हमारी ही।

१९—क्रान्ति : हिंसा-अहिंसा

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि आजकी व्यावसायिक वृत्ति (यानी आपा-धापी), जो हमारे समस्त कारोबारके मूलमें है, उस अभीष्ट स्टेटके बिल्कुल विरुद्ध है, और उसे उलटना होगा? और उलटनेके माने क्या यह भी नहीं है कि हम सब वैसे कारोबारसे हाथ खींच लेंगे और तब फिर सहयोगद्वारा अर्थोत्पादनके नये रूपकी व्यवस्था करेंगे? किन्तु क्या इस क्रियामें व्यवस्था-भंग प्रतीत होना अनिवार्य ही नहीं है?

उत्तर—हाँ, वैसा करेंगे और भंग पड़ना अनिवार्य नहीं प्रतीत होता। जिन सामाजिक मूल्योंके परिवर्त्तनको इन्क्लाब और क्रान्ति कहा जाता है, देखा जाय तो वह भी कोई भंग नहीं है, बल्कि विकासकी ही क्रिया है। फोड़ा पकते पकते एक रोज फूट जाता है। वह फूटना यद्यपि आकस्मिक मालूम होता है, पर वह क्रमिक है। मेरा ख़याल है कि कोई भी निश्चित मूल्य एकाएक बदलनेमें नहीं आ सकते, वे शनैः शनैः विकसित होते हैं। इस प्रकार वे इतने बदल सकते हैं कि पहलेसे उलटे मालूम होने लगें। लेकिन नये मूल्योंको थोपा नहीं जाया करता, उन्हें उगाना होता है। जैसे वृक्ष धरतीके भीतरसे उगता है, ऊपरसे टपकता नहीं है, वैसे ही वर्तमान अतीतमेंसे प्रस्फुटित होता है, भविष्यकी ओरसे वह प्रक्षिप्त नहीं है। वर्त्तमानकी मर्यादाओंको भविष्यके स्वप्नोंसे खींचकर अगर हम एकदम उल्लंघन कर जाना चाहेंगे तो मुँहके बल गिरेंगे। ऐसे मुँहके बल गिरनेके उदाहरण इतिहासमें थोड़े नहीं हैं। हिंसाके साथ किये जानेवाले विप्लव इसी सचाईके द्योतक हैं। फ्रांसकी क्रान्तियाँ इतिहास-प्रसिद्ध हैं। उस वक्त मानो व्यवहारसे उछलकर आदर्शको पकड़नेकी कोशिश की गई। लेकिन ऐसे व्यवहार भी टूटा, आदर्श भी न हाथ आया, और, जहाँ तक सामाजिक विधानका संबंध है, परिणाम-स्वरूप उसमें भी कुछ विशेष सुधार नहीं हुआ। एक नई क्रान्ति आँखोंके सामने हुई है जिसको रूसी क्रान्ति कहना चाहिए। इटली और ज़र्मनीमें भी जो हुआ है, उसे क्रान्ति कहो। इन पिछली क्रान्तियोंमें पहलेकी

निस्बत खून कम बहा, लेकिन यह देखना शेष है कि उनका फल क्या वह हो सका जो चाहा जाता था। असलमें राज-क्रान्ति बाहरी उथल-पुथलसे संबंध रखती है। वह सच्ची क्रान्ति ही नहीं है क्यों कि उससे व्यक्तिकी मूल स्थितिमें कोई परिवर्तन नहीं होता। शासन केवल इस हाथसे उस हाथमें चला जाता है। कह दो कि कमज़ोर हाथोंसे मजबूत हाथोंमें चला जाता है; पुरानोंकी जगह नये आदमी आते हैं, और बस। शासनका, यानी शासकका, हृदय-परिवर्त्तन नहीं होता। अर्थात् राजक्रान्तियाँ, जो हिंसाके साथ होती हैं, ढाँचेको बदलती हैं, अंतः प्रवृत्तिको नहीं छूतीं; शासन-विधानको बदलती हैं, जीवन-पद्धति और जीवन-विचारके मूलको नहीं बदलतीं। इसलिए उन्हें क्रान्ति भी क्या कहना। जो सच्ची है और संपूर्ण है, वह क्रान्ति तो हृदयमें जन्म लेगी। वह सर्वांगीण होगी और इसीलिए वह क्रान्तिका घोष नहीं शान्तिकी इष्टता चाहेगी। बाहरी कोलाहल उसे अभीष्ट न होगा। फिर भी देखते देखते वस्तुओंके मूल्योंमें ऐसा कुछ मौलिक अंतर पड़ जायगा कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। ऊपर जिस परिवर्तनकी आवश्यकता कही, वह ऐसी ही शान्तिमय क्रान्तिसे संपन्न होगा। उसमें समाज-विधानके भंगकी संभावना, जैसी कि राजक्रान्तिमें हुआ करती है, नहीं होगी; क्योंकि, वह राजक्रांति नहीं जीवन-क्रान्ति होगी।

कठिनाई यहीं है कि शासन-विधानको हम मूल मानवीय (=जीवनकी) परिभाषामें नहीं देखते हैं, उसे राजनीतिशास्त्रके (=Science of Political Economy के) कानूनोंकी परिभाषामें देखते हैं और इसलिए राज्य-विधान तो बदलना चाहते हैं, समूचे जीवनमें तदनुकूल हेर-फेर नहीं करना चाहते। इस भाँति राजक्रान्ति तो शायद हो भी पड़े, पर सच्चा सुधार कोई नहीं होता। इस लिए आवश्यकता है कि क्रान्तिको हम संकुचित सीमित राजनीतिक अर्थमें न लें, बल्कि व्यापक जीवनके अर्थोंमें लें। तब शायद बिना 'क्रान्ति' शब्दकी आवश्यकता पड़े शान्तिसे ही वह क्रान्ति हो जायगी।

प्रश्न—समूचे समाजके हितमें यदि कुछेकको बाधक समझा जाता है और समाजकी रक्षाके लिए वैध उपायोंद्वारा (=Lawfully) बिना किसी व्यक्तिगत राग-द्वेषकी भावनाके उन कुछेकको ख़त्म कर दिया जाता है, तो क्या इसे आप हिंसात्मक कहेंगे?

उत्तर—समाजने क्या उन्हें पैदा भी किया था? हाँ, मैं उसे हिंसा कहूँगा। फाँसीकी सज़ाके मैं हक़में नहीं हूँ। लेकिन शेर अगर बकरीको खा जाता है, तो यह कहनेसे क्या फायदा कि शेरके उस प्रकार अपने शिकारको खा जानेके मैं हक़में नहीं हूँ। फ़ायदा नहीं, फिर भी मैं यह कहता हूँ। क्यों कि मैं नहीं मानूँगा कि आदमी जानवर ही है। जानवर रहनेके लिए आदमी आदमी नहीं है। मैं समझता हूँ कि समाजकी यह बदला निकालनेकी भावना (=Revenge) है जो अपराधीको फाँसी तक भेजती है। लेकिन अब इस तत्त्वको अधिकाधिक पहचाना जा रहा है कि समाजमें अपराध और अपराधीके प्रति बदलेकी नहीं सुधारकी भावना चाहिए। जेलका नाम 'रेफरमेशन केम्प' होता जा रहा है, सो क्यों? यानी जो व्यक्ति असामाजिक व्यवहार करता है समाज उस असामाजिकताको निषिद्ध ठहरा सकती है और उसे मिटानेका आग्रह कर सकती है, किन्तु व्यक्तिको ही मिटा डालनेका दावा उसका नहीं हो सकता, क्यों कि यह निर्विवाद है कि मनुष्य मूलतः सामाजिक प्राणी है। ऐसा होकर भी यदि वह असामाजिक वर्तन (=अपराध) करता है, तो यह विकार अकारण नहीं हो सकता। आवश्यकता है कि बाह्य परिस्थिति और उस व्यक्तिकी चित्त-वृत्तिमेंसे उस असामाजिकताका 'क्रिमिनेलिटी'का, निदान खोजा जाय। मौतकी सज़ा समाजके हक़में उसकी हारका प्रमाण है। वह दीवालियापन है।

प्रश्न—आपने कहा कि जिसे इन्क़ाब या क्रान्ति कहा जाता है वह भी विकासहीकी क्रिया है। तो क्या उस क्रान्ति अथवा इन्क़ाबको विकासकी क्रिया मानते हुए उसे आप अभीष्ट समझते हैं, और क्या इस तरह क्रान्तिवादियोंसे आपका मत-भेद अभिधा-संज्ञाके (Nomenclature के) सिवा और कुछ नहीं है?

उत्तर—अभीष्ट या कुछ समझनेकी उसे गुंजायश नहीं है। भूचालको अभीष्ट समझा जाय, अथवा क्या समझा जाय? हमारे अपने हाट-बाटके जीवनकी दृष्टिसे भूचाल इष्ट नहीं है। लेकिन यह कहना किसके हाथमें है कि वह भूचाल भी किन्हीं अनिवार्य कारणोंका परिणाम नहीं होता होगा? फिर भी हम प्रार्थनापूर्वक और यत्नपूर्वक भूचालको नहीं बुला सकते।

इसलिए संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि क्रांति, क्यों कि वह अपनेमें इष्ट नहीं है, इसलिए कभी की जानी नहीं चाहिए। क्रान्ति जिसे हम कहते हैं, वह

प्राकृतिक नियमोंको उल्लंघन करते रहनेका एकत्रित परिणाम है। वह दबी हुई सचाईका फूट पड़ना है। उपयुक्त यह है कि वह सचाई हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनमें अधिकाधिक व्यक्त होती रहे। वह कुचली तो जा नहीं सकती। इसलिए जब जब ऐसा होता है, उसको दबाया और कुचला जाता है, तब तब मानो क्रांतिके भी बीज बोये जाते हैं। जैसे दमनके (Repression के) परिणाममें जब विस्फोट (=Explosion) होगा ही, तो उस विस्फोटको अभीष्ट या अनभीष्ट क्या कहा जावे ? हाँ, अभीष्ट यह अवश्य है कि जीवनमें (सत्यका) दमन कमसे कम हो और अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक हो। क्रान्ति सामाजिक स्थूल अर्थमें चाही नहीं जा सकती, चाही तो शान्ति ही जा सकती है। लेकिन उस क्रान्तिसे मुँह भी नहीं मोड़ा जा सकता, क्यों कि वह तो कर्म-परंपराका एक भाग है।

प्रश्न—दबी हुई सचाईका जो फूट निकलना विकासके लिए अनिवार्य है, आप उसमें सहायक होना चाहेंगे अथवा नहीं ?

उत्तर—उस सचाईके दबानेमें सहायक नहीं होना चाहूँगा। इसलिए सचाईको फोड़ेकी भाँति फूटकर निकलना पड़े, इस संभावनाको मैं कम चाहूँगा। लेकिन निश्चय ही फोड़ा जब फूटे, तो उस दृश्यसे घबराना नहीं चाहूँगा और मुँह नहीं मोड़ूँगा, बल्कि मरहम-पट्टी लेकर पास रहना चाहूँगा।

प्रश्न—लेकिन वह फोड़ा जब फोड़ा है, उस समय, उसके प्रति आपका क्या कर्त्तव्य होगा ?

उत्तर—जो होना चाहिए। यानी उसे पकने देना और नश्तरके लायक हो तो वैसा करना। लेकिन इस उपमाको हम बहुत आगे न खींचें। इसमें खतरा यह है कि हर कोई अपनेको डाक्टर मान सकता है, और जो बात उसे पसंद न आये उसे फोड़ा कह सकता है। इसीलिए क्रान्तिकी बात करते समय, या कोई बात करते समय, अहिंसा-तत्त्वका सदा ध्यान रखना पड़ेगा। 'अहिंसा'में यह गर्भित है कि भविष्य भविष्यके हाथमें है। फल विधाताके वश है। इससे भविष्यको बनानेके इरादेसे, यानी फल-आकांक्षामें, कोई ऐसा कर्म नहीं किया जा सकता जो अनैतिक हो। जब अनैतिक कर्म किया जाता है, तो उसके भीतर परिणामका मोह रहता है। परिणाम जिसके हाथ है, उसके हाथ है। अतः करना तो सत्कर्म ही होगा। वैसा करके फलकी चिन्तासे निश्चिन्त रहा जा सकता है।

प्रश्न—समाजकी बाबत उस फोड़ेके पके होनेसे आपका क्या मतलब है? आप उसे कब पका समझेंगे और उस समय नश्तर लगानेका आपका क्या अभिप्राय है? और नश्तर लगानेका अधिकारी हरेक अपनेको न समझ ले, इसके लिए आप क्या रोक रखते हैं?

उत्तर—इसके लिए निर्णायक नीति मेरे विचारमें यह होनी चाहिए कि मैं स्वयं अपने आचरणका ध्यान रक्खूँ। अपनेसे दूसरेका निर्णायक बननेकी जल्दी मुझे नहीं करनी चाहिए। इसी नीतिको समाज-व्यापी करनेसे यह रूप हो जायगा कि किसी बुराईको कानूनसे रोके जानेसे पहले उस सम्बन्धमें जनमतको पका लेना चाहिए। जनमत ही जनताका अस्त्र है। जनमतको अप्रबुद्ध रहने देकर किन्हीं बाहरी उपायोंसे उस जनताकी बुराइयोंको निर्मूल नहीं किया जा सकता। अर्थात्, कब फोड़ा किस हालतमें है और नश्तर कौन लगाये?—इन प्रश्नोंका समाधान इसीमें है कि सबको आत्म-निर्णायक बननेकी स्थिति तक पहुँचाया जाय। व्यक्ति अपना, और अपने साथ उनका भी निर्णायक बन सकता है जिनका विश्वास और दायित्व उसे प्राप्त हुआ है। मैं अपनेको और अपनोंको दंडित कर सकता हूँ। अन्यको नहीं। मतलब कि राष्ट्रका जिनपर भरोसा है वे राष्ट्रकी नीतिका निर्णय करें। अहम्मानमें यह काम नहीं हो सकता है।

'नश्तर लगाने'से ठीक किसी पैनी धारवाले अस्त्रको (=कानूनको) इस्तैमाल करनेका अभिप्राय नहीं है। वह कानून, उसकी सूझ, उसकी आवश्यकता तो असलमें लोकमतमेंसे उगनी चाहिए। अपने समयसे पूर्व अच्छा विधान भी बुराईको कम न कर सकेगा। अभिप्राय यह है कि जिसके फोड़ा है, वह पहले उससे छुट्टी पानेको आतुर हो जाय, यह बहुत आवश्यक है। इसके अनंतर जो साधन उपलब्ध होंगे, उन्हें अपने ऊपर प्रयुक्त होने देनेको वह स्वयं उद्यत होगा। फिर तो अस्त्र जितना पैना हो उतना अच्छा। क्यों कि रोगी स्वेच्छासे अपने ऊपर ही उसका प्रयोग करता है, इसलिए 'नश्तर' और 'पैने' आदि शब्दोंके इस्तैमालसे भी हिंसाका भय वहाँ नहीं है। क्यों कि अपनेको इस प्रकार साधते (मारते) रहना तो सब भलाइयोंका मार्ग है। पर ध्यान रहे, उपमाकी भाषा उपमाकी है, वह हत्याकी नहीं है।

प्रश्न—शासन-विधान, कूट-नीति और पाशविक बलके द्वारा

भोली जनता प्रायः कुछेकके हाथका खिलौना ही रही और रहती है। जब जनता कुछेकके हाथका खिलौना है और उसे प्रबुद्ध करनेका तो क्या उस तक पहुँचनेका भी मौका नहीं है, वैसी अवस्थामें क्या उसके प्रबुद्ध होनेतककी प्रतीक्षा की जाय? अथवा अन्य साधनोंके द्वारा, कूट-नीति और पाशविक बलका प्रयोग करके भी, उन कुछेक व्यक्तियोंहीको अपने मार्गसे पहले साफ़ किया जाय?

उत्तर—जनता तक पहुँचनेका मौक़ा नहीं है, इसका क्या मतलब ? क्या इसका यह मतलब है कि बाहरी प्रतिबन्ध ऐसे लगा दिये गये हैं ? तब तो सवाल यह हो जाता है कि हममें लगन कितनी है ? कुछ हो, स्वधर्मको नहीं छोड़ा जा सकता। हमारे भीतर अगर उत्कट लगन है और जनता तक पहुँचे बिना मानो जीवन ही हमारे लिए भार-स्वरूप जान पड़ता है, तो स्पष्ट है कि वे कृत्रिम प्रतिबंध हमें रोक न सकेंगे। रोकेंगे भी तो पाशविक बलसे और केवल शारीरिक अर्थमें रोक सकेंगे। यह सत्याग्रहका रूप हुआ। पाशविक बलका जवाब उसी बलसे सत्याग्रही नहीं दे सकता, लेकिन खुल्लमखुल्ला वह उस बलकी असत्यता स्वीकार करता है और सविनय भावसे उन कृत्रिम प्रतिबंधोंकी अवज्ञा करता है। यह स्वयंमें जनताके लिए आत्म-प्रबोधक बात होगी। जब यह (सत्याग्रहका) मार्ग सदा खुला है, तब किसी प्रकारके पाशविक और कूट-नीतिके उपायोंसे काम लेनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ? वह स्थिति असंभव है जहाँ सच्ची लगनवाले पुरुषके लिए मार्गका अभाव हो। लगन ही मार्ग निकाल देती है। यह कहना कि मानवताके मार्ग तो सब ओरसे बन्द हैं और परिस्थितियोंका दबाव बेहद है, इसलिए चलो, इस पशुताके मार्गपर ही चले चलें, हीन-विश्वासका द्योतक है। मामूली तौरपर बुराईका मुक़ाबला मुश्किल मालूम होता है। इसीलिए बुद्धि उस मुक़ाबलेसे तरह तरहसे बचनेके मार्ग सुझाती है। हिंसक नीतियाँ वैसे ही एक प्रकारसे बुराईसे युद्ध करनेके बजाय उससे बच निकलनेकी रीतियाँ हैं। गुप्त (=Secret) संगठन आदिकी सूझ भी बहुत कुछ इसी बचनेकी वृत्तिमेंसे प्राप्त होती है। इसलिए उपाय सचाईकी तरफ़ सीधे चलने और इस प्रकार बुराईको सीधी चुनौती देनेका है। सीधी चुनौती,—यानी उसका सीधा वार अपनी छातीपर लेनेकी हिम्मत।

प्रश्न—जो हिंसक है, उसके सामने कभी और कितने ही अहिंसक बन कर जायें, क्या वह सबको खा ही न लेगा? यह विश्वास आप कैसे कर सकते हैं कि कभी वह हिंसासे बाज़ भी आयेगा?

उत्तर—वह क्या अपनी माँको भी खा लेता है, या खा गया है? अगर हिंसक आदमी ऐसा नहीं कर सका, तो मैं अपना अहिंसाका विश्वास किस भाँति तोड़ दूँ? हो सकता है कि वह मुझे खा जाय, लेकिन इससे क्या मुझे डरना चाहिए? अगर वह मुझे खा जाता है, तो इसका यही तो मतलब है कि माँके जितना वह मुझे अपना नहीं समझता। मेरी कोशिश होनी चाहिए कि मैं अधिकाधिक उसका होता जाऊँ, यहाँ तक कि उसकी माँसे भी अधिक मैं उसका हो जाऊँ। तब निश्चय ही वह मुझे नहीं खा सकेगा। तब वह मेरी बात सुनेगा और मानेगा। आप पूछते हैं, कब ऐसा होनेमें आयेगा? मैं कहता हूँ कि चाहे तो अगली घड़ी ही ऐसा होनेमें आ जाये, और चाहे तो जन्म-जन्मांतरमें भी वह हृदय-परिवर्त्तन न दीखे; लेकिन, उससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। शहादत इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह तत्काल चमत्कार दिखा देती है। वह शहादत है, यही बड़ी बात है। इसलिए फल न भी दीखता हो और चाहे सामने मौत ही दीखती हो (और हमारी ये स्थूल आँखें देखती भला कितनी दूर तक हैं?) यह निश्चय मानना चाहिए कि विधेय अहिंसा ही है। दूसरी ओर फल बृहत् भी समक्ष दीखता प्रतीत होता हो, फिर भी पक्की प्रतीति रखनी चाहिए कि हिंसा मानव-धर्म नहीं है।

प्रश्न—लेकिन अगर आप एक ऐसे जंगलमें रहते हैं, जहाँ शेरका आतंक है, तो क्या आप उसके द्वारा खाया जाना शहादत समझेंगे? ऐसी अहिंसा क्या आत्म-हिंसाहीके निकट नहीं है?

उत्तर—मैं जो करूँ, क्या सचाई उसपर मौक़ूफ़ है? शेरसे डर लगता हो तो मनसे तो मैं उस डरके समय ही उस शेरका बधिक बन गया। तब ऊपरसे अहिंसाका ढोंग निभाना तो दोहरा पाप हुआ। इसलिए अगर मुझमें भय विद्यमान है, तब यही योग्य है कि अपनेको बचानेके लिए मैं बने तो उसको मार भी दूँ। लेकिन अगर वैसा भय नहीं है, तो शेरको अपनेको खा जाने भी दूँ, तो इसमें मुझे कोई अनीति नहीं मालूम होती। यह श्रेष्ठतर हो सकता है।

पर ऐसे काल्पनिक उदाहरणको लेकर हम अटकें क्यों ? फिर सामाजिक प्रश्नको लेते समय ध्यान रखना होगा कि यहाँ आदमी और शेरका सवाल नहीं है, यहाँ तो आदमी और आदमीका ही सवाल है। शेरके साथ व्यवहार करनेमें जो छूट आदमीको मिलती है, वह मनुष्यके साथ व्यवहार करनेमें नहीं मिल सकती। यों तो इतिहासमें ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहाँ सचमुच आदमियोंका शिकार किया जाता था। पुराने इतिहासमें ही क्यों, अदल-बदलकर वह शिकारकी वृत्ति अब भी हमारे बीचमेंसे अनुपस्थित नहीं है। लेकिन उसको निंद्य ठहराना होगा। और अगर प्रगति करनी है तो उससे विपरीत नियमको, अर्थात् प्रेमके नियमको, विवेकपूर्वक स्वीकार करना होगा।

प्रश्न—यदि कभी ऐसी स्थिति हो कि कुछेक बहु-संख्यक कुछेक थोड़े लोगोंके शिकार होनेको हैं, और उन्हें बचानेके लिए समयका तकाजा कूट-नीति और पाशविक बलहीके लिए हो,—वरना अहिंसक रहनेमें उनका नाश निश्चित हो, तब आप क्या करेंगे ?

उत्तर—ऐसा हो, तभी पा सकूँगा कि मैं क्या करता हूँ। लेकिन यह तो मैं मानता हूँ कि मनुष्यके लिए कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती जब पशुताका मार्ग ही एक मार्ग रह जावे। ऐसा है तो वह मनुष्य किस लिए है ? कूट-नीतिके रास्तेसे प्रारम्भमें बचाव दीखता हो, लेकिन वह भ्रम है। खतरा अगर ऐसे टलता है तो टलनेके साथ वह बढ़ भी जाता है। इसलिए अगर कूटता और पशुताका उपाय उपाय हो भी, तो भी वह दूर-दर्शिताका उपाय नहीं है।

ऊपरके उदाहरणमें शिकार होनेवाले लोगोंकी संख्या आप अधिक बताते हैं। तब तो स्थूल बल भी उन लोगोंके पास अधिक हुआ। ऐसी हालतमें मेरी समझमें नहीं आता कि वह स्थूल बल, जो कि उनके पास पहलेहीसे मौजूद है पर जिसके रहते हुए भी वे पराभूत हैं, आखिर फिर क्यों कर महत्त्वपूर्ण ठहराया जा सकता है ?

अगर कूटनीति उन्हें विनाशसे बचा सकती है, तो इसलिए नहीं कि वह कूट है, बल्कि इसलिए कि वह नीति है। मेरा कहना यही है कि खुलकर देखा जाय तो संकटके समय स्थूल बल नहीं, नीतिका बल ही अधिक उपयोगी होता है। और यह भी आसानीसे देखा जा सकता है कि जो नीति जितनी

सच्ची है, उतनी ही बलदायक है। इसीसे पशुताके विरोधमें नीतिमत्ता और नैतिकताका समर्थन किये बिना उपाय नहीं है।

प्रश्न—उपर्युक्त उदाहरणके अनुसार कह सकते हैं कि समाजमें एक श्रेणी कुछ ऐसे लोगोंकी है जिनकी वृत्ति हिंस्र पशु जैसी है और जो अन्य लोगोंका शिकार करनेमें लगे हैं। तो क्या उनके साथ वही बर्त्ताव किया जाय जैसा कि आपने ऊपर शेरके लिए बतलाया कि उसे मार डाला जा सकता है?

उत्तर—शेर जब खानेको आये तब अगर हमें डर लगता है और अन्यथा हम अपनेको बचा नहीं सकते, उसे मार डालेंगे।

लेकिन यह बात याद रखनेकी है कि आदमी शेर नहीं है, वह आदमी है। वह जंगलमें नहीं, समाजमें रहता है। उसके साथ मन-चाहे तरीकेसे व्यवहार करनेकी हमें छूट नहीं है। वह छूट हो नहीं सकती। आदमीके निजके दुर्गुण और अपराधका संबंध समाजसे भी है। शेरकी मानिन्द सिर्फ पेट भरनेके लिए आदमी आदमीपर नहीं टूटता। जिसको 'सामाजिक शोषण' कहा जाय वह असलमें समाजव्यापी दोष है। आदमी व्यक्तिगत रूपमें कहा जा सकता है कि उस समाजव्यापी रोगका शिकार होता है। इसी तरह अन्य अपराधी भी जंगली पशु हैं, ऐसा मानकर नहीं चला जा सकता। बल्कि उनकी अपराध-वृत्तिका निदान खोजना और पाना जरूरी है, इसलिए, आदमियोंके मामलेमें जानवरोंवाला तर्क नहीं लगाना चाहिए। जो नीति पशुजातिपर लागू है, वह कुछ हो, वह चाहे लाठी-भैंस (=might is right) वाली ही नीति हो,—पर इसलिए वह मानव जातिकी भी नीति हो सकेगी, सो कदापि नहीं।

प्रश्न—आदमी पशु नहीं है, लेकिन उसमें पशुता है; और समाज बिल्कुल जंगल नहीं है, लेकिन उसमें कुछ जंगलपन है। क्या आप ऐसा नहीं स्वीकार करते? और फिर क्या उस पशुता और जंगलपनके लिए वही (सशस्त्र) उपाय आवश्यक नहीं हो सकता?

उत्तर—मनुष्यमें जो पशुता और समाजमें जो जंगलकी समानता शेष है, वह है तो इसलिए है कि मानवके प्रयत्नोंसे वह उत्तरोत्तर और भी कम हो। इसलिए वह नहीं है कि विकासकी घड़ीको उलटा चलानेके लिए समर्थनके तौर-पर हम उस अपनी पशुतुल्यताका प्रयोग करने लग जावें।

प्रश्न—किन्तु मानव-समाजका वह वर्ग जिसकी रही-सही पशुता उग्र होकर सिंहकी हिंसकताका रूप धारण कर दूसरोंको खानेमें लगी है, और मानवता जिन्हें अपील ही नहीं कर सकती, उनसे बचनेके लिए सशस्त्र शक्तिसे काम लेना क्या अनुचित होगा ?

उत्तर—मैं ऐसे किसी आदमीके होनेमें विश्वास नहीं करता जो विधाताकी भूलसे मनुष्य बन गया है पर असलमें है वह कोरा पशु। जब ऐसे आदमीमें ही विश्वास नहीं करता, तब ऐसे वर्गमें तो विश्वास कर ही कैसे सकता हूँ ? असलमें पशुता हम सबमें ही थोड़ी-बहुत है। क्या अमीर क्या गरीब, जब पशुता जागती है तो हम सभी निकृष्ट व्यवहार करते हैं। जब मैं किसी आवेशमें निकृष्ट व्यवहार कर रहा होऊँ तब क्या यह पसंद करूँगा कि मुझे मार दिया जाय ? मैं तो खैर अपना मरना क्यों पसंद करने लगा, लेकिन क्या आप यह पसंद करेंगे ? इसी तरीक़ेसे मैं कहना चाहता हूँ कि जो निकृष्ट कर्म करता दीखता है, उसके भीतर संभावना है कि वह उत्कृष्ट कर्म भी कर सके। मैं मनुष्यताके बारेमें निराशा और अविश्वासका रुख़ पकड़कर चलनेका समर्थन नहीं कर सकता। मैं पूछना चाहूँगा कि जो पागल है, जो चोर है, जो डाकू है, वह क्यों ऐसा है ? क्या हम अक़्लका दिवाला निकाल बैठें और यह सोचनेका प्रयत्न न करें ? इसमें कुछ नहीं लगता कि किसीको दुष्ट कहा और उसे मौतके घाट जा उतारा। लेकिन, इस नीतिको खुल्लमखुल्ला इस्तैमाल करना मनुष्यताके लिए अपनी हार माननेसे कम नहीं होगा।

यह विवेकसे और विज्ञानसे हाथ धो लेना होगा। मैं कह सकता हूँ कि अपराधी अकारण अपराधी नहीं होता और अपराधके साथ व्यवहार करनेका उपाय दंड देना ही नहीं है। जैसे रोगियोंके लिए, वैसे अपराधियोंके लिए भी अस्पताल हो सकते हैं। अपराध-चिकित्साके माने हैं कि हम प्रत्येक व्यक्तिकी मूल मानवतामें विश्वास रखते हैं और उसके स्वभावमें जो विकार आ गये हैं, प्रयत्नद्वारा उसका प्रतीकार करनेमें विश्वास रखते हैं। बदला लेने और बदलेमें जान तक लेनेकी नीतिका समर्थन करना मानवताके अब तकके इन प्रयत्नोंको निःसार मान बैठना होगा। क्या आप मुझे इतना अविश्वासी बना हुआ देखना चाहते हैं ?

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि समाजमें एक ऐसा वर्ग है जो कि

स्वभावतः (=essentially) ऐसे साधनोंसे सुसज्जित है कि जिनसे वह शेष जन-समाजका शोषण कर सकता है और करता है और यहाँ तक कि जानते-बूझते (=Consciously) ऐसा करनेमें अपना इष्ट समझता है ? और साथ ही क्या आप मानते हैं कि जो लोग उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं उनसे वह मोरचा लेता है और लेनेको तैयार रहता है ? यदि ऐसा है, तो फिर उसके दिलमें किस ओरसे परिवर्त्तनकी गुंजायश रह जाती है ?

उत्तर—कोई विशेष वर्ग ही दूसरेका अहित करके अपना हित साधनेकी इच्छाका शिकार हो, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। इसके बीज लगभग सभीमें हैं, और जो इस प्रभावसे कम-अधिक मुक्त हैं, ऐसे लोग भी थोड़े-बहुत सभी वर्गोंमें पाये जा सकते हैं।

जो आज पैसेवाला है उसके पास पैसेके कारण शोषणके साधन हैं, ऐसा समझा जाता है। यह समझना ग़लत नहीं है। लेकिन जो आज पैसे-वाला नहीं है, वह व्यक्ति इसी कारण भिन्न प्रकृतिका है, और मौक़ा पड़नेपर वह शोषक न होगा, ऐसा समझना ठीक नहीं है। अमीर और ग़रीबमें, मानव-प्रकृतिकी दृष्टिसे, उस अमीरी ग़रीबीके कारण अन्तर नहीं माना जा सकता। एकको राक्षस और दूसरेको देवता रूपमें देखनेकी आवश्यकता नहीं है। जिसको 'शोषण' कहा जाता है, उसकी जड़में संकीर्ण स्वार्थकी वृत्ति है। जहाँ जहाँ वैसा संकीर्ण स्वार्थ है, वहाँ शोषण अवश्यंभावी है, चाहे लाख उसे कानूनोंसे रोका जावे। वैधानिक सुधारोंसे निःस्वार्थताके उपयुक्त परिस्थिति पैदा करनेमें मदद ली जा सकती है, लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि मुख्य वस्तु निःस्वार्थता है।

अकिंचन व्यक्ति (=The have-not) या ऐसा वर्ग (=The proletariat) अगर मनमें बल-संचय और अधिकाराहरणके (=Capture of Power के) मनसूबे रखता है तो शोषण-हीन समाज-व्यवस्था कायम करनेमें वह विशेष सहायक न होगा। अकिंचनता तो भीतर तक पैठी होनी चाहिए, तभी उसके ज़ोरसे शोषणकी भावनाको समाजमेंसे निर्मूल किया जा सकता है।

इस दृष्टिसे शोषक (=Exploiter) और शोषित (=Exploited) वर्गोंमें मैं स्थान-भेदके अतिरिक्त कोई और मौलिक भेद नहीं देखता। एकको दूसरेकी जगह बैठा दीजिए, तब भी विशेष अन्तर नहीं मालूम होगा। जो आज

शोषित दीखता है, किसी अघट घटनाके योगसे वह यदि अधिकार प्राप्त हो जावे तो वह किसी शोषकसे कम दीखेगा, ऐसी संभावना नहीं है। अतः यही कहा जा सकता है कि शोषक वर्ग अधिक प्रबुद्ध है, सगठित है और चतुर है, इससे शोषक है; और दूसरा अप्रबुद्ध है, इससे निर्बल है और शोषित है। किसी वर्गके स्वार्थको ऊँचा उठाकर उसीमें त्राण मानने लगनेसे शोषण बन्द नहीं होगा, इस भाँति वह और गहरा होगा। यदि शोषण बन्द होना है तो वह तभी होगा जब कि प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति यह जाने कि उसका अपना अलग और भिन्न स्वार्थ कोई नहीं है। जो परार्थसे अविरोधी है वही स्वार्थ सच्चा स्वार्थ है।

जिन्हें संकीर्ण भावसे अपने स्वार्थोंको देखने और साधनेकी आदत हो गई है, वे स्वभावतः ऐसे प्रयत्नमें बाधा बनकर सामने आयेंगे जो सर्व-हित-साधन करना चाहता है। यह तो मनुष्यका स्वभाव है। लेकिन इसमें निराश होने-जैसी कोई बात नहीं है।

अगर हम समाजकी विषमताको दूर करना चाहते हैं तो वह तभी दूर होगी जब हम उस विषमताकी चेतनासे स्वयं छूटेंगे और बाहर भी उसे कम करनेमें प्रयत्नशील होंगे। वर्ग-विग्रह ही तो शिकायत है, वही तो रोग है। वर्ग-विग्रहकी चेतनाको गहरा करनेका उपाय तो रोगमें गहरे धँसनेका ही है। इससे व्यक्ति-मात्रको, चाहे फिर वह राजा हो या रंक हो, एक धरातलपर रखकर विचार करने या व्यवहार करनेसे ही सामाजिक समस्याका कुछ समाधान हो सके तो हो सके, अन्यथा तो वह उलझती ही जायगी। वर्ग-विग्रहकी (=Class struggle की) जगह वर्ग-संग्रहकी (=Class Collaboration की) भावना चेतानी होगी।

आदमी आदमी है। जो भेद है वह कृत्रिम है। उस कृत्रिम भेदके नीचे आदमी आदमीकी सहज सामान्यता हम नहीं पहचानेंगे और उसीको नहीं याद रक्खेंगे तो हमारा पैदा किया हुआ समाजव्यापी वैषम्य किसके सहारे फिर दूर हो सकेगा? इसीसे मेरी धारणा है कि आर्थिक लड़ाईको पारमार्थिक दृष्टि-कोणसे देखकर ही निपटाया जा सकेगा। प्रचलित अर्थशास्त्रमें प्रचलित आर्थिक संकटोंका इलाज मिलेगा ही कहाँसे, क्यों कि वही तो उस संकटके मूलमें है।

प्रश्न—क्योंकर विश्वास किया जाय कि वह शोषक जिसका शोषणमें अभ्युदय हुआ है और उस शोषणकी क्षमता होनेसे ही

जो उस अभ्युदयका अपनेको अधिकारी समझता है, कभी अपने इस व्यवहारको स्वयं ही अनुचित समझने लगेगा?

उत्तर—यह विश्वास इसलिए किया जा सकता है कि कोई भी शोषक कोरा शोषक ही नहीं है, वह आदमी भी है। उसके माँ-बाप होंगे, भाई-बहिनें होंगे, बाल-बच्चे होंगे, बन्धु-बान्धव होंगे। वह समाजका भाग होगा। अगर समाजके अन्तःकरणमें वस्तुओंके विविध मूल्योंकी धारणा बदल जावे, लखपतीका आजकी तरहसे दबदबा न रहे और वह अपने लखपतित्वके लिए सामान्यसे किसी कदर हीन ही व्यक्ति समझा जाय तो लखपती होनेकी लालसा और लखपती हो जानेपर गर्वकी भावना फिर किसके सहारे उसमें पैदा होगी और किसके सहारे टिकेगी? मेरे अभिमानको तुष्टि तभी मिलती है जब दूसरा मेरे समक्ष कुछ झुकता हुआ दीखता है। पैसेमेंसे वह शक्ति जब खिंच रहेगी तब पैसेका ढेर पेटके नीचे रखनेका आग्रह भी मन्द हो जायगा।

आज जो हमें पूँजी-पतिके पूँजी-मोहसे उबरनेकी संभावना असंभव दिखाई देती है, तो क्या इसका कारण यह भी नहीं हो सकता कि उस पूँजी-मोहके शिकार थोड़े-बहुत हम भी हैं? आज भी क्यों मैं पूँजी, पूँजीपति और पूँजी-वादीके आतंकको अस्वीकार नहीं कर सकता? और अगर सच-मुच ही उस आतंक-बोधसे मैं छुटकारा पा जाता हूँ तो मुझे निश्चय है कि कमसे कम मुझे लेकर तो अपनी पूँजीके अधिपतित्वमें उस आदमीको स्वाद अनुभव नहीं हो पायगा। क्या यह अविश्वसनीय मालूम होता है कि गौतम बुद्धके समक्ष होकर एक लक्षाधिप अथवा नराधिप अपनेको निम्न ही अनुभव कर आता होगा? वहाँ उसका दंभ,—उसकी शोषकताको क्या हो जाता है, और वह मानो दयनीय क्यों हो आता है? मैं पूँछता हूँ, क्यों? इसके जवाबमें ही असली जवाब है।

मुझे मालूम होता है कि पूँजी-पति लोकमतका (=Public opinionका) दास ही होता है। लोकमतसे वह बेहद घबराता है और उसकी अनुकूलता और दासानुदासताद्वारा ही वह-धन कमा पाता है। उसके व्यक्तित्वमें कुछ असली तरीकेकी हिम्मत होती तो वह धन नहीं बल्कि समाजमें सच्ची नैतिक निष्ठाका अर्जन करता। इस लिहाजसे मुझे शंका नहीं है कि खूब पैसा कमाकर झोंपड़ियोंके बीचमें अपना महल बनाकर बैठनेवाला साहूकार कमजोर आदमी होता है। झोंपड़ियोंका उसे डर रहता है। उसके विश्वास पुष्ट नहीं होते और वह

प्रचलित सामाजिक मान्यताओंके टेकनपर टिककर ही जीता है। वह टेकन हटे कि उसकी सारी ऊँचाई धूलमें मिली हुई दिखाई दे आए! और मैं नहीं समझ पाता कि रुपएके मोल आत्माका सौदा करनेमें कौन बड़प्पन है?

प्रश्न—किन्तु उस लोकमत अथवा सामाजिक मान्यताओंकी टेकनके हटनेसे उसके तोषक-गलीचा, गाड़ी-मोटर महल आदि आरामका सामान और भविष्यके लिए बाल-बच्चोंकी सुरक्षा भी क्या हट जायगी? और क्या इनके लिए उसमें पूँजी-मोह बना ही न रहेगा?

उत्तर—हाँ, वह हट भी सकते हैं। रूसका जार गिरा। उसके बाल-बच्चे, मोटर-वैभव क्या हुए? मान लीजिए, उसे मारा न जाता, जिन्दा रहने दिया जाता, तो भी क्या उसका जीवन किसी प्रकार स्पृहणीय समझा जाता? कलके बड़े बड़े अमीर-उमराव राजे-नवाब परिस्थितियोंके प्रतिकूल हो जानेपर अपनी थोड़ी-बहुत सम्पत्तिके बावजूद किस कोनेमें कैसे निर्वाह कर रहे हैं, कोई आज इस बातको जाननेकी भी पर्वाह करता है! अगर उन्हें कोई देखता भी है तो ऐसे जैसे प्रेक्षक किसी ऐतिहासिक खंडहरको देखता है।

इसलिए ऊँचे महल और संपत्तिकी बहुलताको हम ज़रूरतसे अधिक न गिनें। किसीका जीवन केवल इनपर नहीं बीतता। पैसेवालेका तो और भी नहीं। अगर बाहर समाजमें किसीके नामकी थूथू हो रही हो, तो लाख पैसा उसको जरा आराम नहीं दे सकता। यहाँ 'आराम'से केवल मानसिक आरामका मतलब नहीं है, ऊपरी और दैहिक आरामकी बात भी उसमें गर्भित है। बहिष्कारको (=Social Boycott को) आप छोटा दंड न मानिए। शायद इससे बड़ा दंड कोई हो नहीं सकता। इसलिए यह कहना कि पूँजीवालेको, जबतक उसके पास पूँजी है, अंहकारसे निवृत्ति मिल नहीं सकती, ठीक नहीं है। यों तो ईसाने कहा ही है, 'सुईके नकुवेंमेंसे ऊँट चाहे निकल भी जाय, पर स्वर्ग राज्यमें धनिकका प्रवेश उससे भी कठिन है।'

प्रश्न—यदि आपका यह विश्वास ठीक है तो फिर समाज इस दशाको पहुँचा ही क्यों कि पूँजीपति उसके सर्वेसर्वा बन गये? क्या आपका विश्वास आज तकके इतिहासकी कसौटीपर सच्चा उतरता है?

उत्तर—कारण उसका क्या कहा जाय? कह सकते हैं कि हम आदिसे मायामें ग्रस्त हैं।

हाँ, इतिहाससे मुझे तो अपनी ऊपरकी स्थापनाके लिए पुष्टि मिलती है। पहले बाहुबलकी जितनी क़ीमत थी क्या आज भी उतनी है? पहले फौजी नायकके हाथमें ज्यादा शक्ति रहती थी, आज फौजी नायकके ऊपर व्यवस्थापिका सभा है। इसी तरह और भी परिवर्तन हुए हैं। मैं मानता हूँ कि ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, चरित्रबलकी प्रभुता बढ़ती जायगी, पशुबल और धनबलकी महत्ता घटती जायगी। मुझे वह अवस्था अकल्पनीय नहीं मालूम होती जहाँ ब्रह्मज्ञानीको कोषाध्यक्षसे और सेनापतिसे अधिक सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त होगी। सूक्ष्म-भावमें देखें तो वह अवस्था आज भी है।

प्रश्न—भूखे नंगे मजदूर जैसे असंस्कृत प्राणियोंवाले जन-साधारणमें पेटकी आग क्योंकर धनिकोंके मुकाबलेमें उनकी हीनता सुझानेसे बाज आयेगी और क्योंकर घृणा और द्वेषके स्थानमें प्रेम और समताका भाव पैदा होने देगी? क्या ऐसा सहज नियमके विरुद्ध और असंभव ही नहीं प्रतीत होता? समृद्धिमें तो वह विरक्ति होती देखी गई है, किन्तु भूखे मरते मनुष्योंकी अकिंचनतामेंसे भी क्या वही विरक्ति उग सकेगी? आपका गौतम बुद्धका उदाहरण तो इसका सही प्रमाण नहीं है।

उत्तर—यह बिल्कुल ठीक है। जो भूखा है और भूखसे त्रस्त है, वह भोज्य पदार्थको साधारणसे अधिक ही महत्त्व देगा। उसकी वृत्तिमें समता दुर्लभ है। इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे लाचारीके कारण कोई भूखा न रहे। स्वेच्छापूर्वक किया गया उपवास तो भूखा रहना है ही नहीं। इसलिए, यह कहा जा सकता है कि भूखा रहना पाप है।

इतना कहनेके बाद यह मानना मेरे लिए कठिन है कि भूखेको यदि भूख मिटानी है तो उसे धनाढ्यका द्वेषी ही होना चाहिए। यह तो ठीक है कि भूखकी अवस्था प्रीतिकी अवस्था नहीं है, और उस हालतमें मनुष्य-मात्रके लिए प्रीतिका उपदेश प्रासंगिक भी नहीं है। लेकिन, मैं यह तो कहना चाहता ही हूँ कि अगर भूखा व्यक्ति ईर्ष्याकी जलनसे और भी जलना आरंभ करेगा तो इससे भूखकी जलन कम होनेकी संभावना नहीं होगी, बल्कि इस प्रकार वह संभावना

कुछ दूर ही हटेगी। अगर सच्चे तौरपर भूखेकी भूख मिटानेके साधन पैदा करना है तो उसके द्वेषको गहरा नहीं करना होगा, बल्कि उसे स्वाधीन भावसे उद्यमी बनना बताना होगा। वर्ग-विग्रह काम न आयगा, विवेकपूर्वक हृदय, बुद्धि और शरीरका उपयोग ही उसके कुछ काम आ सकेगा। वैसा कोई उद्योग ही उन अकिंचनोंके संगठनका मध्य-बिन्दु बनना चाहिए। अन्यथा उनका कोरा संगठन,—यानी पूँजीवालेंके विरोधकी वासनाके आधारपर किया गया वाग्बहुल संगठन, अन्ततः विष-फल ही उत्पन्न करेगा।

प्रश्न—उस संगठनका उद्देश्य मालिक-मज़दूरके भेदको हटाना ही हो सकता है। किन्तु इस समस्याका हल तो आपने भावनात्मक बतलाया है : यानी मज़दूरों और मालिकोंके दिलोंमें परिवर्त्तन। तब फिर उसके लिए मजदूरोंके संगठित होनेकी ही कौन-सी आवश्यकता रह जाती है?

उत्तर—संस्था और संघ तो सदा ही आवश्यक हैं। पेड़ोंके जंगल और मनुष्योंके समाजमें अन्तर है, तो क्या? अन्तर है मनुष्यकी यही संघ-वृत्ति। व्यक्तित्वको व्यापक होना है कि नहीं? या व्यक्तिकी परिधि व्यक्ति ही रहे? सम्मिलित, एकत्रित व्यक्तित्वका नाम 'संस्था' है। संस्थामें संगठन आ ही जाता है।

शायद आपको शंका है कि जहाँ संगठन आया वहाँ विरोध तो आया ही रक्खा है। हाँ, संगठनमें अंशोंकी स्वाधीन सत्ता अवश्य गर्भित है, लेकिन उन अंशोंकी ओरसे स्वेच्छापूर्वक उस स्वाधीनताका आंशिक समर्पण भी गर्भित है। वहाँ विरोधकी भावना बेशक नहीं चाहिए। वैसा विरोध अनिवार्य है, यह मैं नहीं मानता।

प्रश्न—क्या आपका मतलब यह है कि मज़दूर अपना उचित स्थान पानेके लिए एक विश्वव्यापी संस्था संगठित करें और फिर किसी एक समय संगठित और संपूर्ण असहयोगद्वारा मालिकोंको मजबूर करें कि वे अपने उन अधिकारोंको छोड़ें जिनके कि वे अधिकारी नहीं हैं?

उत्तर—असलमें जो मैं चाहता हूँ उसके लिए अधिकारोंकी चेतना और चिंता कुछ विदेशी है। मज़दूर भी आदमी, पूँजीपति भी आदमी है। दोनोंका कर्त्तव्य है कि परस्पर मनुष्यकी भाँति रहें। उसके बाद दोनोंका अधिकार है कि वे

मनुष्योचित ही बर्ताव दूसरेसे स्वीकार करें। मानवोचितके अतिरिक्त पूँजी अथवा श्रमका एकका दूसरेके प्रति, अथवा दोनोंका तीसरेके प्रति, कोई अधिकार नहीं है। संगठन भी इसी एक सिद्धान्तके अधीन होने चाहिए और हो सकते हैं। जिससे इस सिद्धान्तका उल्लंघन हो वैसा कर्म, व्यक्तिगत हो अथवा सांधिक, समाजमें विक्षोभ पैदा करता है और जन-शक्ति और जन-कल्याणका ह्रास करता है।

प्रश्न—मान लिया जाय कि मजदूरोंकी एक बड़ी संगठित जमात कोई सभा या सम्मेलन करती है और उन्हें तितर-बितर करनेके लिए मालिकोंकी ओरसे उनपर सशस्त्र प्रहार होने लगता है। उस समय मज़दूरोंका या किसी सत्याग्रहीका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? बदला लेना तो खैर हो ही क्यों सकता है,—किन्तु क्या बचने-बचानेका भी प्रयत्न करना होगा, अथवा चुप-चाप खड़े रहना होगा?

उत्तर—अगर आंदोलन-कर्त्ता कोई षड्यंत्र नहीं कर रहे हैं तो मारके डरसे वे क्यों तितर-बितर हो जावें? पर इस बातपर विश्वास होना चाहिए कि वे मिल-बैठकर किसीकी बुराईकी बात नहीं सोचते हैं,—अपनी भलाईकी बात ही सोचनेके लिए जमा हुए हैं। नहीं तो, सत्याग्रहके नामपर दुराग्रह हो जायगा।

प्रश्न—डरसे नहीं तो क्या बुद्धिमत्ताहीका लिहाज़ कर वहाँसे हट जाना चाहिए? मान लिया जाय कि हमारे कार्य-स्थानपर किसीकी गोली तो नहीं पर आस्मानसे ओले ही बरसने लगे हैं। तो क्या उन ओलोंकी बाधाको अस्वीकार न करना होगा? क्या उनके नीचे दबकर मर जाना होगा?

उत्तर—हाँ, बुद्धिमत्ताके लिहाज़से बच जाना भी ठीक हो सकता है। मतलब तो यह है कि मानवी हिंसाके आतंकसे दबकर कोई काम करना उचित नहीं है।

प्रश्न—यदि बचनेका स्थान न मिलता हो और मुँहपर लाठी पड़ रही हो, तो क्या उस लाठीको पकड़ लेना अनुचित होगा?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—और उसे छीनकर फेंक देना?

उत्तर—वह भी नहीं।

प्रश्न—क्या इस छीन-झपटमें पाशविक बलका प्रयोग न होगा ?

उत्तर—'छीन-झपट' आपने कहा ? किन्तु इसमें दूसरी ओरसे 'झपट' कहाँ है ? और जो अकेली 'छीन' है वह भी दीखने-भरकी है, लाठी प्रहार कर्त्ताके हाथमेंसे अलग हो (या की) गई है। यहाँ प्रहार सहनेवालेकी ओरसे पाशविक बलका प्रयोग किस जगह है ? प्रहार न खाना तो पाशविक बलके प्रयोगका काफी सबूतन हीं है।

प्रश्न—विकास और क्रान्तिमें आप क्या अन्तर मानते हैं ?

उत्तर—'विकास'में बलात् परिवर्तन और उथल-पुथलका भाव नहीं है जो कि 'क्रान्ति'में है।

प्रश्न—उथल-पुथलसे क्या मतलब ? क्या मनुष्यका कोई कर्म थोड़े-बहुत अंशमें उथल-पुथल ही नहीं है ? और क्या उस कर्मके बिना कोई विकास संभव है ?

उत्तर—'उथल-पुथल'से मतलब है कि जहाँ पूर्वके साथ पश्चात्‌का मेल न देखा जाय, विरोध ही देखा जाय। अतीतके खंडनपर वर्त्तमान और वर्त्तमानके खंडनपर भविष्य बने, यह अभिप्राय 'क्रान्ति'में है। उन अतीत-वर्त्तमान एवं भविष्यमें किसी धारागत एकताकी स्वीकृतिका आशय 'विकास'में है।

प्रश्न—तो क्या अतीत या वर्त्तमानको मनुष्य बिल्कुल ठीक ही समझे ?

उत्तर—बिल्कुल ठीक तो समझ नहीं सकता, क्योंकि इस प्रकार भविष्य उसके लिए नष्ट हो जायगा। लेकिन, इन दोनोंको एकदम इन्कार करनेका भी तो मौका नहीं है, क्यों कि ऐसे भविष्य फिर खड़ा किसपर होगा ?—उसका आधार नष्ट हो जायगा। इंकारपर तो कोई कुछ टिक नहीं सकता।

प्रश्न—आपने विकासके लिए अतीत या वर्त्तमानका खंडन वर्जनीय कहा था। तो मैं पूछता हूँ कि क्या अतीत या वर्त्तमानका कोई भी अंश ऐसा नहीं हो सकता जिसका खंडन किया जाना अनिवार्य हो ?

उत्तर—जरूर होना पड़ेगा। पर खंडन इष्ट नहीं है, खंडन गर्भित है। भविष्य क्या वर्त्तमानको ललकारता हुआ आता है ? वह आता है तो बे-मालूम भावसे। इसीसे खंडनके मनसूबोंमें कुछ अर्थ नहीं है। जीना अपने आपमें

मौतका खंडन ही तो है। जीना मौतको जीतना है। जीनेके अतिरिक्त तो कोई तरीक़ा मृत्युसे लड़नेका है नहीं। जीना अपने आपमें मौतका इंकार जो है। इस भाँति देखनेसे मौतका भय जाता रहता है और उस तकसे मेल हो सकता है। इसलिए कर्त्तव्य कर्म तो मेल ही है, और किसी प्रकारकी ठान ठान कर खंडनपर उतारू होना भला नहीं है। मेल बढ़ानेमें घृणा आप खंडित होती जायगी।

प्रश्न—जीना अपने आपमें मौतका खंडन है, लेकिन उस जीनेमें आखिर साँस लेना, खाना-पीना आदि कुछ तो कर्म है ही। उस कर्ममें बिना कुछ हलचल किये आप रह सकते हैं? खाते, पीते और साँस लेते क्या जरूर आप किसीका खंडन नहीं करते और उस खंडनको क्या आप इष्ट नहीं समझते?

उत्तर—मैंने कहा कि खंडन बिना किये भी होता है और वैसा ही खंडन जायज़ है। लेकिन 'खंडन'के शाब्दिक आधारसे आगे जाइए कि हिंसाका भाव आ जाता है। हिंसा बिना 'किये' नहीं होती; अर्थात्, हिंसाका संबंध भावनासे है। भावना-हीन कर्ममें हिंसा-अहिंसाका प्रश्न ही नहीं है। जीने-मात्रमें कुछ न कुछ हिंसा आ जाती है। लेकिन जीनेमें ही जो हिंसा बिना मेरे जाने हो जाती होगी, उसके लिए मुझे अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। हिंसाका सवाल उठता ही वहाँ है जहाँ हिंसा 'की' जाती है। तो यह 'की' जानेवाली हिंसा कभी कर्त्तव्य नहीं है, यह निर्विवाद रूपमें कहा जा सकता है। आपके प्रश्नमें 'खंडन' शब्दसे भावको साफ़ करनेमें कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती है। क्यों कि खंडन वासनाके बिना भी संभव मालूम होता है, इसलिए खंडनको सहसा अनुचित कहते नहीं बनता। लेकिन 'खंडित करनेकी इच्छा'में वासना आ जाती है, हिंसा आ जाती है। इसीलिए कहना होता है कि खंडन मैं 'कर' नहीं सकता, वैसे यों मेरा समूचा जीवन ही एक युद्ध और खंडनकी प्रक्रिया है। कर्त्तव्य-कर्म पानेकी जहाँ बुद्धि है वहाँ असंदिग्ध रूपमें इष्ट प्रेम ही है, अप्रेम अनिष्ट है। खंडनका समर्थन, लीजिए, मैं करता हूँ, लेकिन वह प्रेमद्वारा अप्रेमका खंडन है। उससे अलग किसी प्रकारकी स्थूल खंडनेच्छाका मैं हामी नहीं हूँ।

प्रश्न—जीने-मात्रमें कुछ न कुछ हिंसात्मक खंडन होता है जिसकी शायद आप छूट देते हैं। किन्तु कभी कोई खंडनके लिये खंडन करता देखा गया है? क्या बड़ेसे बड़े खंडनमें जीने-

मात्रहीकी किसी न किसी रूपमें अपेक्षा नहीं रहती है? क्रान्तिवाला खंडन भी खंडनके लिए नहीं है, वह भी सामाजिक पैमानेपर जीने-मात्रके आग्रहमेंसे ही निकलता है?

उत्तर—तो इसका मतलब है कि प्रेमसे खंडन किया गया,—शान्तिसे क्रांति की गई। तो, उसका तो मैं पूरा क़ायल हूँ ही।

प्रश्न—प्रेमपूर्वक खंडन किया जा सकता है। किन्तु जिसे खंडित किया जायगा उससे आवाज़ पैदा न होगी, इसकी गारंटी कौन ले सकता है?

उत्तर—कोई नहीं, और उस गारंटीकी माँग मेरी ओरसे है भी नहीं।

प्रश्न—लेकिन ऊपर जो आपने क्रान्तिको शांतिसे किये जानेकी शर्त्त रक्खी है, उसका क्या मतलब है?

उत्तर—इसका मतलब है कि भावना, लगन और विचार सदा शांतिके होने चाहिए।

प्रश्न—तो मार्क्सद्वारा प्रतिपादित क्रान्तिके प्रति आपका क्या विचार है? क्या उसमें भावना, लगन और विचारकी शांतिकी शर्त नहीं निभती, या निभ सकती है?

उत्तर—मेरे ख़यालमें शांतिमय भावनाकी शर्त वहाँ नहीं निभती। श्रेणी-युद्धका सिद्धान्त शांतिमय नहीं है। यह मैं नहीं कहूँगा कि मार्क्समें अथवा मार्क्स-वादमें शांतिकी इच्छा नहीं थी, या नहीं हो सकती; लेकिन इच्छा ही तो काफ़ी नहीं है। स्वप्न शांतिका हो, तब व्यवहार भी उसीका होना चाहिए। नहीं तो कोरे स्वप्नसे और साथ व्यवहारानुकूलता न होनेसे स्वभावमें बेचैनी और अधीरता पैदा होती है; और स्वप्न और व्यवहारका अंतर इतना बढ़ जाता है कि विरोध दीखने लगता है। शांतिकी चाहमें किये जानेवाले हिंसक प्रयत्न इसी प्रकारकी मनो-दशाको व्यक्त करते हैं।

मुझे ऐसा मालूम होता है कि अगर मार्क्सके विचारोंसे प्रेरणा प्राप्त करने-वाला कोई व्यक्ति सचमुच शांति-कर्मी हो भी जाय, तो समाजवादी संप्रदायके लोग ऐसे व्यक्तिका 'समाजवादी' कहा जाना नहीं गवारा करेंगे। मुझसे पूछो तो सच्चा समाज-वादी धार्मिक व्यक्ति ही हो सकता है, क्यों कि समाजका अंग बनकर रहना और अपने स्वार्थको अलग कटा हुआ न रखना ऐसे व्यक्तिका

तो धर्म ही हो जाता है। लेकिन समाज-वादी दल और उस वादके शास्त्रीलोग क्या इस बातको किसीके मुँहसे निकलने तक देंगे? इसलिये मैं मानता हूँ कि मार्क्सके अनुगमनमें शांतिकी रक्षा और पुष्टि नहीं है।

प्रश्न—लेकिन ऐसा तो शायद आप भी मानते हैं कि पूँजीपति और मजदूर दोनोंके स्वार्थोंमें (=Interests में) परस्पर विरोध है?

उत्तर—पूँजीपति और मजदूर दोनों एकसाथ भूचालमें मर सकते हैं। दोनोंका स्वार्थ इसमें है कि भूचाल न आवे। यहाँ उनके स्वार्थोंमें विरोध नहीं दीखता। आदमीकी हैसियतसे दोनोंके स्वार्थोंमें विरोध नहीं है।

सामाजिक हैसियतसे विरोध है। एक रकमका अधिक भाग अगर मालिकको पहुँचेगा तो मजदूरके लिए कम भाग रह जायगा। मजदूरको अधिक भाग पहुँचे, इसके लिए जरूरी है कि मालिकका भाग कम हो। यह विरोध है, और जरूर है।

प्रश्न—ऐसा ही मतलव क्या मार्क्सवादी भी श्रेणी-युद्धका नहीं लगाते?

उत्तर—हाँ, वे शायद पूँजीपति और मजदूर दोनोंमें सम-सामान्य मानवताको काफ़ी दृष्टिमें नहीं रखते हैं, जहाँ कि स्वार्थोंकी पृथक्ता दूर हो जाती है और उनमें अभेद दीखता आता है।

प्रश्न—पूँजीपति अपने स्वार्थसे अभिन्न होते हैं और उसी तरह मज़दूर भी। उनमें सम-सामान्य मानवताकी गुंजायश कहाँ रह जाती है जिसका वे हिसाब लगायें?

उत्तर—क्या सचमुच नहीं रहती? वे एक नगरमें रहते हैं, एक प्रांत और देशमें रहते हैं, इस बातका अनुभव क्या उन दोनोंको पग-पगपर नहीं होता? मुल्कपर हमला हो तो क्या दोनों नहीं चेतेंगे? शहरमें क्या म्युनिसिपैलिटीका कानून दोनोंपर ही एकसा लागू नहीं होता? नदीमें बाढ़ आ जाये, तो क्या वह झोंपड़ी और महलको देखेगी? इसलिए आँख खोलते हुए मैं कैसे कह दूँ कि उन दोनोंका हित कहीं भी जाकर एक नहीं है? कारखानेको छोड़कर शेष दुनियामें उनका विरोध लुप्त-प्राय हो जाता है।

प्रश्न—यदि वह कहीं भी एक हैं या हो सकते हैं तो केवल एक दूसरेसे लाभ उठानेके लिए और शोषण (=Exploit) करनेके

लिए; और इस प्रकारका एक जगह रहना केवल संघर्ष ही है। यानी, बस चले तो एक दूसरेको हड़पनेकी भावना ही दिन दिन उनमें मज़बूत होती जा रही है। क्या इस एक जगह रहनेमें कोई वास्तविक सहयोग या मेल है, या मेल उगनेका बीज है? जान तो ऐसा पड़ता है कि वे एक दूसरेसे निबट कर ही रहेंगे।

उत्तर—मेलका बीज ज़रूर है और मुझे नहीं जान पड़ता कि उनमेंसे कोई सफलतापूर्वक किसीको खाकर पचा जा सकेगा। फिर भी आपसमें वे खाऊँ-खाऊँ करते हैं, यह मैं जानता हूँ। लेकिन इससे कहा यही जा सकता है कि वे अपनेको नहीं जानते। अरे, मैंने एक बाढ़में बहे आते हुए छप्परपर साँप और आदमीको निर्विघ्न भावसे पासपास बैठे आते हुए देखा है। और तो और, ऐसी अवस्थामें शेर-बकरी तक विरोध भूल जाते हैं। यह झूठी बात है कि मिल-मज़दूर और मिल-मालिक कभी अपना विरोध नहीं भूलते। और अगर उस प्रकारका विरोध उनकी बोटी-बोटीमें, रग-रगमें, समाता जा ही रहा है तो मैं कह सकता हूँ कि यह अच्छी बात नहीं है, एकदम बुरी बात है। ऐसा ही है, तो दोनों देख न लें एक बार एक-दूसरेको खानेकी कोशिश करके। ऐसी कोशिशसे किसीका पेट नहीं भरेगा, अपच हो जायगा, और पीछे भारी मुसीबत उठानी पड़ेगी। आप समझते हैं प्रालितारियत वर्गने रूसके प्रयोगमें उच्च वर्गको (=Capital को) खा लिया और खाकर पचा लिया? शायद एकाएक तो मुँह फाड़कर उस केपिटलको हड़प लिया भी गया हो, लेकिन वह खाया पच नहीं सका और रह-रहकर वहाँ जीकी उबकाईके दृश्य दीखनेमें आते हैं और निगला हुआ क्रम क्रमसे उगला भी आ रहा है। मैं कहता हूँ कि नहीं है घृणा मानवताका भोजन। जो उसे खायगा, वह पछतायगा। भूखे हो तो भूख सह लो; पर ज़हर न खाओ। भूखमें ज़हरको ही ज़्यादा खाकर एकाएक पेट भरा-सा लग आ सकता है, लेकिन यह तरीक़ा भूख तो भूख, पेटसे ही हाथ धो बैठनेका है। असल बात यह है कि मानवीय श्रम और पूँजी-प्राप्य साधन दोनोंमेंसे किसी भी एक अकेलेसे काम नहीं चलता। साधनहीन उद्यम कोरे सपनेकी कारवाई जैसा हो जाता है और उद्यमका तिरस्कार करके साधन स्वयं तो जड़ हैं ही। इसलिए श्रम और पूँजीमें सहयोग होना होगा। यों आपसी बन अनबन कहाँ नहीं लगी है? दो भी हों तो बासन खटक पड़ते हैं। पति-पत्नी

हर कहीं झगड़ते हैं। लेकिन कौन भला आदमी है जो इसलिए दोके इकट्ठेपनको एकदम असंभव कहेगा। इससे रगड़-बिगड़ तो होती रह सकती है, क्यों कि उसका निपटारा भी होता रह सकता है। लेकिन मामला अगर हिंसातक पहुँचा,—एक दूसरेको नोंच खानेकी प्रवृत्ति ही हो आई, तब तो ईश्वर ही बचाये। और हम विश्वास रक्खें कि ईश्वर है तो रक्षा भी है ही। उस ईश्वरकी तरफ़से यह विधान है कि कोई किसीको खाकर ख़त्म नहीं कर सकता। मुँह अगर पूँछको खाता है तो उससे भयकी आशंका नहीं। उससे किसीको कुछ नुकसान नहीं होगा : क्यों कि यह तो कोरा तमाशा है, माया है। वैसा अपने अंगको खाना कब तक चलेगा ? कोई ऐसा दुराग्रही हुआ भी, तो उसीमें साफ उसकी मौत भी बैठी है।

२१–व्यक्ति और परिस्थिति

प्रश्न—मनुष्य भला या बुरा अपनी परिस्थितियोंके अनुसार बनता है। परिस्थितियोंसे वह डिक्टेट किया जाता है : क्या ऐसा आप स्वीकार करते हैं ?

उत्तर—यानी, क्या परिस्थितियोंका व्यक्तिपर पूरा काबू स्वीकार करता हूँ ? नहीं, व्यक्तिपर काबू परिस्थितियोंका हो, यह मैं नहीं मान पाता। ठीक जैसे कि देहका आत्मापर अकाट्य बंधन मैं नहीं स्वीकार कर पाता। फिर भी आत्माकी अभिव्यक्ति देहद्वारा ही होती है, और दैहिक स्वास्थ्य अथवा अस्वास्थ्य हमारी अन्तरंग दशापर भी प्रभाव डालता है। वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं !—क्या नहीं ? उन होते रहनेवाले परिवर्त्तनोंको समझें तो जान पड़ेगा कि उनका आरंभ किसी एक प्रतिभा-संपन्न व्यक्तित्वसे होता है। कर्म-स्वातंत्र्य और 'इनीशीएटिव्ह' आदि शब्दोंमें नहीं तो फिर कुछ अर्थ ही न रह जायगा। भावना-संकल्पको कर्मके मूलमें मानना ही होगा और वे भावना-संकल्प व्यक्तिमें जन्म लेते हैं। इससे अगर कहना ही हो तो यह कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है कि बाह्य-स्थितिकी अपेक्षा व्यक्ति प्रधान है।

प्रश्न—यदि परिस्थितियाँ प्रधान नहीं हैं तो फिर क्यों अधिकांश मानव-समाज सत्कर्मको जानते हुए भी उसके विपरीत काम करते देख जाते हैं ?

उत्तर—शायद इसीलिए कि उन्हें अपने बलका पता नहीं है।

प्रश्न—तो क्या इसका मतलब यह है कि जीवन आदिसे परिस्थिति-प्रधान है, और फिर वह धीरे-धीरे व्यक्तित्व-प्रधान हो रहा है ?

उत्तर—हाँ, यह कह सकते हैं।

प्रश्न—तो क्या परिस्थितियाँ आत्माके प्रति विदेशीय (=Foreign) हैं, ऐसा आप मानते हैं ?

उत्तर—अगर चरित्र-निर्माण और कर्म-निष्ठाकी अपेक्षा, अर्थात् व्यवहारकी

अपेक्षा, देखें तो यही कहना उचित होगा। अन्यथा शुद्ध निश्चयात्मक दृष्टिसे उनमें सर्वथा द्वित्व नहीं माना जा सकता। निश्चयमें तो सब कहीं एक ही लीला है। और जड़-चेतनका मेल अनादि-अनंत है, द्वित्व मायामें ही है।

प्रश्न—तो क्या व्यवहार दृष्टिसे हम यह भी मान सकते हैं कि हम और हमारे आदर्शके बीचमें परिस्थितियाँ एक फासला डालती हैं?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—तो क्या यों कहें कि मानवका कार्य-व्यापार केवल उन परिस्थितियोंके प्रतीकारके लिए है? परिस्थितियाँ हटीं कि आदर्श फिर प्राप्त है?

उत्तर—नहीं, यह कहना ठीक नहीं। थोड़ी देरके लिए यों समझिए कि मैं दिल्लीमें रहता हूँ, और मुझे कलकत्ते पहुँचना है। कलकत्ता पहुँचनेके लिहाज़से मेरा दिल्ली छोड़ना उचित है। दिल्लीमें रहनेका मोह कलकत्ता पहुँचनेमें बाधा है। पर दिल्लीके अपने जीवनकी परिस्थितिको एकाएक मैं गाली देने लगूँ, इससे कलकत्ता पहुँचनेमें कोई सहायता नहीं प्राप्त होगी। मैं कह सकता हूँ कि दिल्लीकी परिस्थिति इस अंशमें मेरी सहायक हुई है कि वह मुझे क़ायम रक्खे हुए है। कलकत्तेकी यात्राके लिए सम्बल मुझे दिल्लीकी स्थितिमेंसे ही जुटेगा। उस स्थितिसे एकदम अलग होकर मेरी संभावना ही नष्ट हो जाती है।

अर्थ निकला कि हरेक स्थितिकी अपनी कुछ मर्यादाएँ हैं। वे मर्यादाएँ इस लिहाजसे अत्यन्त आवश्यक और उपादेय हैं कि मर्यादाओंके नितांत अभावमें कोई स्थिति संभव ही नहीं हो सकती। किन्तु जीवन स्थितिका नहीं, निरन्तर गतिका नाम है। इसलिए कोई स्थिति यदि गतिका अभिनंदन करनेको तैयार नहीं है, तो वह जीवन-विरोधी और बाधा-स्वरूप हो जाती है।

अब यहाँ दिल्लीसे वहाँ कलकत्ता तक सड़क भी बनी हुई है। दिल्ली-कलकत्तेमें कितना फासला है? कहा जायगा कि ठीक उतना ही जितनी लम्बी वह सड़क है। तो यह कहना क्या एकदम झूठ है कि वह सड़क दिल्लीसे कलकत्तेको उतनी (कहिए हज़ार मील) दूर बनाये हुए है? भाषाके प्रयोगके लिहाज़से यह कथन अशुद्ध नहीं है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि वह ही सड़क दिल्ली और कलकत्तेके उस फासलेको मिलाये भी हुए है। अगर सचमुच कलकत्ता

पहुँचना है, तो फ़ासलेको नापनेवाली सड़कसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। वह सड़क ही हमारा मार्ग है, अगर्चे यथार्थ इष्ट हमारे लिए सड़क नहीं है बल्कि यह है कि कब वह सड़क खत्म हो और हम कलकत्ता पहुँचें।

परिस्थितियोंको भी इसी निगाहसे देखनेसे काम सधेगा। एकदम परिस्थिति-हीनके अर्थ तो हो जायँगे स्थिति-हीन, यानी सत्तासे ही हीन। यह अवस्था मुक्तिकी नहीं है, यह तो विनाश है। स्थितिमें रहकर उससे आबद्ध न रहना और बढ़ते चलना, बढ़ते ही चलना, यह विकासका लक्षण है। जीवन एक यात्रा है। उसका अंत वहाँ है जहाँ उसका आदि भी है।

प्रश्न—ऊपर आपने एक स्थितिका जिक्र और किया है। इसलिए मैं जानना चाहता हूँ कि आप, आपकी स्थिति और परिस्थिति, इन तीनोंको कहाँ तक आप अलग अलग मानते हैं?

उत्तर—'मैं'का अभिप्राय स्पष्ट ही है। 'मैं' और चहुँओरकी 'परिस्थिति', इन दोनोंके वर्तमान परिणामको 'मेरी स्थिति' कहना चाहिए। उसमेंसे मैं अपनेको घटा लूँ तो बाह्य जो कुछ शेष रहेगा उसको 'परिस्थिति' शब्दसे निर्दिष्ट किया गया है। यों कहिए कि वस्तुगत स्थिति है, 'परिस्थिति'। 'मैं' है जीव-तत्त्व। इन दोनोंको परस्परापेक्षामें रखनेसे 'मेरी स्थिति' प्राप्त होती है।

लेकिन क्या इन शब्दोंके व्यवहारसे ऊपर कुछ आपको विभ्रम या गलतफहमी होती है? यह विभ्रम क्या है?

प्रश्न—ऐसा केवल मैंने निश्चय करनेके विचारसे पूछा। हाँ, तो अब मैं पूछना चाहता हूँ कि जीव-तत्त्वके (सत्के) अतिरिक्त शेष स्थिति या परिस्थिति क्या वास्तवमें कोई सत् वस्तु हैं? क्या वे शून्य यानी असत्में (=Vacuumमें) बनी असत्की रेखा या उसकी छाया ही नहीं हैं और उसको बाँधने ही वाली नहीं है? तब आपका यह कहना क्यों कर समझमें आये कि मेरे लिए मेरी स्थिति सहायक ही होती है?

उत्तर—यह तो सूक्ष्मतामें खींचा जा रहा है। वहाँ डर यह है कोई कथन बाज़ीगरीका-सा न मालूम होने लगे। अनिर्वचनीयको वचनमें लानेकी कोशिशसे भाषाके स्वरूपपर बहुत बोझ आ पड़ता है। भाषा वहाँ टूट जायगी।

खैर यों समझिए। मै हूँ कि नहीं? 'मैं'के बोधसे बचना संभव नहीं। जब मैं हूँ, तब अन्य भी कुछ है। 'मैं'के होनेमें, नहीं तो, कुछ अर्थ ही नहीं। इस प्रकार हमारे सब व्यापार द्वित्वसे संभव बनते हैं। मैं ज्ञाता, अन्य ज्ञेय। मैं जीव, अन्य जड़। मैं आत्मा, अन्य वस्तु।

परिस्थिति जिसको कहा उससे आशय इसी अन्य-अन्यके योगसे है।

स्थिति मेरे होनेकी शर्त्त है। स्थितिहीनताका अर्थ अस्तित्वहीनता ही हो जायगा।

किन्तु स्थिति ही सत्का लक्षण नहीं है, गति भी उसमें है। स्थिति गतिद्वारा प्रतिक्षण बदलती-बढ़ती रहे, इसीको कहेंगे जीवन। यही चैतन्यका लक्षण है।

इस लिहाज़से प्रत्येक स्थिति, यद्यपि वह क्षण-स्थायी ही है और अपने क्षणसे आगे बंधनरूप हो जाती है, लेकिन, ठीक अपने समय और अपने स्थानपर वह जीवन-विकासमें सहायक ही होती है।

प्रश्न--धर्म और ध्येयमें क्या अन्तर है?

उत्तर—ध्येयके प्रति उन्मुखता धर्म है। धर्मकी कोई वस्तुगत (=Objective) सत्ता नहीं है। खंडका समग्रके प्रति निवेदन धर्म है।

ध्येय भी अन्तमें ध्यातासे अलग नहीं रहता। ध्याता और ध्येयके बीच अनन्य-ध्यानका जो संबंध है, मानवी अनुभूतिमें उसीको सुख, आनन्द, सिद्धि या साधना या जो चाहे कह सकते हैं।

अन्तमें जाकर भक्त और आराध्य एक हो जाते हैं। Law and Law giver are One,—वहाँ नियम ही नियन्ता है।

प्रश्न—संसार (Universe) क्या विकासशील है?

उत्तर—विकासशील मानकर ही हम गतिको सह सकते हैं। जहाँ गतिका आभास नहीं है, वहाँ 'विकास' शब्दको प्रयोगमें लाने तकका अवकाश नहीं है। यदि काल (Time) है, तो विकास ही उसका अभिप्राय हो सकता है।

प्रश्न—किसी एक खूँटेके चारों ओर चक्कर लगाये जानेमें गतिको तो सहा जा सकता है, किंतु क्या उसमें कोई विकास भी आभासित होता है?

उत्तर—कौन ऐसी गतिको सहता है? कोल्हूका बैल जरूर सहता है, लेकिन क्या कोई बैल तक भी कोल्हूका बन कर रहना चाहता है? और आप देखें कि बैलको कोल्हूका बनानेके लिए उसकी आँखोंको पट्टी डालकर लगभग अंधा कर

दिया जाता है। नहीं तो वैसे क्या वह अपनेको कोल्हूमें जुतने दे? यह बैलकी बात हुई। तब आदमीकी तो क्या पूछिए!

प्रश्न—कोल्हूकी मिसाल छोड़िए। मान लीजिए मैं गेंदसे खेलता हूँ,—मैं उसे उछालता हूँ और हाथमें लपक लेता हूँ। मैं इस क्रीड़ामें लीन हो जाता हूँ। क्या इस बीच मेरा कोई विकास हो रहा है? और क्या इसी तरह हमारा दौड़ना-भागना और फिर सो जाना, पाना और फिर ख़र्च कर डालना, आदि हमें एक चक्करहीमें नहीं फिरा रहे हैं?

उत्तर—मनके आह्लादको भ्रमित गति हम नहीं कह सकते। चिन्ता-सन्देह जरूर इस तरहके भरमीले भँवर हैं। उनसे प्रवाहकी गति मंद होती है। अतः वे विकासमें बाधक हैं। हम पैदा होते, दुख उठाते और मर जाते हैं। शायद फिर भी पैदा होते हों। अगर फिर भी पैदा होते होंगे, तो अंतमें मरते भी होंगे। इस सबका क्या अर्थ है:—यह तो मैं कैसे जानूँ? ठीक वैसे ही जैसे कि उछाली जानेवाली गेंद अपने उछलने, उठने और गिरनेका अर्थ नहीं जानती होगी। लेकिन उस सब व्यापारमें कुछ भी अर्थ नहीं है, यह कहनेकी हिम्मत भी मुझे किस बलपर हो? जान पड़ता है कि मैं धृष्ठता और हठके साथ कुछ देरके लिए सब कुछको व्यर्थ मान भी सकूँ, तो उतनी ही देरमें शायद मैं मर भी जाऊँ। सर्वथा इन्कारपर जीना कैसे हो सकेगा? इससे मैं मानता हूँ कि हम जानें अथवा नहीं जानें, हमारे द्वारा एक नित्य धर्म ही निष्पन्न हो रहा है।

प्रश्न--आपने ऊपर कहा है कि यदि काल है तो विकास ही उसका अभिप्राय है। लेकिन विकासको कालका अभिप्राय क्यों कहा जाय? काल तो जिसे हम विकास कहते हैं, उसका गति-रूपसे भान या आभास-मात्र है। स्वयंमें तो वह कुछ नहीं है जिसका कि अभिप्राय ढूँढ़ा जाय। यदि विकास खोजनेपर एक भ्रम साबित होता है, तो काल भी क्या उसीके साथ साथ खत्म हो जाता है?

उत्तर—'काल' संज्ञामें किसी मानवी प्रयोजनका भाव नहीं है। वह मानो एक वैज्ञानिक (=पारिभाषिक) संज्ञा है। 'विकास' शब्द कुछ अधिक मानव-सापेक्ष है। काल क्या करता है, यदि यह प्रश्न हो, तो उत्तर दिया जा सकता

है कि कालका काम विकास करना है। यही इन शब्दोंमें भेद समझना चाहिए। यदि कोई ऐसी स्थिति है, अथवा उसकी कल्पना की जा सकती है, कि जहाँ काल नहीं है, तो वहाँ विकासको माननेसे भी छुट्टी मिल जायगी।

प्रश्न—विकासमें जो परिवर्त्तन अनिवार्य है, क्या उस परिवर्त्तनसे अलग भी किसी कालका भान हो सकता है?

उत्तर—शब्दोंकी पकड़में न आइए। काल हमारी चेतनाकी शर्त्त (=a category of consciousness) है। अब उस कालमें हमने एक सार्थकता देखनी चाही। कालकी उस मानवाविष्कृत सार्थकताको ही नाम दिया गया 'विकास'।

प्रश्न—लेकिन यह आपने कैसे मान लिया कि सत्‌के साथ जो कालकी चेतना है वह ठीक ठीक समझनेपर व्यर्थका भ्रम ही नहीं हैं? काल और विकास, जिसे आप सार्थक कहते हैं,—इन दोनोंसे क्या सत्‌की अपूर्णताका ही भान नहीं होता है? और यदि कोई विकास है तो क्या वह केवल उस पूर्णताके पा लेनेतक ही नहीं है जहाँ हमारा विकास ख़त्म ही हो जाता है?

उत्तर—जहाँ वह ख़त्म हो जाय, वहाँकी बात तो मैं क्या जानता हूँ। इस लिए, हो सकता है कि जो आज मेरे लिए सही है, वह वहाँकी दृष्टिसे व्यर्थका भ्रम ही हो। पर आजके दिन उसको भ्रम मानकर मैं कैसे चल सकता हूँ? अन्तमें जाकर काल क्या है और क्या रह जायगा, इसकी कल्पनामें उड़कर आज जो वह मेरे लिए बना हुआ है उससे निषेध कैसे कर सकता हूँ? अपनी ससीमतासे नाराज़ होकर, या उससे इंकार करके, क्या मैं अपनी सीमाको लाँघ सकूँगा? असीमका मैं भाग हूँ, स्वयं असीम हूँ, यह निष्ठा रखकर भी अपना सीमित स्वरूप निबाह सकूँ तभी ठीक है। नहीं तो जीवन असंभव हो रहेगा। सीमाको, अपूर्णताको, निरा अभिशाप मैं न मान लूँ। सीमा-बद्ध होकर मुझे मौका रहता है कि मैं असीमके प्रति कृतज्ञ हो सकूँ। इसलिए कालकी मर्यादासे भी चिढ़नेकी आवश्यकता नहीं। त्रि-काल त्रि-लोकका जो अधीश्वर है वह किसी लोकमें (घिरा) नहीं है। अर्थात् उसके ध्यानमें, उसकी गोदमें, काल भी अपना स्वत्व खो रहता है। लेकिन वहाँकी बात हम-

आप कैसे करें। हम तो कालमें ही हैं न ? हमारी चेतना कालकी परिधि पाकर ही जी पाती है। अन्यथा, क्या वह सहमकर मूर्च्छित और मृत-प्राय ही न हो जाय ?

प्रश्न—यदि विकास हर समय है, तो संसार या संसारकी आधारभूत सत्ताका कभी क्या कोई अपना स्वरूप निर्धारित (Trace) किया जा सकता है ? या तो हम कहें कि विकास किसी एक अवस्थासे आरम्भ होता है, और आगे आगे बढ़ता जायगा। या कि वह स्वयंमें एक चक्कर लगाता है और उन्हीं अवस्थाओंसे बार बार संसार गुजरता है। किन्तु पहली बातसे तो विकासका सर्व-कालीन होना असिद्ध रहता है क्योंकि उसका आरम्भ मान लिया जाता है। और दूसरी अवस्थामें भी विकास सर्वकालीन नहीं रहता क्योंकि उसमें पुनरावृत्ति आ जाती है।

उत्तर—विकास मानव-सापेक्ष शब्द है। मूलतत्त्व काल है। काल अर्थात् गति और परिवर्त्तनका आधेय। चारों ओर हर घड़ी सब कुछ बदलता हुआ हमें दीखता है। इस बदलने और चलनेमें बुद्धि फिर कुछ अभिप्राय भी देखना चाहती है। विविधताको एक रूपमें देख सकनेकी शक्ति ही बुद्धिकी साधना कहलाती है। 'विकास' शब्द मनुष्यकी उसी बौद्धिक साधनाका परिणाम है। हम वर्त्तमानमें रहते हैं, पर इतिहासद्वारा अतीतमें भी पैठते और उसका रस लेते हैं। उस बीते अतीत और आजके वर्त्तमानमें हम संगति बैठाते हैं। अनन्तर उसके आधारपर भविष्यकी धारणाको भी हम खड़ा करते हैं। पर हम ही कहते हैं कि अतीत व्यतीत हुआ, और वर्त्तमान आ गया। भाषाका यह प्रयोग एक लिहाज़से ठीक भी हो, पर इस बीचका इतिहास व्यर्थ ही नहीं गया। वह सार्थक है। उसी सार्थकताका नाम मनुष्यने रक्खा है 'विकास'। विकास इस भाँति एक सिद्धांत है। आस्था-बुद्धिसे कहें, तभी उसे 'सत्ता' कह सकते हैं। पर अगर आप उस शब्दसे आगे बढ़ना चाहें तो वह भी हो सकता है। आगे बढ़कर तो कह सकते हैं कि कैसा विकास और कैसा कुछ और,—यह सब तो लीला है, किसी एक अव्यक्तका खेल है। असलमें जिसको 'काल' कहो, जिसको 'विकास' कहो,—वे सब हमारी ही परिमित चेतनाके गढ़े हुए शब्द हैं। वे मायासे बाहर कहाँ हैं ? मायाहीन सत्यमें जाकर फिर सचमुच विकास कहाँ ठहरता है ?

समुद्रमें बूँद कहाँ है ? नित्यता (=Eternity) में समय (=Time) कहाँ है ? 'विकास' शब्द भी उस पल-छिन-रूप समय-विभागकी अपेक्षामें ही संभव बनता है। क्योंकि सहस्र-लक्ष-कोटि वर्ष शाश्वतमें (=Eternal) में वैसे ही नगण्य हैं, जैसे रेखामें बिन्दु नगण्य है। इसलिए अगर आप बहुत आगे बढ़कर पूँछना चाहोगे तो मुझे यह कहनेमें कठिनाई नहीं होगी कि विकास भी वहाँ झूठ है जहाँ कहनेवाला मैं स्वयं ही झूठ हो जाता हूँ। लेकिन यह तो भाई, झमेला है। बुद्धिको इससे बचाये रखना चाहिए। बुद्धि इसमें गिरी कि ऐसे डूब जायगी जैसे पानीमें नोनकी डली। फिर उसका पता नहीं चलेगा।

प्रश्न—विकास जिससे संभव होता है, वह प्रेरणा आन्तरिक है अथवा बाह्य ?

उत्तर—कालकी धारणा द्वित्व बिना संभव नहीं है, इसलिए विकास भी द्वित्वके अभावमें नहीं है। जैसे चनेमें दो दल होते हैं वैसे ही प्रत्येक अस्तित्वमें दो पहलुओंकी कल्पना है : अन्तः और बाह्य। और जैसे नदी दो तटोंके बीच चलती है और वस्तु मात्रके (कमसे कम) किनोर (=Fronts) दो होते हैं, उसी प्रकार विकास अन्तर-बाह्यको निबाहता हुआ संपन्न होता है। उनमें क्रिया-प्रतिक्रिया बराबर चलती है। लेकिन यह विवेचन तात्त्विक कहा जायगा। कर्मकी स्फूर्ति शायद इसमेंसे प्राप्त न हो। इसलिए अगर कर्मकी अपेक्षा, व्यवहारकी अपेक्षा और भविष्यकी अपेक्षा विकासको निर्धारित हम किया चाहें तो अंतरंगको मुख्य और बाह्यको अपेक्षाकृत आनुषंगिक ठहराना उपयोगी होगा।

यों कहिए कि मूल प्रेरणाका स्रोत तो है वह जहाँ अन्तर-बाह्य भेद नहीं है। उसे ही परमात्मा कहा। परम-आत्मा कहा, परम-शरीर नहीं कहा। यानी जो अंतिम (अथवा कि, आदि) सत्य है उसको आत्म-रूपमें ही हमने देखा, पदार्थ (objective) रूपमें नहीं। उस अद्वैतसे उतरकर द्वित्वके तलपर आते हैं, तो शरीर-धर्म और आत्म-धर्म दो हो जाते हैं और उनमें संघर्ष उपस्थित हो जाता है। ऐसे स्थलपर कहना होगा कि वहाँ आत्म-धर्मको प्रधानता देकर ही चलना उचित है, यद्यपि बिना शरीर आत्मा भी निरर्थक है।

स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकासकी यात्रा है। इस लिहाजसे जब कि यह सर्वांशतः ठीक ही है कि अन्तर्बाह्य सामंजस्य सिद्धि है, तब यह भी समझ लेना चाहिए कि बाह्यको आंतरिकके अनुकूल बनाना ही इष्ट है। अनुकूलताको सिद्धि

मानकर बाह्य परिस्थितिके नीचे झुक जाना उचित नहीं है, क्योंकि यदि सच्चा समन्वय है तो सूक्ष्ममें ही है, स्थूलमें तो पृथक् भावकी ही प्रधानता हो आती है।

प्रश्न—आपने कहा कि बाह्यको अन्तरंगके अनुकूल बनाना इष्ट है। लेकिन देखनेमें तो ऐसा आया है कि चराचरका विकास बाह्यके ही अनुकूल हुआ है। किसी भी प्राणी, समाज, संस्कृति या सभ्यतासे क्या यह प्रतीत नहीं होता है कि वे उस देश-कालहीके लिए हैं और बने थे?

उत्तर—देश-कालकी अनुकूलता तो जरूरी है। लेकिन उस अनुकूलताके द्वारा जीवन अभिव्यक्त होना चाहिए, वैसी अनुकूलता स्वयंमें साध्यान्त नहीं है। जहाँ प्रगति है वहाँ यही कहना अधिक यथार्थ होगा कि देश और कालमेंसे जीवन-अनुकूलता प्राप्त कर ली गई है, न कि जीवन देशकालाधीन हो गया है। जीवन निरन्तर गतिमान और वर्द्धमान तत्त्व है। देश-कालके अनुकूल होना ही नहीं, प्रत्युत देशकालातीतके अनुरूप होना सिद्धि है। क्योंकि वर्त्तमानमें तो भविष्य बंद नहीं है और न किसी विशिष्ट स्थितिमें सब संभावनाएँ समाप्त हैं, इसलिए सच्चा जीवन देश-कालसे परिसीमित नहीं होता। हाँ, देश-कालकी अनुकूलताद्वारा, मानो उस चित्रपटपर वह अभिव्यक्त ज़रूर होता है।

लेकिन इस बहसका छोर न मिलेगा। ऐसे ही चलोगे तो इस प्रश्नपर जा पहुँचना होगा कि 'स्व' पहले है या 'पर' पहले है। किन्तु 'स्व' शब्दके उच्चारमें ही 'पर'की स्वीकृति है। इन दोनोंमें पहले-पीछेका निर्णय बेकार है।

यह स्पष्ट है कि यदि हमें धर्म-जिज्ञासा और कर्त्तव्य-कर्मके दृष्टि-कोणसे बात करनी है, तो 'स्व' की ही परिभाषामें करनी होगी। केवल वैज्ञानिक, अर्थात् भावना और तत्कालसे असम्बद्ध, दृष्टिकोण व्यक्तिकी तुलनामें परिस्थितिको प्रधान दिखा सकता है। उसे अयथार्थ कहनेका भी अभिप्राय मेरा नहीं है। लेकिन कर्मण्यताके विचारसे वह दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है। उस लिहाजसे तो परिस्थितिपर व्यक्तिकी विजयहीकी बात की जायगी। प्रतिभा इसी प्रकारके संघर्ष-फल और विजयका नाम है।

प्रश्न—तब क्या व्यक्तिकी आदर्श-भावना यह हो कि वह शेष सृष्टिके सामने अपनेको न झुकने दे, बल्कि खुद उसे झुकनेको मजबूर करे? तब तो समपर्णापेक्ष प्रेम और मेल-मिलापके

स्थानपर चिरंतन युद्धकी ही संभावना है क्यों कि सभी व्यक्ति एक दूसरेपर विजयी होनेकी कोशिश करेंगे।

उत्तर—आत्माकी रक्षाके अर्थ 'पर'से और परिस्थितिसे युद्ध करते रहनेका नाम ही जीवन है। किन्तु यहाँ 'युद्ध' शब्दसे डरनेकी आवश्यकता इस लिए नहीं है कि आत्मा तो सर्वव्यापी है और एक है। इसलिए अपनी आत्माकी रक्षामें सबके ही सच्चे हितकी रक्षा आ जाती है। ऐसा युद्ध प्रेमका युद्ध होता है। वह किसी व्यक्तिके खिलाफ नहीं होता, बस अप्रेमके खिलाफ होता है। उससे अंतमें हार्दिक ऐक्य ही बढ़ता है।

प्रश्न—आत्मा सर्वव्यापी है, यह उस वक्त कैसे समझा जाय और अनुभव किया जाय, या उसके मुताबिक़ कर्म किया जाय, जब कि यह सब जानते हैं कि सबके पेट और मुँह अलग अलग हैं? ऐसी हालतमें दो ही बात हो सकती हैं कि उस रोटीको जो मेरे और दूसरेके बीच है या तो मैं स्वयं ही खा लूँ और दूसरेको भूखा रक्खूँ, और या उसीको दे दूँ और खुद भूखा रहूँ।

उत्तर—कौन अकेला रोटी खाता है? मैं एक भी ऐसे आदमीको नहीं जानता। कोई भी आदमी ऐसा नहीं है, नहीं हो सकता, जिसके लिए कोई दूसरा ऐसा प्यारा न हो कि जिसे पहले खिलाकर वह खुद पीछे खाना चाहे। मैं पूछूँगा कि ऐसा क्यों है? बाप खुद भूखा रहकर बच्चेको क्यों खिलाता है? चोर चोरी करनेका पाप क्यों उठाता है? खुद दुख उठाकर वह कुनबेको आराम क्यों देना चाहता है? बड़ेसे बड़ा दुष्ट किसी प्रियके लिए सर्वस्व त्याग करनेको उद्यत रहता है, सो क्यों? अपराधी बनना किसीको प्रिय नहीं है, फिर भी कोई अप्रिय काम करता है तो किसके ख़ातिर? मैं दावेसे कहता हूँ कि अपने लिए नहीं, अपनेसे किसी दूसरेके लिए ही वह अपने ऊपर पापका बोझ लेता है। अब पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों है? इसका एक ही जवाब है। वह यह कि पेट तो सबके अलग अलग हैं और वे सबको अलग अलग रखते हैं, लेकिन कुछ ऐसा भी है जो दोको और कईको पास लाता है और उन्हें मिलाता है और जो उन अनेकोंमें स्वयं एक होकर व्याप्त है। जो सब अनेकताको

एक बनाये हुए है, वही परम तत्त्व है आत्मा। हम उसको नहीं भी देख सकें, लेकिन एक कणको, किसी तुच्छातितुच्छ घटनाको भी उठाकर उसे ग़ौरसे देखें तो उसमें भी उस परम तत्वकी आभा मिलेगी। ऐक्य नहीं, तो और किसी भी आधारपर इस जगद्-व्यापारको नहीं समझा जा सकता। आदमी पेट नहीं है, और पेटको सब कुछ मानकर थोड़ी भी उलझन नहीं सुलझ सकेगी। सब अलग अलग मुँहसे खाते हैं, लेकिन उस धरतीमें तो अलहदगीका फर्क नहीं है जिसमें अन्न होता है। क्यों कि अलग मुँह है, इसलिए मनकी एकता संभव नहीं है,—यह कौन-सा न्याय है? क्यों कि अलग पेट हैं, इसलिए सहयोग क्या असंभव ही मान लें?

२२—जीवन-युद्ध और विकास-वाद

प्रश्न—Survival of the fittest **अर्थात् योग्यतम ही जिन्दा रह सकते हैं, इस सिद्धान्तमें क्या आपका विश्वास है? और 'योग्यतम' का आप क्या अर्थ लगाते हैं?**

उत्तर—यह तो मेरे पूछनेकी बात है कि मैं उसे क्या समझूँ? मामूली तौर पर जिस अर्थमें वह शब्द प्रयुक्त किया जाता है, उसमें मुझे कोई महत्त्व नहीं दिखाई देता। आज इस दुनियामें कीड़ा है, चींटी है, हाथी है, आदमी है, मशीन है,—क्या इन सबकी योग्यता (fitness) एक-सी है? मान लीजिए कि आदमी योग्यतम (fittest) है, तब क्या ऐसी दुनियाकी कल्पना की जा सकती है जब आदमी ही आदमी रह जायँगे? हीन समझा जानेवाला कोई भी और प्राणी नहीं रहेगा? अव्वल तो ऐसी कल्पना की नहीं जा सकती, पर अगर यह संभव भी हो, तो वैसी सपाट वैचित्र्य-हीन दुनियाको कौन पसंद करेगा? इसलिए अगर भिन्न योग्यतावाले बहुत तरहके प्राणी आज एक ही साथ इस धरतीपर जी रहे हैं, तो आप ही बताइए कि Survival of the Fittest का मुझे क्या मतलब समझना चाहिए?

प्रश्न—यह तो आप मानते ही हैं कि विभिन्न योग्यतावाले प्राणी जी रहे हैं। क्या आप नहीं देखते कि उनकी योग्यताकी माप भी पारस्परिक संघर्षमें (=struggle में) उनकी टिकनेकी क्षमताके अनुपातके मुताबिक़ हुई है? जिसमें जितनी क्षमता है, उतना ही जीवनमें उसको स्थान प्राप्त है। कम योग्य अपनेसे अधिक योग्यकी अधीनतामें है, यहाँतक कि कहीं कहीं वह केवल साधन-मात्र है। साथ ही ऐसे प्राणी भी हैं जो सर्वथा अक्षम होनेसे घटते और मिटते जा रहे हैं। उस Survival of the fittest **के सिद्धांतको मानते हुए भी वैचित्र्य संभव ही नहीं अनिवार्य भी दिखाया जा सकता है।**

उत्तर—वह तो ठीक है। लेकिन, Survival से क्या मतलब? जब शायद मनुष्यकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब पानीमें मछली थी। वह पानीकी

मछली आज बीसवीं सदीमें भी है। वह इस सारे बीचके कालको Survive करती आ रही है कि नहीं ?

इस पृथिवीके आदिम युगमें कहा जाता है कि बहुत बड़े बड़े जन्तु थे। इतने बड़े कि उनके सामने आजका हाथी तो कोई चीज़ नहीं। वे दुर्दान्त जन्तु बेहद डील-डौलके थे और बहुत शक्ति रखते थे। पर वे आज नहीं हैं। वे इस बीचके कालको survive नहीं कर पाये। अब पानीकी छोटी-सी मछली और उन भीमकाय प्राणियोंमें योग्यताके बलके (=fitnessके) लिहाज़से क्या तुलना की जायगी ?

और मनुष्यकी कहानी लीजिए। वह, जैसा कि प्रकृति-विज्ञान बतलाता है, हर लिहाज़से हीन प्राणी था। डरके मारे खोहमें छिपकर रहता था। बाहर रहता था, तो भयभीत रहता था। देहकी शक्ति उसमें कम थी। भाग-दौड़में वह अन्य बनचरोंकी तुलनामें कहींका न ठहर सकता था। उसकी देह वार सह सकने योग्य सख्त न थी, न दाँत वैसे पैने थे। क्या यह कहना गलत होगा कि इस हीनताके उत्तरमें ही उसमें बुद्धि फलीभूत हुई ? आज वही आदमी बड़ी आसानीसे अपनेको सबसे बड़ा मान सकता है। अपनेसे कई गुने बड़े और ज़बर्दस्त जानवरोंको उसने वशमें कर लिया है। मशीनें ऐसी बना ली हैं कि उनकी वजहसे आदमीकी ताक़तका पूछना ही क्या है !

अतः यह बात विचारणीय हो आती है कि survive करने योग्य योग्यताका (fitnessका) क्या मतलब है ? साधारणतया उसका मतलब दीखनेवाली ताक़त लिया जाता है। लेकिन क्या उसका यह मतलब हो सकता है ? मुझे प्रतीत होता है कि वह मतलब तो एकदम नहीं हो सकता।

तब आपका प्रश्न क्या रह जाता है ?

प्रश्न—जहाँ हम देखते हैं कि भीमकाय प्राणी लुप्त हो गये और छोटे छोटे जीव क़ायम हैं, वहाँ भी दर असल कोई एक ताकत ही विजयी हुई है। वह जिस्मानी ताक़त नहीं वरन् बुद्धि और युक्तिकी ताकत थी। इसलिए बल ही survive करता है, यह सिद्धान्त क्या बदस्तूर वहाँ लागू नहीं होता ?

उत्तर—तो यों कहिए कि बल सत्य नहीं है, बल्कि सत्य बल है। इस तरहसे हम कह सकते हैं कि जो सचाईके अनुकूल नहीं है, वह अबल ही है।

कितना भी ज़बर्दस्त दैहिक बल तनिक मानसिक बलके आगे तुच्छ है, यदि यह बात विकास-धाराको बारीकीसे समझनेसे प्रमाणित हो जाती है, तो दीखनेवाले बलमें विश्वास करना हमारे लिए अनुचित हो जाता है।

'विकास' शब्दसे जो अभिप्राय साधारणतया लिया जाता है, उसमें स्थूल बलपर ही ज्यादा ज़ोर है। अँग्रेजीके शब्द Natural Selection और Survival of the fittest आदिमें कुछ इसी अर्थकी ध्वनि भर गई है। मैं उस अर्थको अयथार्थ मानता हूँ। वह अवैज्ञानिक है।

यह नहीं कि विकासमें अबलताकी जीत होती है। बल्कि मतलब यह है कि उत्तरोत्तर ऊँचे प्रकारका बल, अर्थात् सत्य-बल विजयी होता है और स्थूलतर बल पराजित होता है। जो उच्चतर है, वह सूक्ष्मतर भी है। इस भाँति कहा जा सकता है कि इतिहास-गत विकासद्वारा नैतिक बलको ही पुष्टि मिल रही है और हिंसा-बलकी सत्ता क्षीण पड़ती जा रही है। इतिहासको अगर ठीक ढँगसे पढ़ा जाय तो यही दीखना चाहिए।

प्रश्न—दैहिक बलके विरुद्ध मानसिक बल उत्तरोत्तर प्रबल हो रहा है,—यानी कैसे ही बड़े स्थूल बलधारी प्राणीको एक दुबला पतला जीव अपनी युक्ति और चालाकी आदिसे वशमें कर लेता है।—तो क्या उसके इस बलमें नैतिकताका होना अनिवार्य या सहज संभव कहेंगे?

उत्तर—हिंस्र भावकी जहाँ जितनी कमी है, वहाँ उतनी ही नैतिकता है। जो हिंसासे किंचित् भी बचता है, उसी अंशमें जाने-अनजाने वह नैतिक बन जाता है। आप देखें कि यह शब्द-प्रयोग आपेक्षिक ही हो सकता है। प्रखर सूर्य-तेजके आगे दीपक अँधेरा दीखता है, लेकिन अँधेरेमें तो वही उजाला देता है। इसी भाँति हिंसा-वृत्तिसे शून्य न होते हुए भी मानव नीति-शून्य प्राणी नहीं है। क्यों कि मानवमें कितनी ही हिंसा हो, उस हिंसाके भी जड़में अहिंसा ही है। इसलिए मैं बे-खटके कह सकता हूँ कि दानवी क्रूरतासे चतुर व्यक्तिकी चतुरता, चाहे वह छल-छद्मके संयोगके कारण निन्दनीय ही हो, नीतिके मानमें ऊँची है। तभी तो हम पशुसे पापी आदमीको ऊँचा दर्जा देनेको तैयार हो जाते हैं। मुर्दा आदमी दुष्टताके दोषसे मुक्त है; लेकिन क्या इस कारण वह मुर्दा व्यक्ति एक दुष्ट जीवित व्यक्तिसे ऊँचा है?

प्रश्न—Survive **करनेमें संघर्ष, बल और विजयका भाव अपेक्षित है। और जहाँ स्थूलके विरुद्ध सूक्ष्मको प्रबल देखते हैं, वहाँ बल (=Power) और विजयका (=Controlका) भाव तो वैसा ही बना रहता है, उसे आप किसी तरह भी कम क्यों मान लें ? इसलिए उस स्थूलसे सूक्ष्मकी ओरके विकासको आप हिंस्रतासे अहिंस्रताकी ओर, चाहे वह सापेक्षिक ही सही, कैसे मान रहे हैं ? तब क्या आप मानते हैं कि एक सरल सीधे ग्रामीण मज़दूरसे एक चालाक छली बनिया अधिक नैतिक है ? यदि दो चालाक बनियोंमें ही विरोध हो जाय, तो क्या उनमेंसे अधिक चालाक होकर जीतनेवाले बनियेको आप अधिक नैतिक कहेंगे ?**

उत्तर—आपका Survive शब्द चक्करमें डाल सकता है। पेड़की आयु ज़्यादा है, मनुष्यकी आयु थोड़ी है। कह सकते हैं कि वृक्ष मनुष्यको Survive करता है। लेकिन क्या वृक्षको मनुष्यसे ऊँचा ठहराया जा सकता है ?

आपके दूसरे उदाहरणको थोड़ा और स्थूल बनाकर पकड़ें। समझिए कि पत्थर है और साँप है। पत्थरमें हिंस्र-भावना नहीं है। माना जाता है कि साँपमें हिंस्र भावना है। तो क्या पत्थर नैतिक है और साँप अनैतिक ?

असल और मुख्य बात चैतन्य है। विज्ञानके (अथवा बुद्धिके) आरंभमें ही जो पहला द्वैत उपस्थित होता है वह है जड़ और चेतन। चेतनाको शर्त्तके तौर पर स्वीकार करनेके बाद ही नैतिक अथवा अनैतिकका प्रश्न उठता है। जहाँ चैतन्य ही हीन है, वहाँ नीति अथवा अनीतिकी संभावना भी हीन हो जाती है। जड़ वस्तुमें न नीति है, न अनीति है। क्योंकि वह व्यक्ति नहीं वस्तु है। आपकी कठिनाई यह मालूम होती है कि विकासको जब आप स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर स्वीकार कर सकते हैं, तब उसे आवश्यक रूपमें हिंसासे अहिंसाकी ओर माननेका कारण आप नहीं देखते। यही न ?

स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकास-क्रम है,—यह तो ठीक ही है न ? लेकिन यह कथन मानव-भावनाकी अपेक्षासे उतना नहीं है जितना वस्तुगत और तथ्यात्मक है।

उसी बातको यदि भावना-सापेक्ष बनाकर कहा जावे, तो कहा जायगा कि वह विकास अनैक्यसे ऐक्यकी ओर है। ऐक्य-विस्तार ही है विकासका लक्ष्य।

और किसी रूपमें 'विकास' शब्दके मूलाभिप्रायको व्यक्ति सापेक्ष बनाकर कहा नहीं जा सकता।

'अनैक्यसे ऐक्यकी ओर', इसीका अन्वयार्थ और चरितार्थ बन जाता है: हिंसासे अहिंसाकी ओर।

स्थूलसे सूक्ष्म : यह विकासकी तात्त्विक गति है। हिंसासे अहिंसा : यह विकासकी सामाजिक अथवा मानवीय गति है।

प्रश्न—क्या प्राणि-मात्रकी प्रेम-भावना भी विकासके क्रमसे आबद्ध है? यदि है, तो स्थूलसे सूक्ष्मकी अथवा हिंसासे अहिंसाकी राहमें किस प्रकार कहाँ और कब हम प्रेम विकसित होते देखते हैं?

उत्तर—जहाँ क्रम-क्रमसे खुलनेकी बात है वहाँ आबद्धता कैसे आ सकती है? विकास किसीको बाँध नहीं सकता, विकसित ही कर सकता है। विकास हमपर घटित हो जाता है, इतना ही नहीं, विकास हम घटित करते भी हैं। अर्थात् विकास एक वह क्रिया है, वह धर्म है, जिसमें हम विवेकपूर्वक सक्रिय सहयोगी होनेके लिए हैं।

प्रेमका आरंभ किस ईस्वी अथवा ईस्वी-पूर्व शताब्दीमें है, यह कहना कठिन है। कह सकते हैं कि जहाँ जीव और जड़की पृथक्ता है, वहाँ ही प्रेमकी आवश्यकता है।

आरंभमें, विज्ञान बताता है कि, पृथिवी अग्नि-खंड थी। फिर आग गलकर जम आई, उसने स्थूलता पकड़ी, मट्टी बनी, पानी बना...आदि।

काफी काल बाद पानीमें वनस्पति उगनेमें आ गई। उसके बाद उस वनस्पतिके इर्द गिर्द ही जीव जन्तु बन आये, जो चलते फिरते थे। उसके अनंतर थलचर प्राणी और पक्षी बने। प्रेमको अगर हम दो लगभग समप्रकृति (जैसे नर और मादा) जीवोंके मिलनकी परिभाषामें लेवें तो कहा जा सकता है कि जब लिंगकी उत्पत्ति हुई, वहींसे प्रेम पहचानने योग्य अर्थात् भावनात्मक हुआ। उससे पहले बिना नरकी सहायताके केवल मादासे ही वंश-वृद्धि हो जाती थी। एक ही (जीवाणु) अपनेको गुणानुगुणित करता जाता था। तब ज्यामिति-क्रमसे सृष्टि होती थी। पर उस प्रक्रियाको हम प्रेमका नाम नहीं देते, कुछ और नाम देते हैं।

लेकिन अगर पूछा जाय कि सूरज और धरतीमें क्या सम्बन्ध है? धरती क्यों उसके चारों ओर चकराती है? वह स्वयं किसपर टिकी है? प्रकृतिके उपादानोंमें, जल और थलमें, वायु और आकाशमें क्रिया-प्रतिक्रिया परस्पर क्यों होती रहती

है ? तो इस सबका उत्तर क्या होगा ? उत्तर दे दीजिएगा : कुदरत, कानून, सृष्टि-नियम आदि । शायद विज्ञान कहे : आकर्षण । लेकिन जो एकदम घरेलू शब्द है और जो सुबोध है, मुझे तो वही प्यारा और सच्चा लगता है। वही मुझे हार्दिक उत्तर भी मालूम होता है । और वह है, प्रेम । व्यष्टि और समष्टिकी पृथक्ताको परस्पर सह्य बनानेवाला है प्रेम । उस दुस्सह बिछोहको यत्किंचित् पूर्णतासे और वास्तविकतासे और रससे भर देनेवाला तत्त्व है प्रेम ।

वह प्रेम कहाँसे आरंभ हुआ, यह प्रश्न ही तब कैसा ? वह तो अनादि है । हम सब नहीं हैं, खंड कुल नहीं है । इसलिए प्रेम ही है । खंडका संपूर्णतासे बिछोह प्रेमको अनिवार्य बनाता हैं ।

स्थूलसे सूक्ष्म, हिंसासे अहिंसा,—यह गति प्रेमके घने और व्यापक होते जानेमें स्वयमेव गर्भित हो जाती है । देश और कालकी संकीर्णतासे जो प्रेम जितना अबाधित होता जायगा, वह उतना ही सूक्ष्म और अहिंसक होगा । और जो जितना संकीर्ण होगा, वह उतना ही स्थूल और हिंसायुक्त होगा ।

ऐक्योपलब्धिकी चेष्टामें इस तरह बढ़ते बढ़ते प्रेम एक जगह आवश्यक रूपमें लिंगातीत हो जायगा । वह प्रेम ब्रह्मचर्यमय होगा । ब्रह्मचर्य अप्रेम नहीं है । वह देहातीतका प्रेम है । इसी लिहाज़से सच्चे प्रेमका नाम है अहिंसा । हिंसामें भी मेरी स्थापनाके अनुसार तो प्रेरणाके तौरपर जो तत्त्व काम करता होता है वह भी प्रेम ही है । लेकिन वह विकासशील नहीं है, वह तो मरणशील है और क्षणिक है । विकासशील प्रेम सदा अहिंसोन्मुख होगा ।

२२–प्रतिभा

प्रश्न—मनुष्यकी प्रतिभा बहुमुखी होते हुए भी किसी एक दिशामें विशेषतः प्रवृत्त होती है। क्या उसी एक दिशामें अधिकाधिक विशेषता प्राप्त करनेको विकासका वैज्ञानिक ढंग कहनेमें आपको कोई आपत्ति है ?

उत्तर—विकास वैज्ञानिक होनेके लिए एकांगी होना चाहिए, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता। इष्ट संपूर्णता है। एक दिशाकी विशेषज्ञता कभी, बल्कि अक्सर, सम्पूर्णता-लाभमें बाधा हो जाती है। बड़ा दार्शनिक कच्चा व्यवहारज्ञ होता है। चतुर दुनियादार तनिक अकेलेपनसे घबरा जाता है। इस भाँति एक-देशीय दक्षता व्यक्तिपर बंधन-स्वरूप होती देखी जाती है। प्रतिभा अधिकांश एकांगी होती है। मैं प्रतिभाका क़ायल नहीं हूँ। प्रतिभा द्वन्द्वज है। प्रतिभा नहीं, मुझे साधना चाहिए। 'प्रतिभा' शब्दमें यह गर्भित है कि कोई व्यक्ति जन्मसे प्रतिभा-हीन भी हो सकता है। मैं यह नहीं मानना चाहता। यह तो ईश्वरके प्रति पक्षपातका अभियोग लगाना ही हुआ कि हम मानें कि अमुकको तो प्रतिभावान् पैदा किया गया है और हमें प्रतिभाहीन ही रक्खा गया है। मैं भरोसा साधनामें रखता हूँ। किसीको यह समझनेका मौक़ा नहीं है कि उसका उद्धार असंभव है। 'प्रतिभा' शब्द ऐसी हीन-बुद्धि (Sense of Inferiority) पैदा करनेमें मदद देता है। अभ्यास और साधना दूसरी ओर सबके लिए मानो आशाका द्वार खोलते हैं। साधना सर्वांगीण विकासमें सहायक होती है। मेरे ख़यालमें विकास उसीको कहना चाहिए जो सर्वांगीण है। देहपर पट्ठे खूब उभर आयँ और मन-बुद्धि निस्तेज रह जायँ, अथवा कि नैय्यायिक बुद्धि प्रखर ही रहे और शरीर सदा रोगी बना रहे, तो इन अवस्थाओंको उन्नत अवस्था मुझसे न कहा जायगा। मैं पहलवानको समझदार और पंडितको स्वस्थ देखना चाहता हूँ। निर्बुद्धि पहलवान और रुग्ण-काय विद्वान् विकास-प्राप्त मानवताका सूचक नहीं हैं। पुरुष स्वस्थ और सक्षम और साधारण होना चाहिए। साधारण होकर भी असाधारण। जन्मजात विलक्षण मानव (=Prodigies) विकृतिके लक्षण हैं, संस्कृतिके नहीं। वे प्रकृतिके खिलवाड़ (=Freaks of Nature) हैं,

उसके विकासके प्रमाण नहीं। इतिहासके महापुरुषोंके भी महापुरुष वे समझे गये हैं और समझे जायँगे जिनमें प्रतिभाका चमत्कार उतना नहीं जितना कि अखंड साधनाका प्रकाश प्रकट होता है।

प्रश्न—लेकिन क्या आप न्यूटन, कालिदास और महात्मा बुद्धको उनके अलग अलग व्यक्तित्वमें बड़ा माननेको तैयार हैं? यदि हैं, तो क्यों कर वे सब बड़े होते हुए भी विशेषताओंमें विभक्त हैं? क्या उन विशेषताओंमें हम प्रतिभाहीको विकसित हुआ नहीं कह सकते?

उत्तर—काम चलानेके लिए जिसको आप चाहें उसको मुझे बड़ा माननेमें आपत्ति नहीं है। आज मैं चप्पल सीनेका काम सीखना चाहूँ तो निःसंकोच एक चमार भाईको मैं बड़ा मान लूँगा। उदाहरण यह जरा अतिरंजित है, फिर भी केवल यह दरसानेके लिए है कि यहाँ प्रयोजनवाले बड़ेपनकी बात नहीं है, यहाँ तो उस जीवन-तत्त्वकी शोधका प्रश्न है जिसके अनुसार मानव-नीति और समाज-नीति निर्धारण करना होगा। तब तो यही कहना होगा कि आपके गिनाये गये इन नामोंमें बुद्धके जीवनकी विशेषता ऐसी है कि उसमें कोई रंगीनी न थी। उसमें किसी प्रकारकी प्रखरता न थी। उसका महत्त्व अधिकाधिक नैतिक था और प्रेम उसका स्वरूप था। इससे बुद्धकी विशेषताको मैं ऐसा मानता हूँ जो प्रयोजनके कारण आदरणीय नहीं है, प्रत्युत स्वभावमें ही वह स्पृहणीय है। वह सदा सबको अनुकरणीय हो सकी है। अर्थात् वह सब काल और सब देशके लिए है और किसी विशेष प्रकारके व्यवसाय आदिसे संबंधित नहीं है। कालिदास कवि थे, न्यूटन वैज्ञानिक थे। कवित्व और वैज्ञानिक होनेमें थोड़े-बहुत धन्धेका भी मेल है। उनमें स्वकीय भी कुछ है, जब कि बुद्धमें तो अपना कुछ है ही नहीं, सब समर्पित है। सब सबका है। बुद्ध निःस्व हो रहे, इससे वह मानवताके सर्वस्व हो गये। उनकी प्रतिभा यदि है तो शुद्ध मानवता है। विकासको मैं पूरे तौरपर इसी मानवीय परिभाषामें समझना चाहता हूँ। यदि कोई साहित्य-रसिक न हो तो कालिदासकी विशेषतासे वह अप्रभावित रह सकता है। इसी तरह तत्त्व-ज्ञानकी आरंभिक जानकारी न रखनेवाला न्यूटनके महत्त्वसे अछूता रह सकता है। लेकिन बुद्धसे प्रभावित होनेके लिए तो आदमीका आदमी होना ही काफ़ी है।

प्रश्न—नैतिकता और प्रेमका जो बड़प्पन बुद्धको प्राप्त हुआ,

क्या वह न्यूटनको वैज्ञानिक और कालिदासको कवि कालिदास रहते हुए अलभ्य था? यदि नहीं तो बुद्धकी महानताके मार्गमें न्यूटन और कालिदासके जैसा प्रतिभावान् होना क्योंकर रुकावट है?

उत्तर—इस प्रश्नका तो यह अर्थ हो जाता है कि बुद्ध क्यों कालिदास और न्यूटन नहीं हुए और क्यों कालिदास बुद्ध नहीं बन गये? मैं इसका जवाब नहीं दे सकूँगा। फिर भी, मुझे ऐसा मालूम होता है कि वह व्यक्ति जिसके प्रति जगत् और इतिहास अधिकाधिक ऋणी होगा, कोई ऐसा ही व्यक्ति होगा जो अकिंचन हो। सम्पत्तिकी ओरसे अकिंचन, उसी तरह ज्ञान अथवा कला समझी जानेवाली अन्य विभूतियोंकी ओरसे अकिंचन। वह तो प्रकाशरूप और सेवामय होगा। भीतर आग, बाहर स्नेह। ज्ञानी अथवा लेखक होनेकी फुर्सत उसे होगी ही कहाँ? या अगर ज्ञानी और लेखक वह होगा भी तो इस भाँति कि जैसे राह चलतेकी ये उपाधियाँ हों। वे (तत्त्व-ज्ञान और काव्य-ज्ञान) बिल्कुल उसके आत्म व्यक्तीकरणके साधनके रूपमें होंगे, उसमें समाये हुए होंगे। इस लिहाज़से शायद वह न नामी कवि और न नामी वैज्ञानिक हो सकेगा, क्यों कि वह काव्य और दर्शनका स्रोत ही जो होगा।

प्रश्न—हमारा जीवन दो भिन्न रूपोंमें व्यक्त होता दीखता है। एक पारस्परिक संबंध जो नीतिके अंतर्गत है और दूसरे अन्य कार्य-कलाप जिन्हें उपयोगी अथवा ललितकलाओंके (Useful or Fine Arts के) दाइरेमें रख सकते हैं। नीति एकरूप है और सबके प्रति उसकी एक-सी माँग है। किन्तु कलाएँ विविध-रूप हैं और वह सब रूपोंमें नहीं, किसी एक ही रूपमें किसी एक व्यक्तिके लिए सुलभ हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि पहलेमें प्रतिभाका प्रश्न ही नहीं उठता और दूसरेमें मानवकी सहज मनोवृत्ति और उनके अनुसार अमुकके चुनावका (Selection का) प्रश्न होता है जिसे हम प्रतिभाका नाम दे देते हैं। इस तरह जीवनके नैतिक रूपके साथ साथ मानवकी उस मनोवृत्ति और उसके अनुसार उस विशिष्टांगी चुनावकी प्रवृत्तिको आप क्या उचित नहीं समझते?

उत्तर—किसी कामके चुनावको और उस कामको करनेकी दक्षताको मैं अनुचित क्यों समझूँगा? अगर उसीका नाम प्रतिभा है, तो बहुत अच्छी बात है। लेकिन मैं अपनी बात स्पष्ट कर दूँ। हरेक संभवताके दो पहलू होते हैं

एक अव्यक्त, दूसरा व्यक्त। अव्यक्त भावनात्मक है, व्यक्त कृत्य-रूप है। अव्यक्त कारण, व्यक्त कार्य।

कृत्य-कर्ममें तो भिन्नता और विविधता है ही। उसमें श्रेणियाँ हैं। उसीमें ललित कला और उपयोगी कला आदिके भेद हैं। इसीसे स्वधर्म जुदा-जुदा हैं।

मेरा कहना यह नहीं है कि आदर्श व्यक्ति उपयोगिता, लालित्य अथवा कर्मसे हीन होगा, या वह केवल भावनात्मक ही होगा। वह वैविध्य शून्य होगा, यह भी नहीं। कहनेका आशय यह है कि उसके जीवनका प्रत्येक श्वास और प्रत्येक कर्म जिस भावनासे अनुप्राणित होगा, वह अधिकाधिक आदर्शसे तत्सम होगी। यश, नामवरी, दूसरेको नीचा दिखानेकी वृत्ति, महत्त्वाकांक्षाकी भावना आदि तरह-तरहकी प्रेरणाएँ हो सकती हैं जिनको लेकर व्यक्ति बाहरी किसी अमुक स्थूल कर्मके संपादनमें असाधारण चातुर्य दिखा उठे। वह देखनेमें प्रतिभा जान पड़ेगी, लेकिन मैं उस प्रतिभाका क़ायल नहीं हो पाता हूँ।

प्रश्न—अच्छा कहो या बुरा, लेकिन हम देखते हैं कि कुछ व्यक्तियोंमें कुछ न कुछ असाधारण कर गुजरनेकी शक्ति होती है। और कुछमें इतनी कम कि मुश्किलसे कोई उन्हें जान पाता है। ऐसे दो प्रकारके लोगोंमें जिस वस्तुका अन्तर है, क्या वह कोई वास्तविक (=positive) चीज़ नहीं है? उसे आप क्या नाम देंगे?

उत्तर—उसको मैं नाम दूँगा 'व्यक्तित्वकी एकता'। शक्ति सबमें है और जो शक्तिहीन है, दोषी वह स्वयं है। विधाता दोषी नहीं है।

प्रश्न—व्यक्तित्वकी एकता, शक्ति और प्रतिभा, इन तीनोंमें आप क्या भेद मानते हैं?

उत्तर—यथार्थमें मैं भेद नहीं मानना चाहता। प्रचलित शब्दार्थमें तो भेद है ही। उस भेदके लिए क्या आप चाहते हैं कि मैं परिभाषा बनाकर दूँ?

प्रश्न—व्यक्तिकी एकताको आप स्पृहणीय मानते हैं?

उत्तर—जरूर।

प्रश्न—लेकिन उपर्युक्तके अनुसार जो लोग अस्पृहणीय कार्य करके असाधारण हो जाते हैं, उनमें व्यक्तित्वकी एकताको आप क्यों स्पृहणीय मानेंगे?

उत्तर—असाधारण कार्य करनेके लिए सदा निष्ठाकी आवश्यकता है। वह कार्य यदि अस्पृहणीय है तो इसी कारण कि उसकी निष्ठाके मूलमें ऐक्य भावना

नहीं रही होगी। यों भी कह सकते हैं कि निष्ठाकी परिपूर्णतामें ही कुछ कमी रह गई होगी। तिसपर कार्य कोई अस्पृहणीय हो सकता है, पर निष्ठा तो किसी भी हालतमें अनुचित नहीं कही जा सकती। शक्तिका उपयोग यदि ग़लत किया जाता है, तो वह शक्तिके विरुद्ध प्रमाण नहीं है। बिजली छूनेसे आदमी मर जाता है, तो क्या बिजलीको फाँसीकी सज़ा दी जा सकती है? मेरी मान्यता है कि अपने भीतरकी मन-बुद्धिकी एकता ही उत्तरोत्तर व्यक्तित्वकी शक्तिके रूपमे व्यक्त होती है।

प्रश्न—वह शक्ति जीवनके विभिन्न उपयोगोंमें प्रयुक्त की जा सकती है, लेकिन क्या आप उसके विशिष्ट रूपसे एक ही ओरसे प्रयोग किये जानेके पक्षमें हैं?

उत्तर—प्रयोगका रूप दो बातोंपर आश्रित है: (१) उस अंतरंग शक्तिकी घनता और परिमाण, (२) परिस्थितिकी माँग।

उस प्रयोगमें फिर जो इष्ट और अनिष्टका भेद होता है, वह अधिकांश उसके सामाजिक फलकी दृष्टिसे चीन्हा जाता है। अतः वह आपेक्षिक है। तत्कालका निर्णय कुछ हो सकता है, इतिहासका कुछ और।

प्रश्न—मैं जो जानना चाहता हूँ वह यह है कि व्यक्तित्वकी पूर्णताकी रक्षाका विचार रखते हुए और उधर समाजके हितका भी, क्या वह जिसे हम विशेषज्ञता (Specialization) कहते हैं इष्ट है?

उत्तर—एक हद तक।

जैसे कि कल ही हमें घरमें बीमार बच्चेके लिए डॉक्टरने बताया है कि उसमें कैल्शियमकी कमी है। इलाजके लिए इसलिए ऐसे पथ्य और ओषधिकी तजवीज की गई है, जिसमें कैल्शियमका भाग ज्यादा हो। अनुमान कीजिए कि आजकी भाँति उसके स्वस्थ हो जानेके बाद भी कैल्शियमवाली खूराक जारी रक्खी जाती है। तो क्या यह संभावना नहीं हो सकती कि उससे हितके बजायं अनहित होने लगे?

'विशेषता' (Specialization) में भी ऐसा होता देखा जाता है। आरंभमें तो विशेषतावाला ज्ञान उपयोगी होता है, उससे दृष्टि प्रशस्त होती है। लेकिन फिर वह एक बंधन और परिग्रह होने लगता है। दृष्टिकोण उससे सीमित हो रहता है। याद रखना चाहिए कि जीवन एक प्रवाह है। वह निरन्तर विकास है। मूल्य कहीं भी कोई बँधे हुए नहीं हैं। विशेषज्ञमें अतिवाद आने लगता है और यथावश्यकताकी समझ मंद पड़ जाती है। बुद्धि उसकी जैसे विश्रामके लिए सहारा पा लेती है और वह रुक जाती है।

आदमी समझने लगता है कि उसने पा लिया है, और पाते रहनेका उसका प्रयत्न शिथिल पड़ जाता है। उसकी प्राण-शक्तिकी बेचैनी मूर्च्छित हो जाती है। वह विद्वान् इतना हो जाता है कि शोधक कम रह जाता है,—ऐसा ज्ञानी जो जिज्ञासु नहीं है। अब मानो वह यात्री ही नहीं, रुका-घिरा गृहस्थी है। लेकिन याद रहना चाहिए कि घर कहीं कोई बंद नहीं हो सकता। चला-चली लगी है और पहुँचना दूर है। दीवारें झूठ हैं और एक दिन विस्तृतिका सामना करना ही होगा।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि खास आदमियोंमें खास कार्य कार्य करनेका शुरूसे ही कुछ गुन होता है? क्या यह समाजके हितमें न होगा कि उन उन व्यक्तियोंको वह कार्य ही एकांततः दिया जाय जो उन्हें रुचा है और जिसमें उन्हें रस है?

उत्तर—मानता हूँ। लेकिन 'एकांततः' पर काफ़ीसे ज़्यादा जोर पड़ा कि अनर्थ भी होने लगेगा। आज कल-कारखानोंमें एक छोटी-सी चीज़के तैयार करनेकी प्रक्रियाके विविध अंग विविध कारीगरोंमें बँट जाते हैं। एक श्रेणीके मजूरोंके जिम्मे उसका बहुत थोड़ा-सा अंश आता है। जैसे कि लीजिए, रोज़ काम आनेवाली आलपिनको ही ले लीजिए। हो सकता है कि कुछ लोग पिनोंके ऊपरके सिरोंको बनाते बनाते उस काममें विशेष चतुर हो गये हों। लेकिन तब पिनकी नोकको वे नहीं जानेंगे, उसके बनानेकी कल्पना ही उनमें नहीं होगी। न समूचे पिनसे उन्हें विशेष सरोकार जान पड़ेगा। बस, उनकी निगाह पिनके सिरेंमें ही अटकी रहेगी। बरसों बरस उसी एक कामको करते रहनेका परिणाम यह तो हो सकता है कि वे आलपिनोंके सिरोंके विशेषज्ञ हो जायें, लेकिन इस प्रकार क्या वे उन्नत नागरिक भी हो सकते हैं?

इसीलिए आपके 'एकाततः' शब्दके लिए मेरे मनमें उत्साह नहीं है।

प्रश्न—लेकिन विशेषज्ञताके साथ, जिसे हम उपयोगी मानते हैं, एकांतता न आये, यह कैसे हो सकता है?

उत्तर—अगर नहीं हो सकता तो मुझे विशेषज्ञता हासिल करनेकी ज़िद भी नहीं हो सकती।

लेकिन ऊपर बीमार बच्चे और कैल्शियमकी बात कही। इसी तरह विशेषज्ञताकी भी ज़रूरत रहेगी और विशेषज्ञ भी रहेंगे। उनको अनावश्यक बतानेका मेरा अभिप्राय नहीं है। यहाँ हम जीवनकी परिपूर्णताका तत्त्व जानना चाह रहे थे न? सो विशेज्ञता परिपूर्णता नहीं है, वह तो खंडकी अभिज्ञता है,—यह हमको विस्मरण न करना चाहिए।

प्रश्न—जीवनकी परिपूर्णतासे आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—मैं द्वन्द्व-हीनताको व्यक्तित्वकी एकता मानता हूँ। वैसी एकतामें फिर व्यक्तिकी पूर्णता भी है।

प्रश्न--विशेषज्ञतासे एकांतता आनेका डर आपने बताया है और साथ ही उसे आवश्यक भी। तो क्या आप किसी उदाहरणसे बतलायेंगे कि किस हालतमें विशेषज्ञताकी उस एकांतताके साथ हम जीवनकी परिपूर्णताको हासिल कर सकते हैं ?

उत्तर—एक आदमी वही चाहता है, जिसका अपनेमें अभाव पाता है। स्वप्न अतृप्तिके प्रतीक हैं।

जब तक हममें चाह शेष है, हम अपूर्ण हैं। किंतु चाह जीवनका लक्षण भी है। To aspire is to live। इसका अर्थ यह भी हो जाता है कि जब तक हमारा (व्यक्तिगत) जीवन संभव है, तब तक हम संपूर्ण भी नहीं हैं।

इसलिए विशेषज्ञताके लिए वैयक्तिक और सामूहिक जीवनमें पूरा अवकाश है। फिर भी विशेषज्ञता तो संपूर्णता हो ही नहीं सकती क्योंकि उसके शब्दार्थमें ही गर्भित है कि कुछ है जो ऐसे विशेषज्ञके निकट अ-विशेषता अतः पराया (अज्ञात) भी है। विशेषज्ञता इसलिए ज़रूरी तौरपर परिबद्ध (=Exclusive) भी हो जाती है। इसी भावमें मैंने कहना चाहा है कि विशेषज्ञता संपूर्णताकी राहमें बाधा है।

अभी कमजोर बालकके लिए कैल्शियमकी खूराक देनेका उदाहरण दिया गया है। उस बालकके रोगका जहाँ तक संबंध है, कैल्शियम-युक्त पदार्थोंका विशेषज्ञ उस बालकके लिए सबसे ज़्यादा उपयोगी परामर्शदाता समझा जायगा। बच्चेकी तात्कालिक अवस्थाकी दृष्टिसे वह विशेषज्ञ विश्वका सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो सकता है। पर यह आंशिक दृष्टि ही है। इसी भाँति विशेषज्ञता विभक्त जीवनकी विविधमेंसे एक एक खंडके उपयोगकी दृष्टिसे संभव और उपयोगी बनती है। समग्र और अखंड जीवन-तत्त्वके विचारसे देखें तो वह चीज़, यानी वैसी विशेषज्ञता, उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाती।

मैंने नहीं कहा कि अमुक वस्तुका विशेष ज्ञान शेष वस्तुओंके ज्ञानमें बाधास्वरूप है। लेकिन उस एक वस्तुका ज्ञान सर्वात्म-स्वरूप अखंड-तत्त्वके प्रति व्यक्तिके नातेकी चेतनाको मंद कर दे तो वह हितकारी नहीं है। लौकिक दक्षता और विशेषज्ञता इसी कारण एक स्थलपर जाकर अहितकारी मालूम होने लगती है।

द्वितीय खण्ड

प्रश्नकर्त्ता

श्रीगजानन पोतदार

१–हमारी समस्याएँ और धर्म

प्रश्न—इतने धर्म आदि होते हुए भी आज मानव-समाजमें इतनी विषमता और असंतोष क्यों है? धर्म-प्रवर्त्तकोंका प्रयत्न तो यही था न कि मानव-जातिको सुख शान्ति प्राप्त हो?

उत्तर—यह तो आसानीसे कहा जा सकता है कि धर्म-प्रवर्त्तकोंने जो धर्म चलाया, अनुयायियोंने आचरण तदनुकूल नहीं किया। उन्होंने धर्मको अपने संप्रदायके लिए एक नारा ही मान लिया।

यह जब कि एक कारण कहा जा सकता है तब सच्ची बात तो यह है कि अशांतिका और विषमताका बिल्कुल अंत तो मुक्तिमें ही होनेवाला है। अगर वर्त्तमानसे हमें पूरा संतोष हो तो भविष्यके लिए हम शेष क्यों रहें? इसलिए जब तक काल है, जब तक गति है, तब तक हमारी दुनियामें असंतोषके लिए कारण भी वर्त्तमान हैं। जीवनकी भी और कोई परिभाषा नहीं है, गतिके अर्थमें ही हम उसे समझ सकते हैं। हाँ, उस गतिमें संगति अवश्य है। उसीको विकास कह लीजिए।

प्रश्न—क्या इस उत्तरमें निराशा नहीं है और क्या इससे निराशा-वादका जन्म नहीं हो सकता?

उत्तर—लेकिन मरीचिका (=utopia) और मोह (=Romance) पर आश्रित आशावादिता भी तो कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है। जो उस प्रकारकी आंतिम स्वीकृति, जिसको कि भाग्य अथवा किसी महासत्ताकी स्वीकृति कहनी चाहिए, उसके इंकारपर अपनेको कायम रखती है वह आशावादिता अधिक प्रेरक नहीं हो पाती। वह अन्ततः एक छल साबित होती है।

कौन हममेंसे नहीं जानता कि एक दिन सबको मरना होगा ? यह जानकर भी हम कर्मसे न चूकें, यही तो जीवनकी सार्थकता है। नहीं तो मौतकी तरफ़से अपनेको भुलावेमें रखकर हम जीयेंगे तो अंत समय पछतावा ही हाथ लगेगा और घोर प्रतिक्रिया होगी।

पर हम खुदको इतना महत्त्व क्यों दें कि यह ध्यान करते ही हमारा दिल बैठने-सा लगे कि कभी हम नहीं रहेंगे ! समयका प्रवाह अनन्त है। वह चलता ही रहता है, चलता ही रहेगा। लाखों आये, लाखों गये। उन सबने ही किन्तु अपना जीवन जीया और कर्म किया। समयके अनन्त प्रवाहमें वह कर्म-फल नगण्य-सा चाहे लगे, फिर भी उन सबका जीवन निरर्थक नहीं था। वैसी निरर्थकताका बोध हमें कभी डसनेको आता है ही। पर उस निरर्थकताके बोधसे उद्धार हमें झूठके अथवा छलके बलसे नहीं मिलेगा। श्रद्धाके बल ही हम उससे उबर सकेंगे।

प्रश्न—ऊपर भाग्य अथवा महासत्ताकी बात कही है। ऐसे शब्दोंको मानव-व्यापारके बीच लाकर क्या बहुत कुछ जड़ता और विषमता नहीं फैलाई गई है ?

उत्तर—उन शब्दोंके पीछे जो सचाई इंगित है उससे अपनी चेतनाको तोड़कर अलग कर लेने और फिर उन निर्जीव रह गये हुए शब्दोंका अविवेक-पूर्वक उपयोग करनेसे ही वह दुष्परिणाम होता है।

श्रद्धा कभी भी बुरी चीज़ नहीं है। लेकिन श्रद्धाका लक्षण ही यह है कि वह श्रद्धेय और श्रद्धालुके अंतरको बराबर कम करती है। जो उन्हें उत्तरोत्तर अभिन्न न करे वह श्रद्धा ही नहीं है।

जो अज्ञेय है वह इसी कारण क्या हमसे भिन्न है ? यों क्या हमारे भी भीतर कुछ अज्ञेय नहीं है ? अज्ञेयका आतङ्क मानकर भी यदि हम इसी भाँति उसके समीप आये तो कुछ हर्ज नहीं। हर्ज तो पार्थक्यमें है। चाहे वह पार्थक्य अश्रद्धाका न होकर मात्र उदासीनताका ही हो। इसलिए सत्य सदा सदा अज्ञेय बना रहेगा; यह जानकर भी मैं मानता हूँ कि वह सदा अधिकाधिक जानते रहने और पाते रहनेके लिए है। वह सुप्राप्य नहीं है, इसीलिए तो खोज और भी अटूट होनी चाहिए।

यहाँ 'अज्ञेय'का अर्थ भी स्पष्ट करें। क्या बूँद समुद्रको जान सकती है ? वृक्ष

जंगलको समझ सकता है ? बूँदके लिए समुद्र और वृक्षके लिए वन क्या अनन्त काल तक अज्ञेय नहीं बने रहेंगे ?

यानी बौद्धिक ज्ञान (=Rational Knowledge) दो प्रथक् अस्तित्वोंके बीचमें ही संभव है। ज्ञाता और ज्ञेयके बीचके संबंधका नाम यदि ज्ञान है, तो वही इन दोनोंके बीचके अन्तरका नाम भी है। वृक्षके लिए वन इसीलिए अज्ञेय है कि वे भिन्न सत्ताएँ ही नहीं हैं। इसलिए जहाँ तक जाननेका संबंध है, वहाँ तक वृक्ष लाचार है कि जंगलको न जाने। क्यों कि असल बात तो यह है कि जिस समय वह अपनेको वृक्ष जान रहा है ठीक उसी वक्त वह अपने आपमें जंगल भी तो है, क्योंकि जंगलका भाग है।

इसलिए 'अज्ञेय' शब्दको विज्ञानका तनिक भी बाधक नहीं समझना चाहिए। अज्ञेयको स्वीकार करके विज्ञानकी ही अपनी सार्थकता बढ़ जाती है।

प्रश्न—'अज्ञेय'का अर्थ बतलाते हुए ऊपर वृक्ष और बूँदकी उपमा दी गई है; परन्तु, इन चीज़ोंमें और मनुष्यमें यह अंतर है कि मनुष्यमें विचार-शक्ति है। फिर यह उपमाएँ उसे क्यों कर लागू हो सकती हैं ?

उत्तर—लागू न हों और न होनी चाहिए, इसीलिए ये उपमायें दी गई हैं। मतलब है कि अगर व्यक्ति भी अपनेको महासत्ताका अंश न मान सके तो पानीकी बूँद और जंगलमें खड़े जड़ वृक्षकी भाँति ही वह हुआ न ? मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है, तो इसलिए नहीं कि वह अपनेसे ऊँचा न उठ सके, यानी अपनेको इतना माने कि बड़ी सत्ताको भूल जाय। हमारी बुद्धि हमारा अहंकार है, लेकिन वही बुद्धि यह भी बतलाये बिना नहीं रहती कि अहंकार व्यर्थता है और क्षुद्रता है। उस बुद्धिकी बात नहीं सुनें तो उपमा तो उपमा, हम सचमुचमें जड़ वृक्षकी भाँति समझे जा सकते हैं।

प्रश्न—तो फिर मानव-जातिकी विषमताको दूर करनेके लिए क्या प्रयत्न किये जा सकते हैं और कैसे ?

उत्तर—यहाँ 'विषमता'का मतलब विविधता तो नहीं है न ? अर्थात् जो वैचित्र्य है, भिन्नता है, अनेकता है, वह अपने आपमें समस्या नहीं है। क्योंकि वह कोई बुरी चीज़ नहीं है। दो न हों, तो 'ऐक्य'का अर्थ क्या रह जाय ? बिना

अनेकताके कोई भी सत्ता, कोई भी व्यापार, संभव नहीं है। इसलिए प्रश्न बाहरी स्थूल विषमताको मिटानेका नहीं रह जाता। अथवा यदि वह प्रश्न है भी तो इसलिए है कि वह अंतरंग विषमताका प्रकट फल है और फिर उसीको उत्तेजित करता है।

अब सवाल है कि अन्तरंग विषमता क्या है? वह विषमता है हमारे मनके विकार।

वह विषमता कैसे दूर हो?

वह दूर ऐसे हो कि मैं अपने विकारोंको यथाशक्य अपने काबूमें लाऊँ और दूसरोंको उसीके लिए प्रेरित करूँ।

व्यक्तिगत रूपमें सच्ची बुद्धिसे आरंभ किया गया ऐसा प्रयत्न अकेला नहीं रह सकता है। वह गुणानुगुणित होता जायगा और उसका सामाजिक स्वरूप और सामाजिक प्रभाव हुए बिना न रहेगा।

दुनियाको सुधारनेका मार्ग अपनेको सुधारनेके अलावा और नहीं है।

२—ऐतिहासिक भौतिक-वाद

प्रश्न—ऐतिहासिक भौतिकवादके विषयमें आपके विचार क्या हैं ?

उत्तर—*उसके बारेमें मेरा अध्ययन जितना चाहिए उतना नहीं है । ऐसा* तो मुझको मालूम होता है कि विचार करनेकी उस पद्धतिमें कुछ अधूरापन भी है । जो मेरी उस संबंधमें धारणा बन सकी है, उससे चित्तको समाधान जैसा नहीं मालूम होता । सच बात यह है कि उस शब्दके भावको ही मैं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाता हूँ ।

प्रश्न—क्या यह सच नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति और पर्यायतः समाजको भौतिक लाभ और ऐहिक सुखकी ही सबसे पहले चिन्ता होती है ? और इसी उसूलपर आज-तकका इतिहास बनता आया है । ऐसी दशामें धार्मिक आदर्श-वादको मानव-समाजके प्रत्यक्ष जीवनमें कौन-सा स्थान है ? क्या भौतिक दृष्टिसे ही इसकी ओर देखना अधिक उचित न होगा ?

उत्तर—अगर यह मान भी लिया जाय कि व्यक्ति भौतिक अभिलाषाओंको लेकर चलता है, तो भी यह मैं नहीं स्वीकार कर सकूँगा कि ऐतिहासिक तत्त्वकी कुंजी उन अभिलाषाओंकी भौतिकतामें छिपी हुई है ।

व्यक्ति व्यक्तिगत जीवनमें किन्हीं भी प्रेरणाओंको लेकर जीए, दुःखसे मरे अथवा सुखसे मरे, यह असंदिग्ध है कि उसके जीवन-मरण-द्वारा जातिका अथवा इतिहासका ही कोई उद्देश्य अपनेको पूरा कर रहा है । व्यक्तिकी इच्छाएँ भौतिक दीखती हों सही; पर इतिहासका उद्देश्य भौतिक है यह मानना धृष्टताका काम होगा । विकासवादके अनुसार वनस्पति-जीवन बढ़ते बढ़ते आज मानव-चेतना तक आ गया है तो क्या इसको भौतिक लाभ कहें ? मानवताका विकास क्या उसकी नैतिक संस्कृतिमें ही हमको नहीं दिखाई देता है ? अगर विकासका अभिप्राय सांस्कृतिक है तो फिर आदर्श किसी प्रकार भी अनुपयोगी नहीं ठहरता, क्योंकि संस्कृतिकी प्रेरणा आदर्शानुभूति है ।

इसके बाद मुझे तो इसमें सन्देह है कि सचाईके साथ यह माना जा सकता

है या नहीं कि मानव-व्यक्ति भौतिक तृष्णाओंपर ही चलता है। माँ बेटेको क्यों पालती है? मित्र मित्रको मित्र क्यों मानता है? शहीद क्यों शहीद हो जाता है? उत्सर्ग और त्यागके उदाहरण क्यों देखनेमें आते हैं? मैं और आप क्यों एक दूसरेसे इस समय झगड़ नहीं रहे हैं? आदि आदि बहुतसे ऐसे प्रश्न हैं जो मेरे लिए यह मौका नहीं छोड़ते कि मैं भौतिकताको जीवनकी पहली और अन्तिम प्रेरणा मान लूँ। बल्कि प्रति-क्षण मुझको यह मालूम होता है कि मनुष्य और मनुष्य-समाज जाने-अनजाने अनिवार्यतया भौतिकताके काबूसे ऊँचा उठता जाता है और वह जितना ही ऊँचाउठता है उतना ही अपनी मनुष्यताको सार्थक करता है। पशुताका कानून ही जिसके लिए कानून है, वह मनुष्य भी कैसा है? वह निरा पशु है और निरा पशु कोई मनुष्य हो नहीं सकता।

मानव-समाजकी समस्याओंको भौतिक आधारपर समझना और खोलना मेरे खयालमें इसी हेतुसे अपर्याप्त समझा जा सकता है कि मनुष्य केवल भौतिक नहीं हैं। उसमें आत्मा भी है। उसमें प्रेम देने और प्रेम पानेकी माँग भी है। वह विचार-धारा, जो मानवताके उस मूल गुणको बिना ध्यानमें लाये मानव-दुःखोंका निपटारा करना चाहती है, केवल अपनेको भुलावा दे रही है।

मानव भौतिकतामें बंद नहीं है, इससे उसकी समस्याएँ भी भौतिक बुद्धि-द्वारा नहीं खुलेंगीं। वह केवल विज्ञानसे नहीं खुलेंगीं,—उस विज्ञानमें सच्चे जीवनका योग भी देना होगा।—सच्चा जीवन यानी निःस्व समर्पणका जीवन।

प्रश्न—'पशुताके कानून'से आपका क्या मतलब है? उसमें और मनुष्यके कानूनमें मूल अन्तर क्या है?

उत्तर—यों तो पशु और मनुष्यमें बहुत अंतर नहीं है; फिर भी जो अन्तर है वह एक बातको स्पष्ट कर देता है। वह बात यह कि पशु अपने समूह-गत व्यक्तित्वको नहीं समझता दीखता। मनुष्य अपने साथ-साथ परिवारको, जातिको, समाजको भी मानता है। इस लिए पशु-बर्तावकी नीतिको 'पशु-बलकी नीति' कहा जा सकता है। जिसमें ताक़त है वह विजयी होगा, जो कमज़ोर है उसे खा डाला जायगा। वहाँ एकका अपना-पन ही उसके लिए पहला और अंतिम विचारणीय विषय है। मनुष्य ऐसे आचरण नहीं कर सकता, क्योंकि वह लाचार है कि अपनेसे बड़ी किसी सत्ताको माने। इसलिए उसके वर्तनकी नीति

ताकतकी नीति नहीं रहती, वह कुछ और हो जाती है। क्या हम उसको अहिंसा कहें ?

विज्ञानके साथ जो सच्चे जीवनके योगकी बात कही उसका भावार्थ यही अहिंसा यानी प्रेम-भावनाका योग है। पूर्ण अहिंसक पूर्ण मनुष्य है।

प्रश्न—'अहिंसा' शब्दका आज खूब उपयोग किया जा रहा है और इसके अर्थ भी नाना प्रकारके लगाये जा रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि इसके कारण हमारी असली समस्याएँ और उलझी-सी दिखाई देने लगी हैं। इससे आगे, इस शब्दके अर्थका ठीक माप भी समझमें नहीं आता। तो क्यों उस शब्दको बचाकर सादी बोलचालकी भाषासे हम काम न चला लें ? आप ही बताइए उस शब्दसे यहाँ आपका क्या भावार्थ है ?

उत्तर— क्लिष्टता लानेकी इच्छासे वह शब्द प्रयुक्त नहीं किया गया। वह वैसे तो चलते सिक्केकी तरह प्रचलित हो गया दिखता है। उसमें कठिनाई कहाँ है ? लेकिन हाँ, लोग उससे अलग अलग भाव लेते हैं। भाववाचक सभी शब्दोंके साथ ऐसा होता है; पदार्थ-वाचक शब्दोंके साथ ऐसा झगड़ा नहीं उठता। जो वैसे स्थूल पदार्थके बोधक नहीं हैं उन सभी शब्दोंके बारेमें गलतफहमी मिलेगी। इसका उपाय उन शब्दोंका बहिष्कार नहीं है। उपाय यही है कि उन शब्दोंमें कुछ आचरणीय तत्त्व हम देखें और कुछ अपनी अनुभूतिका तथ्य उनमें डाल सकें। वैसा न हो, उन शब्दोंके उच्चारके पीछे कोई वास्तविकता न दीखती हो, तो सुनकर भी ऐसे शब्दको अनसुना कर देना चाहिए। और अनुभूति-हीन शब्द तो अपने मुँहसे निकालना ही नहीं चाहिए।

'अहिंसा' शब्दकी भिन्न लोग भिन्न परिभाषा देते हों तो कोई बाधा नहीं है। बाधा तभी उपस्थित होती है जब ऐसे लोग अपने अर्थोंको लेकर आपसमें झगड़ा मचानेपर तुल जाते हैं।

अहिंसक पुरुष, यानी प्रेमी पुरुष। जो चींटियोंको चीनी खिलाता है और पड़ौसीकी खबर नहीं रखता वह अहिंसक नहीं है। जो अपने सुखको दूसरेके साथ बाँटता है और दूसरेके दुखको स्वयं बाँट लेना चाहता है, अहिंसक वह है। हिंसा नहीं करता : इसका मतलब है कि प्रेम करता है। कर्महीनता झूठी अहिंसाका लक्षण है। जब कर्म न होगा तब हिंसा ही कहाँसे होगी ? ऐसी

धारणा अहिंसा नहीं निर्जीवता पैदा करती है। जैसे अपनेको मार लेना मुक्त हो जाना नहीं है, वैसे ही कर्मसे बचना हिंसासे बचना नहीं है। अहिंसा तो बाहरी रूप है, भीतर तो उसके प्रेमकी आग जलती रहनी चाहिए। उस आगके तेजसे ही कर्मका बंधन क्षार होता है। और वैसा अहिंसक कर्म अकर्म कहाता है।

प्रश्न—आजकी स्थितिको देखते हुए क्या आपको यह आशा करनेके लिए गुंजाइश दिखाई देती है कि यह अहिंसक वृत्ति मानव-जातिके जीवनमें इतनी काफ़ी बढ़ जायगी कि उससे हमारी समस्याएँ सुलझ सकें ?

उत्तर—आशा न करनेका हक ही मैं अपना नहीं मानता। निराशा मुझे नहीं। लेकिन आशा-निराशाका प्रश्न ही कहाँ उठता है जब कि मेरा विश्वास है कि अहिंसक वृत्तिसे ही मानवताका काम चलेगा ? क्या मैं यह मान लूँ कि मानव-जाति एक रोज मर-मिट कर समाप्त होगी और पशुता ही खुल खेलनेको रह जायगी ? ऐसा मैं कभी, कभी, कभी नहीं मान सकता। लेकिन अतिशय आशाकी अधीरता ही क्यों ? मैं तो मानता हूँ कि व्यक्तिगत हिंसा अब बहुत ही कम हो गई है, यानी वह लोगोंकी तबीयतसे अधिकाधिक हटती जाती है। हाँ, सरकारी हिंसाका अभी भी फैशन है। राष्ट्र लड़ते हुए शरमाते नहीं बल्कि गर्व मानते हैं। लेकिन यह भी क्या अपने आपमें उन्नति नहीं है कि व्यक्तिगत मामलोंमें हिंसा एकदम निकृष्ट समझी जाती है ? कुछ ही पहले इज़्ज़तके नाम-पर विलायतोंमें डयूएल लड़नेका भद्रजनोचित रिवाज था। भारतमें भी आपसी घरेलू मामलोंमें इज्जतके नामपर भयंकर तनाजे छिड़ जाया करते थे। ऐसी बातें अब पुरानी लगती हैं। क्यों न आशा की जाय कि एक दिन सरकारी हिंसा भी अन-फैशनेबिल हो जायगी ? आज तो बेशक वैसा नहीं दीखता। पर एक प्रचंड महायुद्ध क्या दुनियाकी आँखोंको इस सचाईकी तरफ खोल देनेके लिए काफी नहीं होगा ? मैं तो मानता हूँ कि अगामी महायुद्धका यही काम होगा।

प्रश्न—इस उत्तरमें आपने अहिंसाके केवल एक पहलू तक, यानी शारीरिक हिंसातक, ही अपना उत्तर सीमित रखा है। मेरे प्रश्नका तात्पर्य कुछ और भी है। मैं अहिंसाके उन सब पहलुओंके विषयमें उत्तर चाहता हूँ जिनका आप अहिंसाकी व्याख्यामें समावेश करते हैं।

उत्तर—यह तो बहुत बड़ा सवाल है और जितना यह बड़ा है उतना ही छोटा उसका उत्तर होना उचित है। मैं यों कहूँगा—

संपूर्णताको परमात्मा कहो। उसका अज्ञेय भाग सत्य है। प्राप्त सत्य अहिंसा है। मानव चूँकि अपूर्ण है, इससे उसका सामाजिक धर्म अहिंसा ही है।

ऊपरके शब्दोंमें अहिंसा-सम्बंधी मेरी पूरी स्थिति आ जाती है। पर क्यों कि अहिंसा बड़ी चीज़ है, इससे छोटी बातोंमें हमें ओझल हो जानेकी आवश्यकता नहीं है। हिंसा रोकना है तो उसके स्थूल रूपसे ही आरंभ करना होगा। और यहाँ अहिंसा-धर्मका प्रतिपादन भी तो अभिप्राय नहीं है।

प्रश्न—तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव-समाजकी विषमता तथा उसके असंतोषको यथासंभव कम करनेका एक मात्र उपाय अहिंसक वृत्ति है। जब तक यह न हो तब तक अन्य कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। यही न ?

उत्तर—बेशक मैं इसे स्वीकार करता हूँ।

३—औद्योगिक विकास : मजूर और मालिक

प्रश्न—वर्त्तमान औद्योगिक विकास और उसके साथ पैदा होने-वाली श्रेणी-युद्ध आदि अहिंसा-विरोधी भावनाओंकी बादको देखते हुए तो आज यह उम्मीद नहीं दिखाई देती कि मानव-समाजमें अहिंसा-वृत्ति स्थिर हो सकेगी। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस वृत्तिके सिवा मानव-समाजको शान्ति या सुख नहीं मिल सकता। तो फिर, अहिंसा-वृत्ति और औद्योगिक विकासका मेल किस प्रकार जम सकता है?

उत्तर—नहीं जम सकता है और इसलिए वर्त्तमान औद्योगिक विकासको ही अपनी शक्ल बदलनी पड़ेगी, क्योंकि यह तो मैं असंभव मानता हूँ कि हिंसा आदमीका स्वभाव बन जाय। वह औद्योगिक विकास, जिसमें कि परस्परकी स्पर्धाके कारण बल आता है, मानवताको सुख-चैनकी ओर नहीं ले जा सकता। इससे एक जाति अथवा एक देश समृद्ध होता भले ही दीखे, पर उसी जाति या उसी देशको थोड़े दिनों बाद यह पता चले बिना न रहेगा कि उस समृद्धिमें उसका विनाश भी है। साम्राज्य-विस्तार, जब तक वह विस्तार होता रहे, अच्छा लगता है; लेकिन वही साम्राज्य एक रोज़ बोझ हो आयगा, यह निश्चय है। जिसमें माल तैयार करनेवालेको उसकी खपतके लिए मंडियाँ खोजनी पड़ती हैं, अर्थात् जहाँ उत्पादन उत्पादनके निमित्त, अथवा दूसरे शब्दोंमें पूँजीके हितमें किया जाता है, ऐसा औद्योगिक विकास विनाश भी है। क्यों कि, जो लोग ऐसे औद्योगिक विकासमें अग्रसर होते हैं वे किसी दूसरे देशोंके लोगोंको प्रमादी और परावलंबी भी बनाये रखते हैं। 'माल तो तैयार होते रहना ही चाहिए, क्यों कि मशीनमें पैसा जो खर्च हुआ है।—चाहे उस मालकी अब जरूरत हो या न हो, मशीनमें लगी पूँजीका पूरा मुनाफा वसूल होना ही चाहिए।' इस नीतिका परिणाम यह होता है कि कृत्रिम साधनोंसे उस मालकी माँग पैदा की जाती है और फैलाई जाती है। फलस्वरूप देखनेमें आता है कि जीवनकी जरूरी आवश्यकताएँ अधूरी रह गई हैं, फिर भी, बाजार आसाइशकी अनावश्यक चीज़ोंसे पटा पड़ा है। जिसको अँग्रेजीमें 'लक्ज़रीज़' कहते हैं, यानी

मौज विलासकी चीज़ें, उनकी ओर जबरदस्ती रुचि पैदा की जाती है। तभी तो ऐसे लोग भी होने लगे हैं जिन्हें चाहे खानेको न मिले परंतु जिनका साज-सँवारकी कुछ वस्तुओंके बिना फिर भी काम नहीं चल सकता। तब प्रश्न होगा कि औद्योगिक विकासका उचित रूप क्या हो? मैं समझता हूँ, उद्योगमें अब विकीरण (=Decentralization) शुरू होना चाहिए। इसका मतलब है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनेसे उद्योग आरंभ कर दे; यानी, जहाँ तक मुझसे बने मैं अपनी पार्थिव ज़रूरतोंका बोझ दूरके लोगोंपर न डालूँ। इससे पड़ोसी-प्रेम पैदा होगा और शोषण घटेगा। उद्योगका यह सच्चा विकास है। एक जगह इकट्ठे होकर जो पाँच हज़ार लोग एक जैसा काम करके जितना उत्पादन कर सकते हैं, वे पाँचों हजार आदमी अगर उतना ही श्रम अपनी जगह रहकर करना आरंभ करें तो भी मशीन न होनेपर भी, मैं समझता हूँ, उत्पादन कम नहीं करेंगे। इस तरह उत्पादन, कुछ बढ़ ही जायगा कमेगा नहीं। और अगर तौलमें वह उत्पादन कुछ कम भी हो, तो भी समाजका सुख-चैन तो उससे बढ़ेगा। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि मज़दूर स्वाधीन भावसे उद्यमी होकर मज़दूर नहीं रहता, यानी वैसे अपनी बुद्धिका विकास भी करता है। साथ ही उसके परिवारके छोटे-बड़े सभी सदस्य उसके काममें हाथ बँटा सकते हैं,—उत्पादनमें भी और उद्योगके विकासमें भी उसके सहायक हो सकते हैं। उनकी उत्पादन-शक्ति अन्यथा बेकार जाती है।

प्रश्न यह जरूर है कि क्या मज़दूर अपने घरपर करनेके लिए कुछ काम पा भी सकता है? वर्त्तमान परिस्थिति बेशक उलझी और पेचीदा है। आज तो उद्यमसे न घबरानेवाला आदमी भी अपने गाँवको उजाड़ कर मिलमें मजूर बननेको लाचार होता है। किन्तु इसका मतलब यही है कि रोग गहरा है और उपाय भी तीखा होगा।

सच्चे औद्योगिक विकासारंभका उपाय यही है कि हम जीवनकी स्थूल आवश्यकताओंके बारेमें अधिकाधिक स्वावलम्बी बननेकी कोशिश करें। घरेलू और देहातके उद्योगोंको, जो अब लुप्त-प्राय होते जा रहे हैं, बल पहुँचाएँ और उन उद्योगोंको संगठित करें। यानी शहरसे तोड़कर गाँवकी ओर हम अपनेको ले जायँ। इसका यह मतलब नहीं कि गाँवमें शहरियतको ले जायँ। नहीं, शहरीपनको एकदम शहरमें ही छोड़ दें और देहाती बनकर देहातमें ही अपना समूचा जीवन मिला दें। मैं नहीं मानता कि देहातमें सांस्कृतिक वृत्तियाँ भूखी

रहेंगी। हाँ, सांस्कृतिकताके नामपर जो आडम्बर रच डाला गया है, और जिसको अपने चारों ओर बटोरे रखना संस्कारिताका लक्षण मान लिया गया है, उसका सुभीता बेशक देहातमें नहीं है। लेकिन यह तो अच्छी ही बात है कि देहातमें जाकर वैसे इज्ज़तके साज-बाजसे सहज छुट्टी मिल जाती है।

संक्षेपमें व्यवयास और अर्थके क्षेत्रमें विकीरणकी नीति (=Industrial and Economic Decentralization) और संस्कृतिके आधारपर केन्द्रीकरणकी नीति(=Cultural Centralization)व्यवहारमें आनी चाहिए।

प्रश्न—आपने सांस्कृतिक एकत्रता (=Cultural Centralization) और आर्थिक स्वावलंबनकी (=Economic Decentralization की) बात कही, वह वस्तुतः आवश्यक होते हुए भी, किसी एकाधिपतिके अनुशासनके (=Totalitarian State के) सिवा असंभव जान पड़ती है। यानी ऐसी स्थिति हिंसाके बलपर ही लाई जा सकती है। अगर अहिंसाके सिद्धांतपर स्थिर रहा जाय तो यह स्थिति कभी न आयगी।

उत्तर—आर्थिक स्वावलंब-विस्तार (=Progressive Economic Decentralization) और एकतंत्रशाही (=डिक्टेटरशिप) ये दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं। डिक्टेटरशिपके माने ही है एक केन्द्रमें सिमटी हुई भौतिक ताक़त। अगर आर्थिक दृष्टिसे परिवार अथवा नगर अथवा प्रान्त स्वावलंबी होने लग जावें तो उनमें विवेक-संगत स्वाभिमान भी जग जायगा। और ऐसी अवस्थामें कोई उनके ऊपर डिक्टेटरी सत्ता तो असंभव ही हो जाती है। हाँ, केन्द्र एक ऐसा तो होना ही चाहिए जहाँसे तमाम देशको ऐक्य प्राप्त हो : जैसे शरीरमें हृदय। उसीको सांस्कृतिक एकताका आधार (=cultural centralization) कहा।

वह अवस्था, जब कि आर्थिक और पार्थिव दृष्टिसे व्यक्तिमात्र पराधीनतासे छूट जाय और स्वाधीनचेता हो जाय, लाना आसान नहीं है। पर इष्ट वही है। और उसको संभव बनानेके मार्गमें संस्थागत शासनाधिकारोंसे भी लाभ ले लेना होगा। जिसको कहते हैं 'लेजिस्लेचर्स' यानी कौंसिलें उनका उपयोग भी करना होगा।

और उसमें लेजिस्लेशनको कार्यरूपमें परिणत करनेके लिए विद्यमान् शासन-

तंत्रसे भी सहायता ली जायगी। किन्तु वह सब किया जाय, उससे पहले कुछ व्यक्तियोंको इस संबंधमें आचरणारूढ़ होकर अपनी सदाशयताको प्रमाणित करना होगा। वे लेखनसे और वाणीसे लोकमतको इस विषयमें चेतायेंगे। लोकमत शनैः शनैः बन चलेगा, तब शासन-तंत्रके उपयोगका समय आयगा। क्यों कि शासन-तंत्र स्वयं अंतमें संगठित लोकमतके हाथकी वस्तु है।

इस प्रक्रियामें खतरा एक वही है: डिक्टेटरशिप। लेकिन अगर नीति-निर्माताओंका ध्यान सच्चे तौरपर आर्थिक आत्म-निर्भरताके उद्देशकी ओर है तब डिक्टेटरशिपकी आशंका एकदम दूर हो जाती है। लेकिन अगर ऐसा नहीं है, आर्थिक केन्द्रीकरण होने दिया जा रहा है और बड़े-बड़े कल कारखानेवाले उद्योगोंका मोह है, तो डिक्टेटरशिप आये बिना नहीं रह सकती। नाम चाहे कुछ हो,—फ़ासिज़्म हो, कम्यूनिज़्म हो, यहाँ तक कि चाहे प्रणाली पार्लेमेण्टेरियन हो, फिर भी वस्तुतः डिक्टेटरशिप ही होगी जो कि आर्थिक केन्द्रीकरणका अंतिम फल होगी। और जहाँ डिक्टेटरशिप है, वहाँ हर घड़ी लड़ाईकी तैयारी है ही।

प्रश्न—तब आप यांत्रिक उद्योगोंके विकास और डिक्टेटरशिपमें क्या अभिन्न संबंध मानते हैं? डिक्टेटरशिपको अगर हम नहीं चाहते तो यान्त्रिक उद्योगोंका, यानी यंत्रोंका, हमें बहिष्कार कर देना चाहिए। इसके सिवा आर्थिक स्वावलम्ब-विस्तार या 'डीसेण्ट्रलाइज़ेशन' कैसे हो सकता है? क्यों कि यांत्रिक उद्योगोंका विकास और 'डिसेण्ट्रलाइजेशन' परस्पर विरोधी है।

उत्तर—यंत्र और यांत्रिक उद्योग अपने आपमें पाप नहीं हैं। हाथसे काममें आनेवाली चीज़ क्या यंत्र नहीं है? चर्खा यंत्र क्यों नहीं है? कुम्हारका चाक भी यंत्र ही है। इस भाँति चर्खे और चाकको उपयोगमें लाना एक प्रकारसे यांत्रिक उद्योग भी ठहरता है।

इसलिए यंत्र, और उद्योगमें यंत्रका उपयोग, यह दोनों निषिद्ध नहीं हैं। निषिद्ध इसलिए नहीं हैं कि दोनों ही मनुष्यकी मनुष्यताके विकासमें सहायक हुए हैं, और हो सकते हैं।

लेकिन यांत्रिक जीवन-नीति जो कि यंत्रके लिए मनुष्यको काममें लाती है, मनुष्यके लिए यंत्रको नहीं, उस नीति और सभ्यताका समर्थन नहीं हो सकेगा।

अब प्रश्न है कि क्या कोई ऐसा माप है जो एक यंत्रको विधायक और

दूसरेको विघातक बतला दे सके ? तो मैं समझता हूँ कि इस प्रश्नका उत्तर यह बन सकता है कि जिसके कारण मानव-संबंध बिगड़ें, जिससे दो व्यक्तियोंके बीच मालिक और मजदूरका संबंध बनता हो, वही निषिद्ध है। एक मालिक हो दूसरा मजदूर हो, यह स्थिति समाजके लिए विषम है और इसमें विस्फोटका बीज है।

कहा जा सकेगा कि उद्योगोंपरसे व्यक्तिगत प्रभुत्वको उठा देनेसे, यानी उनको राष्ट्रगत (nationalize) या समाजगत (=socialize) कर देनेसे तो यह आशंका मिट जाती है। किन्तु ऐसा ऊपरसे होता दीखता हो, फिर भी पूरी तौरसे और असलमें वह विषमता इससे नहीं मिटती। क्यों कि उद्योगोंके राष्ट्रगत (=nationalize) कर देनेपर भी दूसरा कोई मुल्क तो जरूर रहेगा जिसके लोगोंको इस उद्योगका दास बनाया जायगा। जहाँसे कच्चा माल आयगा, और जहाँ पक्का माल खपेगा, इन उद्योगोंके संबंधमें उन देशोंकी स्थिति तो शोषितकी ही होगी न ?

फिर जैसा ऊपर कहा, उद्योगोंके एक जगह केन्द्रित हो जानेसे भौतिक अधिकार केन्द्रित हो जाता है और वैसी केन्द्रित प्रभुताका नाम ही डिक्टेटरशिप है। जहाँ मशीन लोगोंको मज़दूर बनानेके काममें लाई जाती है वहाँ वह किसी दूसरेको मालिक भी बनाती है। सैकड़ों दासोंके पीछे एकाध मालिक होता है। इसीका तर्क-शुद्ध बढ़ा-चढ़ा रूप है कि लाखों-करोड़ों अनुगत हों और एक डिक्टेटर हो। किन्हीं भी दोके बीचमें अगर दासता और प्रभुताका संबंध रहने दिया जाता है, तो उस रोगका उत्कर्ष स्वभावतः डिक्टेटर-शाहीमें सम्पूर्ण होता है। इस अर्थमें कहा जा सकता है कि पूँजीवाद डिक्टेटरशाहीको जन्म देता है।

जहाँ मशीनके उपयोगका परिणाम यह हुआ कि उस मशीनमें लगी पूँजीके मुनाफ़ेकी (returnकी) लगन प्रधान हो गई, वहाँ ही वह मशीन और वह उद्योग दानवी हो गया। क्यों कि तब मशीनके पेट भरनेकी चिन्ता आदमीको खाने लगती है, और तब उस मशीनके पेटको भरनेके लिए आदमियोंके पेटोंको काटना पड़े तो क्या अचरज ?

मशीनमें आकर्षण है, इसलिए मशीन घरमें आई नहीं कि वही घरकी स्वामिनी बन जायगी और घरके लोग उस स्वामिनीके चाकर हो रहेंगे। इस तरहके डरकी आप बात कहते हैं और इसलिए सुझाते हैं कि मशीन-मात्रको

घरमें न घुसने देनेकी बात मुझको कहनी चाहिए। नहीं, मैं वह बात नहीं कह सकता। हाँ, मशीनमें जिसे वैसा आकर्षण है वह उसका त्याग कर दे। लेकिन वैसे आकर्षणकी जरूरत नहीं है, इसलिए उससे घबरानेकी भी ज़रूरत नहीं है। अतः मशीनमात्रमें निषेध-भाव रखनेका मैं समर्थक नहीं हूँ। आखिर क्या मानव-बुद्धि और प्रतिभाका चमत्कार यंत्र-निर्माणमें नहीं दीखता? त्याज्य अहंकार है, मानव-बुद्धिका फल तो त्याज्य नहीं है। अतः जहाँ अहंकार फूला हुआ बैठा है और अपनेको महायंत्रोंसे घेरकर सुरक्षित बनाये हुए है, वहाँ तो निर्भयताके साथ बढ़ना होगा और उस झूठे दर्पको चुनौती दे देनी होगी। पर मानव-मेधाका फल तो अमर है न? उस फलके प्रति हमारी आदर-भावना ही रहेगी।

प्रश्न—आपने कहा कि जिन उद्योगोंमें मज़दूर और मालिकका संबंध आ जाता है, वे निषिद्ध हैं। क्या कुछ उद्योग ऐसे न होंगे जो व्यक्तिगत रूपसे चल ही नहीं सकते, लेकिन जिनका चलना यदि उचित नहीं तो जरूरी तो है ही। उदाहरणार्थ बिजलीका उद्योग। ऐसे उद्योगोंमें तो मालिक-मज़दूरका संबंध जरूर आयगा। अगर यह संबंध निषिद्ध है तो इन उद्योगोंको बंद कैसे किया जाय? और अगर ऐसे उद्योग चलते रहें तो यह निषिद्ध संबंध निभाया कैसे जाय? क्या इस तत्त्वकी उपस्थिति अंतमें घातक न होगी?

उत्तर—इस वक्त अगर सब नहीं तो अधिकतर उद्योग ऐसे हैं जिनमें मालिक-मजदूर-संबंधके बिना काम नहीं चलता। परिस्थितिको देखते हुए यह अनिवार्य मालूम होता है कि वे उद्योग चलें। बेशक कह देने-भरसे वे उद्योग सुधर या गिर नहीं सकते। भी संदिग्ध है कि आज उन सबको एक चोटमें गिराना सम्भव भी हो, तो उचित होगा या नहीं। कपड़ेकी मिलोंको गिरा देनेसे तुरन्त तो यही परिणाम होगा न कि कपड़ेकी कमी पड़ जायगी और अपराध-वृत्तिको उत्तेजना मिलनेकी सम्भावना उससे बढ़ेगी। या विदेशी लोगोंकी आ बनेगी। इसलिए उपाय यह नहीं है कि आदर्शको एक सैद्धान्तिक घोष बनाकर इन्कलाबसे कुछ कमकी बात ही न की जाय। यह अधैर्यका परिचायक होगा। कुछ भी करनेके लिए धीरज रखना जरूरी है।

फिर क्या किया जाय, यह प्रश्न है। तो यह तो किया ही जा सकता है कि

मैं अपने विश्वासोंका अपने जीवनमें पालन करूँ। जो निषिद्ध है उसका निवारण नहीं कर सकता तो उसके साथ असहयोग तो कर ही सकता हूँ। मिथ्याके प्रति असहयोगका मतलब है, जो मैं सत्य मानता हूँ उसके प्रति कटिबद्धता। इससे मैं उद्योगके विकासकी जो दिशा ठीक समझूँ उस ओर बढ़ चलूँ, जिसका यहाँ अर्थ है कि मैं हाथका उद्योग आरम्भ कर दूँ। जब स्वयं ऐसा करूँ तब औरोंको भी उसके लिए प्रेरित करूँ। जिसको सर्वोदय (=Decentralization of Power) कहा जाय, वह कानूनके जोरसे नहीं होनेवाला। वह तो शिक्षा-संस्कारके बलपर धीरे धीरे होगा। सच बात यह है कि श्रद्धा अडिग चाहिए और साथ कर्म-तत्परता भी हो।

४—औद्योगिक विकास : शासन-यंत्र

प्रश्न—क्या राष्ट्रीय अर्थ-तंत्र (=Economic Nationalism) **अनर्गल औद्योगिक विकासके परिणामोंको किसी हदतक कम कर सकता है ?**

उत्तर—राष्ट्राधीन पूंजी-तंत्र या आपके Economic Nationalism में जो भाव आता है वह पूँजीवादके आधारपर बढ़ाये गये औद्योगिक विकासका विरोधी नहीं है। इटली और जर्मनी, यहाँ तक कि आजके रूसकी, या फिर इंग्लैंडकी अथवा अन्य देशोंकी भी, नीतिमें क्या एकानमिक नेशानिलज़्मकी (=Economic Nationalism की) भावना नहीं है ? लेकिन उससे तो कठिनाइयाँ बढ़ती ही दिखाई दे रहीं हैं। इसलिए यह माननेका अवकाश नहीं है कि उस प्रकारकी भावना ऊपर जिस विकीरणकी (=Decentralizationकी) बात कही उसमें मददगार हो सकेगी। बल्कि हालात देखते हुए तो वह बाधा ही है।

प्रश्न—औद्योगिक विकासके साथ ही साथ कलोंका उपयोग कृषिकार्य आदिमें भी किया जाने लगा है। क्या इसे प्रोत्साहन देना उचित होगा ?

उत्तर—कलका उपयोग वहाँ तक ठीक है जहाँ तक किसानको जरूरतसे अधिक उसपर निर्भर नहीं बन जाना पड़ता। लेकिन अगर मशीनका मतलब यह है कि किसान हर किसी छोटे-बड़े कामके मौकेपर एक स्पेशलिस्टकी कृपाका प्रार्थी हो रहता है, तो बुराई है। तब अनायास किसानकी मेहनतसे खेतमें उत्पन्न होनेवाले अन्नका स्वामित्व उनके हाथमें जा रहेगा जो कल कारखानोंके मालिक हैं। वे फिर बड़े स्वार्थोंके प्रतिनिधि होते हैं। परिणाम यह होगा कि अन्न भूखेके पेटके लिए नहीं बल्कि राष्ट्रोंके रागद्वेषकी आगको चेताए रखनेवाले ईंधनके काममें आने लगेगा। बहुत बड़े पैमानेके फार्म मेरे खयालमें तो मानव-संबंधोंको शुद्ध बनानेकी दृष्टिसे आज हिंदुस्तानकी हालतमें उपादेय नहीं हैं। वैसे फार्म बिना खूब चुस्त और जटिल मशीनोंके चल ही नहीं सकते। साथ ही जहाँ ऐसी बेढब

मशीन आई, वहाँ थोड़ी जमीनसे काम भी नहीं चलता। इस तरह, किसीके पास बहुत अधिक जमीन होनेसे उसे आवश्यक रूपमें मशीन सूझती है और जो मशीन पा लेता है उसे बहुत जमीन हथियानेकी सूझेगी। इससे रागद्वेषका चक्कर तीव्र होगा और समाजमें विषमता बढेगी। इसलिये यंत्र भी वैसा ही उपकारी है जिसके चलानेमें किसीको मालिक और किसीको दास न बनना पड़े, अर्थात् जिसे एक आदमी सँभाल सके और एक परिवार जिसका पेट भर सके।

प्रश्न—अगर यंत्रके उपयोगके इस बंधनको मंजूर कर लिया जाय, तो अवश्य ही खेतीमें हमें प्रकृतिकी मेहरबानीपर निर्भर रहना पड़ेगा और हर वर्ष किस्मतको और भगवानको रिझाने या कोसनेके सिवा कोई मार्ग खुला नहीं रहेगा। जब कि हम यह जानते हैं कि यंत्रोंकी सहायतासे हम परिस्थितिपर काफी नियंत्रण रख सकते हैं, तो ऐसी स्थितिमें, हमें या तो प्रकृतिके सहारे नैया छोड़ देनी चाहिए या यंत्रात्मक कृषिसे आनेवाली इन बुराइयोंको मंजूर करना चाहिए। इनमेंसे कौन-सा मार्ग आप श्रेयस्कर समझते हैं?

उत्तर—नहीं, किसानके हाथमें या तो बड़े ट्रैक्टर ही दें, या नहीं तो उसे भाग्यवादी बना दें कि संकट आनेपर वह हाथपर हाथ धरे बैठा रह जाय : ये ही दो मार्ग हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरा मतलब यह नहीं है कि हम सार्वजनिक सहयोगसे कुछ काम कर ही न पायँ। मैं तो यह मानता हूँ कि सार्वजनिक आवश्यकताओंके लिए सार्वजनिक प्रयोग (=measures) होंगे और सम्मिलित भावसे प्रकृतिकी अकृपासे लड़नेके लिए उद्योग भी भरपूर होगा। ऊपर महा यंत्रका जो विरोध है, उसका आशय केवल यह है कि उसे मनुष्य और मनुष्यके बीच बाधा बनकर घुसने न दिया जाय। किसान और किसानके परिश्रमके बीच जब कोई बहुत बड़ा यंत्र आ जाता है, तो वह किसान अपने श्रमका मालिक नहीं रहता, वह लगभग अपने ही परिश्रमका मज़दूर बन जाता है। और ऐसा होते ही नाना प्रकारके शोषणकी संभावनाएँ समाजमें पैदा हो जाती हैं। मेरा आशय है कि श्रमी अपने श्रमका मालिक हो। जो मशीन वह चलाए उसका भी वह मालिक हो। जब मशीन आदमीकी मालिक होने लग जाती है, और अधिकतर महायंत्रोंके व्यक्तिगत प्रयोगमें ऐसी ही स्थिति हो जाती है,— तब मशीन मानवी न होकर दानवी हो जाती है। मैं यह नहीं समझ पाता कि

श्रमी और उसके श्रमके बीच किसी भीमाकृति यंत्रको न लानेसे प्राकृतिक असुविधाओंका मुकाबला करनेकी आदमीकी सामर्थ्य किस तरह कम हो जाती है ? बल्कि इस तरह तो वह सामर्थ्य बढ़ ही जायगी। पानीको स्वच्छ करनेवाली मशीनका कौन विरोध करता है ? ऐसे ही नहरें भी बनाई जायँगी, और भी इस तरहके सार्वजनिक हितके सब काम होंगे जिनमें बड़े यंत्र जरूरी होंगे। किन्तु श्रमीका श्रम उससे न छिन पायगा।

प्रश्न—सार्वजनिक सहयोगकी बात आपने कही। लेकिन इस बातकी सफलतामें मुझे बहुत संदेह है। क्या यह अच्छा न होगा कि ज़मीन हर एक किसानकी हो, जो यंत्र वह स्वयं चला सके और जिनसे उसे लाभ हो सकता है उनका वह उपयोग करे और जो सार्वजनिक हितकी योजनाएँ हों वे सब सरकारद्वारा संचालित की जायँ। इसमें फिर नौकर और मालिकका संबंध आयगा; लेकिन, राज्यका नौकर होना तो बुरी बात नहीं है। और अगर मालिक-नौकरका संबंध अन्य सब क्षेत्रोंसे निकल भी जाय, तो भी राज्यके नौकर तो जरूर ही होंगे। वे तो न निकाले जा सकेंगे ?

उत्तर—स्टेट अपने आपमें तो कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है न ? वह सबकी है और किसीकी नहीं है। इसलिए यह तो आ ही जाता है कि जबतक लोगोंमें सार्वजनिक हितको अपना हित मानने और तदर्थ परस्पर सहयोग भावसे मिलनेकी सहज वृत्ति न हो जाय, तबतक स्टेट नामक संस्थाको वैसा सहयोग संगठित करना होगा। यह बात ठीक है कि सार्वजनिक सेवक राज्यकर्मचारी ही हो सकता है। उससे भी ज़्यादह यह ठीक है कि असलमें प्रत्येक राज्यकर्मचारी प्रजा-सेवक ही है। राज्यका पैसा प्रजाहीका पैसा है। इसलिए स्टेटका नौकर होनेका अर्थ तो, सच पूछा जाय, जनसेवक होना ही है। इसलिए वह ग़लत भी नहीं है। पर ऐसा होता नहीं है, अथवा बहुत कम होता है। राज्यकर्मचारी अपनेको अफ़सरका नौकर और प्रजाका अफ़सर मानते हैं,—जैसे प्रजासे भिन्न भी राज्यकी कोई सत्ता हो ! असलमें तो स्टेट, जो शासन सबके अंदर होना चाहिए किन्तु नहीं है, उसीका बाहरी रूप है। भीतरका शासन ज्यों ज्यों जागता जायगा, त्यों त्यों ही बाहरका तंत्रीय शासन, यानी स्टेट, व्यर्थ पड़कर निश्शेष होता जायगा।

प्रश्न—राज्यके नौकर होनेमें आप कोई गलती नहीं मानते। अफ़सरी मनोवृत्ति जो नौकरशाहीमें होती है उसीको आप अनुचित मानते हैं। फिर क्या नागरिक शिक्षाका ठीक ठीक प्रचार होनेसे एक राष्ट्रमें ऐसे राज्यके नौकर नहीं बन सकते जो अपनेको जनसेवक मानें ?

उत्तर—क्यों नहीं बन सकते ? ज़रूर बन सकते हैं। और वैसी कोशिश होती रहनी चाहिए।

प्रश्न—फिर राज्यके हाथ सब उद्योगोंका स्वामित्व होनेमें आपको क्या आपत्ति है ?

उत्तर—उसमें ख़राबी यही मुझको दीखती है कि उद्योग केन्द्रित होनेकी ओर झुकेंगे। केंद्रित न हों तो स्टेटके हाथमें उद्योगोंके रहनेका कोई अर्थ ही नहीं है। उद्योग केन्द्रित हो जायँगे तो उनकी उपज और खपतमें फासला बढ़ेगा जिसको भरनेके लिए बिच-भइयोंकी (middle men की) जमात खड़ी होगी। मिडिलमैनका श्रम उत्पादक श्रम नहीं होता; फिर भी, वस्तुके मूल्यपर उस व्यापारीके मुनाफ़ेके हिस्सेका काफ़ी बोझ पड़ता है। साथ ही उत्पादन और खपतमें जब फासला बढ़ने लगता है तब और प्रकारके शोषण भी शुरू होने लगते हैं। मिल-मालिकोंका सार्वजनिक हितसे अलग कुछ विशिष्ट ही स्वार्थ होने लग जाता है। जरूरत-मंदकी जरूरतें पूरी करनेमें नहीं, बल्कि उनको बढ़ानेमें उन्हें अपना स्वार्थ दीखने लगता है। वे जनताका हित नहीं देखते, पूँजीका हित देखते हैं। केंद्रित उद्योगसे मानव और मानवके बीचके शोषणके सम्बन्धको मजबूत ही बनाया जा सकता है। स्टेटके हाथमें उद्योग दे देनेसे यह समस्या कहाँ हल होती है ? तिसपर दुनिया अभी राष्ट्रोंमें विभक्त है। वह समूची एक स्टेट तो है नहीं। इस तरह मशीनसे बहुत माल तैयार करनेवाली स्टेट जरूरी तौरपर उस मालको खपानेके लिए मंडीकी जरूरतमें हो रहेगी। दूसरे शब्दोंमें वह आर्थिक दासता उत्पन्न करेगी। उसे उपनिवेशकी माँग होगी जहाँसे कच्चा माल उन्हें मिले और जिसके सिरपर पक्का माल थोपा जा सके। और यही क्या साम्राज्यशाहीका (=Imperialism का) आरंभ नहीं है ?

प्रश्न—अगर उद्योग स्टेटके हाथमें नहीं, तो वे कुछ इनेगिने पूँजीपतियोंके हाथमें होंगे जो अपने पूँजीके बलपर स्टेटको हमेशा

दबाये रक्खेंगे और राष्ट्रको उनके इशारेपर नाचना होगा। क्या यह स्टेटके हाथमें उद्योगोंके केंद्रीकरणसे भी अधिक जोखिमकी स्थिति नहीं है ?

उत्तर—हाँ, अगर मशीनके मोहको न छोड़ा गया तो ऐसा होगा ही। पूँजीवादका अगला परिणाम है स्टेटवाद। वह समाजवादके (=Socialismके) नामपर हो, कम्यूनवादके नामपर या फ़ासिज़्मके नामपर, स्टेट-वाद आतंकवाद ही है।

आतंक वहाँ अव्यवस्थित और बचावका साधन (=Defensive) न रहकर सिद्धान्तगत एवम् सुव्यवस्थित हो जाता है। स्टेटका देव (=Diety) युद्धकी पूजा माँगता है। उपाय मुझे एक ही मालूम होता है। वह है Economic Decentralization अथवा घरेलू उद्योगोंका उद्धार।

प्रश्न—इच्छासे हो जानेवाली बात तो यह है नहीं। एक ओर श्रद्धा और दूसरी ओर पूँजीकी ताक़त : इस विषम मुकाबलेमें क्या श्रद्धा ठहर सकती है ?

उत्तर—क्यों नहीं ठहर सकती ? पूँजीकी ताकत जब बहुत बड़ी दीखती है तब उस ताक़तकी कमजोरी भी सामने आ जाती रही है। आज क्या दुनिया समस्याओंसे परेशान नहीं है ? क्या वह युद्धके किनारेपर ही नहीं खड़ी है ? युद्धकी भीषणता किससे छिपी है ? हाँ, यह ठीक है कि चोट खानेसे पहले सबक़ सीख लेना मुश्किल है। टूटनेसे पहले मोह मोहक ही होता है। आज हाथी आदमीके काम आता है। उनमें पहले युद्ध क्या नहीं हुआ होगा और क्या आदमी उस युद्धमें नहीं जीता होगा ? आदमी जिस बलसे हाथीसे जीत सका और हाथी जिस बलके रहते हुए भी हार सका, अंतमें उन्हीं दोनों बलोंका अंतर ही वहाँ भी पल्ली-शिल्पका सहारा होगा। मशीनका अपना ज़ोर ही उसे ध्वंसतक ले जायगा। इसके माने यह नहीं कि केवल विश्वासकी रटसे काम चलनेवाला है। अभिप्राय यही है कि श्रद्धायुक्त स्वल्पारंभ छोटी चीज़ नहीं है। बीज गड़ चलना चाहिए और उसको सिंचन मिलना चाहिए। फिर तो दरख़्तके बड़े होनेमें कोई अचरजकी बात नहीं है। यह आक्षेप कि बीज छोटा है वृक्षकी विशालताको रोक नहीं सकता। इसलिए दूसरेको तो अधिकार भी हो कि वह बीजको छोटा माने, स्वयं बीजको यह अधिकार नहीं है कि वह अपनेको क्षुद्र माने। उसे मुँह दाबकर धरतीमें पैठ

जाना चाहिए, ऊपर ऊपर रहकर तो बिल्कुल संभव है कि वह अपनेको छोटा अनुभव कर उठे, और इसी सोचमें सूख जाय। लेकिन विश्वासपूर्वक अपने आपको गाड़ लेनेपर वह अगर एक दिन नष्ट भी होगा, तो वृक्षके मूलको तो उपजा चुका होगा।

दैत्याकार मशीनके भेदको जो समझता है वह उससे डरता नहीं है। हर मशीनकी एक कल रहती है, वहीं वह कमज़ोर है। जिसने उसको समझा वह मशीनका स्वयं चालक हो जाता है। आकारके लिहाज़से तो मशीन दैत्य है ही, और हज़ारोंको बेलाग पीस डाल सकती है। पर जिन्होंने उसका भेद पकड़ा है उनके आगे वह निरी बेबस हो रहती है। इसलिए मशीनके भेदको पाकर उसके आकारके मोहको छोड़ देना चाहिए।

घरेलू उद्योगमें मशीनके तत्त्वका उपयोग निषिद्ध नहीं है। सिर्फ दैत्याकारताका (=Mass production का) ही विरोध किया जाता है।

प्रश्न—श्रद्धा और पूँजीकी ताक़तके बीचके द्वंद्वको आपने मनुष्य और हाथीके युद्धकी उपमा दी है। तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि मनुष्य हाथीसे हिंसाके बलपर ही जीत पाता है? हाँ, यह हो सकता है कि उसकी हिंसामें कुशलता भी होती है, जो क्या और भी अधिक खतरनाक नहीं कही जानी चाहिए?

उत्तर—हिंसाके बलपर आदमी हाथीसे विजय पा जाता है, यह कहना ठीक नहीं होगा क्यों कि बस चले तो क्या हाथी आदमीको बिना चीरे छोड़ देगा? हिंसाके लिहाज़से हाथीको हीन नहीं कहा जा सकता है। अगर वह कम है तो हिंसाकी शक्तिमें कम नहीं है। मेरे ख़यालमें हाथीकी हार और आदमीकी जीत इसमें है कि हाथीका बल स्थूल है, आदमीका बल वैसा स्थूल नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि मशीनका (अर्थात् पूँजीका) बल स्थूल है। इससे प्रेमके बलके आगे वह हारा ही रखा है। प्रेमके माने हैं सहयोग। घरेलू उद्योग सहयोग-द्वारा बड़ीसे बड़ी मशीनको मात कर सकते हैं। जापानकी औद्योगिक सफलताका एक राज़ यह भी है कि मशीनसे तो उसने काम लिया, लेकिन उसमें घरेलूपनको निबाहा। इससे श्रमकी कीमत (=Labour) वहाँ महँगी नहीं हुई और उस श्रमकी समस्या भी उतनी विषम नहीं हुई। इसीलिए सस्तेपनमें वह सब देशोंको मात कर सका। घरेलू उद्योगमें जिस बलका बीज मैं

देखता हूँ वह यही है। उसमें सबका पारस्परिक संपर्क बना रहता है और बढ़ता है, और परस्परके हित विरोधी न बनकर बहुत कुछ एकत्रित होते जाते हैं। यह बल बृहदाकार मशीनमें (=Large Scale Production में) नहीं है। उससे परस्परका सद्भाव कम होता है और स्पर्धाके बीज बोये जाते हैं। उसमें विनाश (=Disintegration) छिपा हुआ है। मशीनका वह बल भी अबल है, जैसे कि हाथीकी देहका डील ही उसका अबल हो जाता है।

मशीनकी सफलता भी तो तभी दीखती है कि जब सैकड़ों हज़ारों आदमी एकत्रित भावसे वहाँ काम करते हैं। मैं यही कहना चाहता हूँ कि वह हज़ारों आदमियोंका एकत्रित भाव वहाँ सजीव नहीं हो पाता। वे रहते तो पास पास हैं, पर मन उनके आपसमें फटे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे भीतरसे एक दूसरेकी काटमें रहते हैं। मेरा कहना यह है कि मनुष्योंमें वैसी स्थूल एकत्रता हो चाहे न हो, पर उनमें सजीव ऐक्य होना चाहिए। कृत्रिम एकत्रताके बलसे हार्दिक ऐक्यका बल हर लिहाज़से प्रबल दिखलाई देगा, इसमें मुझे रंचमात्र शंका नहीं है। इस भाँति घरेलू उद्योगसे उत्पादनके कम हो जानेकी आशंका भी नहीं रहती। और सच यह है कि व्यर्थ उत्पादन अगर कम हो जाये तो इससे संस्कृति और सभ्यता और ज्ञान-विज्ञानका भला ही होगा। क्यों कि मानवताकी व्यर्थ-उत्पादनके कामसे बची हुई शक्ति ज्ञान और विज्ञानकी साधनामें लगेगी। समस्याएँ हमारी कम होंगीं और मालूमात बढ़ेंगीं।

प्रश्न—अगर केंद्रित थोक उत्पादनको (=Centralised mass production **को) आप त्याज्य मानते हैं तो विज्ञानके लिए क्या अवसर (**=Scope**) रह जाता है?**

उत्तर—विज्ञान पूँजीके जूएसे खुल जानेपर निकम्मा और आवारा हो जायगा, ऐसी आशंका करना विज्ञानका अपमान करना है। आशा करनी चाहिए कि विज्ञान अपनेको इससे ज़्यादह जानता है। वैज्ञानिक अपने योग्य करनेके कामको पूँजीपतियोंसे और डिक्टेटरोंसे पायेंगे नहीं तो वे बेकार रहेंगे, ऐसा समझना मानो वैश्यको ब्राह्मणके ब्रह्मज्ञानका मालिक बना देना है। इस भयका कोई कारण नहीं है। और अगर आज विद्यागुरु ब्राह्मण वैश्यका आश्रित बना हुआ है तो यह स्थिति अप्राकृतिक है। ज्ञान-विज्ञान राष्ट्रोंकी लड़ाईको अधिकाधिक बीभत्स बनानेके अलावा और किसी दूसरे काममें आ

नहीं सकते, यह माना नहीं जा सकता। अभी वे स्वार्थ-साधनके काममें आते हैं, तब वे सत्यकी सेवा और सर्वोदयके लिए युक्त होंगे। मुझे तो मालूम होता है कि सत्यकी ओर मनुष्य-जातिकी प्रगति औद्योगिक समस्याओंके निपटारेपर और भी बंधन-मुक्त होगी और वैज्ञानिकता पूँजीगत व्यवसायकी चेरी न होकर कलाकी भाँति स्वाधीन होगी।

प्रश्न—मेरा मतलब यह था कि वैज्ञानिकोंका यह कर्त्तव्य है कि अपने शोध-कार्यसे वह अधिक लोगोंकी सेवा करें। अर्थात् विज्ञानका उपयोग यदि मानव-जातिको देना है तो उसे स्वयं थोक उत्पादनके (=mass production**के) तरीकेकी ही शरण लेनी होगी। अगर यह न हुआ तो वैज्ञानिक जो कार्य करेंगे उनसे किसीको कोई लाभ न होगा और अंतमें उनके सामने आर्थिक दृष्टिसे संकट आ जानेसे उनका कार्य असंभव हो जायगा। क्या यह एक विषम-चक्र (**=Vicious circle**) ही नहीं है ?**

उत्तर—जिस थोक उत्पादनको (=mass production का) रोकनेकी बात कही वह वही है जिसके निमित्तसे दो समूहों, वर्गों अथवा देशोंमें शोषणका संबंध बनता है। अर्थात् जिसके लिए बाजार पानेका सवाल होता है और फिर तनातनी चल निकलती है। यानी जिन बड़े उद्योगोंका हेतु व्यवसाय है, पूँजीका बढ़ाना है, ऊपरकी बात उन उद्योगोंके अर्थात् व्यवसाय-वादके विरुद्ध है।

कल्पना यह नहीं है कि एक अकेला आदमी ही खुर्दबीन (=microscope) बनाए और वह किसी कारखानेमें न बने। मेरा ख्याल है कि माइक्रोस्कोप इतने बनें कि वह हर छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थाके लिए सुलभ हो जायँ तो अच्छी ही बात होगी। इस तरह ज्ञान-विज्ञानके उपादानोंके उत्पादनपर कोई प्रतिबंध नहीं लगना चाहिए। प्रत्युत उनको तो और प्रोत्साहन ही मिलना चाहिए। उनके थोक उत्पादनकी जरूरत तो और अधिक ही होगी। प्रश्न तो Industrial large scale production अर्थात् व्यावसायिक उद्योगोंका है। उसका तो विस्तृतीकरण (=Decentralization) ही एक उपाय है।

प्रश्न—आप केंद्रहीनताको (Decentralization **को) इसका एक ही उपाय मानते हैं। साथ ही आप यह भी चाहते हैं कि सांस्कृतिक केंद्रीयता भी आवे। मैं इन बातोंको परस्पर विरोधी**

समझता हूँ। क्या यह सच नहीं है कि व्यावसायिक केंद्रीकरणके अभावमें, संस्कृतिकी भी आज जो केंद्रीयताकी ओर प्रवृत्ति है वह भी जाती रहेगी ?

उत्तर—मैं वैसा नहीं समझता। बल्कि उससे उल्टा समझता हूँ। बड़े उद्योगोंके कारण जो एकत्रता आई है, वह बिल्कुल ऊपरी है। एक मिलमें बीस हज़ार आदमी काम करते हैं। क्या हम यह समझें कि उन बीस हज़ारमें आपसमें कोई कौटुंबिक भावकी एकता है ? वैसा नहीं है। बल्कि उनमें परस्पर मत्सर-ईर्ष्या और नोंच-खींचके भाव रहते हैं। और सच्चा प्रेम दो स्वाधीन व्यक्तियोंके बीचमें ही संभव है। जो एक दूसरेके अधीन हैं, उनमें सच्चा सौहार्द नहीं हो पाता। इस तरह यदि हार्दिक सद्भाव यानी सांस्कृतिक एकताको संभव बनाना है तो वह आर्थिक स्वावलंबनके आधारपर ही संभव बनेगी,—आर्थिक स्वावलंबन यानी Economic Decentralization।

मन एक चाहिए, तन तो जुदा जुदा ही रहेंगे। जहाँ देह-सम्पर्ककी कामुकता है वहाँ मनके ऐक्यकी संभावना स्थायी नहीं होती। तनकी पवित्रता तनको पर-स्पर्श-हीन रखनेमें है। मनकी भलाई दूसरोंके मनोंके साथ उसको मिला देनेमें है।

प्रश्न—आपने कहा कि तन जुदा जुदा हों, मन एक चाहिए। लेकिन क्या आर्थिक स्वावलंबनका एक खास परिणाम यह भी न होगा कि हर आदमीके विचार अपने तक ही सीमित रहेंगे ? बड़े बड़े उद्योगोंमें (large scale industries **में) देशके भिन्न भिन्न भागोंमें जो सम्पर्क रहता है और उससे जो सर्वांगीण उन्नति होती है, वह न रहकर लोगोंकी दृष्टि कूपमंडूककी तरह हो जायगी। फिर मन एक कहाँ रहेंगे ? केंद्रका नाश चाहनेमें (** =Decentralization **में) पार्थक्य भावका (** Separatist Tendency **का) बीज भी तो है। क्या हम उसमें भीषण हानि न देखें ?**

उत्तर—बेशक यह खतरा है। हमको उससे आगाह रहना चाहिए। हिन्दुस्तानके इतिहासमें वह ख़तरा और वह हानि काफी साफ नजर आती है। आत्म-शुद्धि और बाह्य अपरिग्रहके सिद्धांतोंका इस प्रकार आचरण किया गया कि व्यक्ति अपनेमें ही गड़ गया और असामाजिक होने लगा।

व्यक्तिगत आचरणमें अति-शुद्धिकी चिन्ता की जाने लगी और छूत-छात तक नौबत आ गई ! उधर तापसी लोग समाज-संपर्कसे दूर वनमें मोक्ष खोजने पहुँचे। यह एकाकीपनके आदर्शका खतरा, किंतु, अगर हमें दूसरी अतिशय इकट्ठे-पनकी गलतीमें डाल दे तो इससे भलाई नहीं होगी। दूसरी ओर हम देखते तो हैं कि इकट्ठा-पन (=Concentration) इतना घना होता जा रहा है कि गाँव उजड़ रहे हैं और शहरमें आबादी इतनी गिचपिच होती जाती है कि उनमेंसे तीन चौथाईको हवा और रोशनी अत्याधुनिक वैज्ञानिकता भी काफी नहीं दे पाती।

व्यावसायिक उद्योगके कारण लोग हठात् एक दूसरेके परिचयमें आये, यहाँ तक तो उसका लाभ ही है। लेकिन जिस भावनासे वे एक दूसरेके पास खिंचे, यानी स्वार्थकी भावना, वह हितकारी नहीं है। सहयोग ठीक है, तनातनी ठीक नहीं है। और जहाँ परस्पर संयोग किसी सांस्कृतिक भावनाको सामने रखकर नहीं होता, वहाँ जल्दी या देरमें वह वैरका कारण हो जाता है।

व्यक्ति अकेला बन जाय, दूसरोंसे सब आदान-प्रदान छोड़ बैठे, यह तनिक भी मेरा अभिप्राय नहीं है। ऐसा करना प्रगतिका तिरस्कार करना होगा। लेकिन तनमें तो व्यक्ति अकेला ही रहेगा, तभी सच्चे मनसे वह मिल सकेगा। इसलिए अपनी आवश्यकताओंके बारेमें वह जितना सूक्ष्म और स्वावलंबी हो उतना ही उसे मौका है कि वह समाजके प्रति अपना अक्षुण्णदान कर सके। अकेलापन या आत्म-निर्भरता परम साध्यके तौरपर अपने आपमें इष्ट नहीं है। इष्ट है तो इसी हेतुसे है कि वह साधना हमें सेवाके अधिक योग्य बनाती है। अंतमें यदि वह दूसरेके साथ सहयोग करने और उसकी सेवा करनेमें काम नहीं आती तो ऐसी हमारी आत्मसाधना आडम्बर ही है।

हम एक दूसरेसे दूर जावें, ऐसी बात नहीं है। पर एक दूसरेके हितको ध्यानमें रखकर परस्पर पास आवें, कहनेका मतलब यही है। व्यावसायिक हेतुमें कल्याण-कामनासे नहीं बल्कि मतलब साधनेके खयालसे एक दूसरेको हम जानते पहचानते हैं। सांस्कृतिक हेतुकी यहीं आवश्यकता है। एक दूसरेको जानने-पहचाननेकी आवश्यकतासे निवृत्त नहीं हो जाना है। वह तो धर्म है। पर प्रयोजन-सापेक्ष मिलन जल्दी दुर्गंधित और मलिन हो जाता है। उस मिलनेमें फटनेके कीटाणु रहते हैं।

प्रश्न—तो आप समाजके बीच परस्पर सम्पर्क अधिकसे अधिक रहना ठीक समझते हैं। मैं भी समझता हूँ कि यह संपर्क अधिकसे अधिक होना चाहिए। यही नहीं प्रत्येक मनुष्यको, यदि सारा संसार संभव न हो, तो, कमसे कम अपने देश या खंडका निरीक्षण करनेका मौका जरूर होना चाहिए। इसके लिए आवागमनके तरीके उसको सुलभ होने चाहिए। यह काफ़ी खर्चेकी बात है। जब बड़े बड़े उद्योग नहीं रह जावेंगे तब तो आवागमन और भी महँगा होगा और आमदनी लोगोंकी कम होगी। तब क्या यह न होगा कि हज़ार इच्छा होनेपर भी संपर्क असंभव हो जायगा और हम जो चाहते हैं उसके ठीक विपरीत परिणाम निकलेगा?

उत्तर—संपर्क व्यापक होना चाहिए, घनिष्ठ भी होना चाहिए। व्यावसायिक हेतुको लेकर अब भी जो लोग इधर उधर काफ़ी घूमते हैं उनका साहस तो खुल जाता हो, लेकिन इससे उनकी सांस्कृतिक पूँजी बढ़ जाती है, यह प्रमाणित होता हुआ नहीं दीखता है। अर्थात् घूमना और विचित्रताओंका निरीक्षण करना उपयोगी है अवश्य, किन्तु वह अनिवार्यतया नैतिकताका साधक नहीं है। जो पिंडमें है वही तो ब्रह्माण्डमें है, इसलिए क्षेत्रकी दृष्टिसे परिमित दायेरेमें रहना सांस्कृतिक दृष्टिसे भी सकुचित बन जाना है, ऐसी बात नहीं है। ईसाके जमानेमें आने-जानेके साधन द्रुत-गामी नहीं थे, और जो होंगे भी वे ईसाको उपलब्ध नहीं थे। ईसाका समूचा जीवन परिमित क्षेत्रमें ही बीता। लेकिन क्या इस कारण उनके जीवनमें अपूर्णता रह सकी? फिर भी घूमना-फिरना मस्तिष्कको विशद करनेमें साधारणतया उपयोगी ही है। उससे सहानुभूति व्यापक होती है और जी खुलता है।

किन्तु व्यावसायिक बृहद् उद्योगोंके अभावमें यातायातके साधन क्यों दुर्लभ हो जाने चाहिए, यह मैं नहीं समझ सका। रेल, मोटर, हवाई जहाज़, समुद्री जहाज़का बनाना निषिद्ध नहीं ठहराया जा रहा है। पर उनके निर्माणकी वर्त्तमान प्रेरणाको बदलनेका आग्रह जरूर किया जा रहा है। वह प्रेरणा व्यावसायिककी जगह सांस्कृतिक होनी चाहिए। वैसा यदि संभव हो, और अगर आज होनेमें आ जावे, तो अन्य (पड़ौसी अथवा विदेशों) राज्योंसे अपनी रक्षा करने अथवा उनपर आक्रमण करनेके लिए सामरिक तैय्यारी रखनेमें जो विपुल मानव शक्ति

व्यय की जा रही है, वह सब बच जायगी। अगर लड़ाकू जहाज कुछ कम हुए, टैंक कम हो गये, तोप-गोले ढालनेवाले कारखाने घट गये, बड़ी बड़ी कपड़ोंकी मिलें कम हो गई, तो इसका यह आशय कभी नहीं बनता कि सफ़री जहाज़, रेल, मोटर आदि भी कम हो जायँगे। बल्कि वैसी अवस्थामें टेलीफोन क्यों न और भी सुलभ हो आवेंगे, और उसी भाँति रेडियो? मानव-सभ्यता और विज्ञानने जो सौन्दर्य और सुविधा प्रस्तुत की है, मानवताके ऐक्यके हितमें उसका तो प्रयोग किया ही जायगा। लेकिन जो विषफल भी उत्पन्न हो गया है, उसको खाकर मरनेका आग्रह नहीं करना चाहिए। आज कठिनाई यही है कि यातायातके (=Communication के) साधन मुख्यतासे सरकारोंके सरकारी हित-साधनके विशेष काममें आते हैं। जनताका हित मानो उनसे रूँगेमें ही निभता है। विपत्ति यही है और इसीको दूर करनेके लिए यह कहा जाता है कि आर्थिक विकीरण (=Decentralization) होना चाहिये जिससे कि व्यावसायिक होड़ा-होड़ी बंद हो और हम परस्पर मिलकर सांस्कृतिक विज्ञानकी बढ़वारी करें।

प्रश्न—उद्योग-व्यवस्थामें ये जो कुछ परिवर्त्तन आप आवश्यक समझते हैं क्या आप उन्हें संभव भी मानते हैं? यदि हाँ, तो किस तरह?

उत्तर—संभव नहीं मानूँ तो मतलब होगा कि केवल आधे दिलसे उन्हें आवश्यक समझता हूँ।

किस तरह? तो उत्तर होगा कि स्वयं प्रारंभ करके। बड़े व्यावसायिक उद्योग टूटें, इसकी सीधी राह यह है कि मैं नैतिक भावनासे कोई भी छोटा-मोटा उद्योग शुरू कर दूँ। मेरी भावना जो कि नैतिक है उस उद्योगको तमाम स्पर्द्धा (=Competition) और अश्रद्धाकी झुलसके बीच सूखने न देगी और दूसरे व्यक्तियोंको भी उधर खींचेगी। फिर संगठन, व्यवस्था, कौशल आदि अन्य सामाजिक गुण हैं जिनको अपनेमें जगाकर समर्थ बनना होगा।

यह आगाही रखनी होगी कि अनीति-बलसे (=Compulsion से) काम तनिक न लिया जाय।

प्रश्न—औद्योगिक विकासका अंतिम तथा आदर्शरूप आप कौन-सा मानते हैं? उस स्थितिमें मानव-समाजकी व्यवस्थामें और आजकी व्यवस्थामें मूलभूत भेद क्या होगा?

उत्तर—मूल भेद यह होगा कि मालिक और मजूरका संबंध टूटकर पूँजी और श्रममें भाईचारेका और सविवेक सहयोगका संबंध हो जायगा। सहयोगपर बड़े उद्योग चलेंगे। उसमें एक कुछ काम करेगा तो दूसरा कुछ और। उनके दायित्वोंमें विभेद होगा तो थोड़ा-बहुत अधिकारोंमें भी अंतर हो जायगा। लेकिन इस सबके होते हुए भी, यानी विषमता होते हुए भी, उनमें सद्भावना अर्थात् समता होगी। देश स्टेटरूप न होकर मानों एक बड़े कुटुम्बका रूप होगा। कुटुम्बमें छोटे-बड़े होते हैं, वैसे ही देशमें भी होनेको छोटे-बड़े हो सकेंगे। कुटुम्बमें क्या छोटे-मोटे मन-मुटाव नहीं होते? वे न हों तो ज़िन्दगी ज़िन्दगी ही नहीं। लेकिन वह आपसमें हल कर लिये जाते हैं। वैसे ही तब उनका साधारण समाधान किसी बाहरी पुलिस और मजिस्ट्रेटकी मददके बिना हो जा सकेगा।

प्रश्न—हम इस ओर आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, इसकी परख क्या हो सकती है?

उत्तर—धर्म-भावना और नैतिक भावनाकी कमती-बढ़ती ही अवनति और उन्नतिकी पहचान समझनी चाहिए। मनमें हमारे कटुता है तो हम उन्नति नहीं कर रहे हैं। उन्नति अहिंसाद्वारा ही संभव है।

प्रश्न—अपने कहा कि देश एक परिवारकी तरह होगा जो प्रेमके उसूलपर चलेगा। ऐसी हालतमें जो उद्योग आदि होंगे, उनका मालिक कौन होगा? स्टेट न होगी तब ऐसा कौनसा तरीका या संगठन होगा जिससे इस परिवारका कारोबार, प्रेमके उसूलपर ही क्यों न हो, सुनियंत्रित किया जा सके?

उत्तर—मालिक कौन होगा? अगर मैं यह कहूँ कि मालिक कोई नहीं होगा, तो क्या आपको इससे यह प्रतीत हो आता है कि तब सुव्यवस्था ही नहीं हो सकेगी? मान लीजिए, आपसमें एक दूसरेसे दूर दूर रहनेवाले कुछ खगोल-विशेषज्ञ विशेषरूपमें टेलिस्कोपमें दिलचस्पी लेते हैं। अब कुछ ऐसे भी व्यावहारिक लोग हैं जो टेलिस्कोपके बनानेमें रसपूर्वक भाग ले सकते हैं। तो मैं यह कह सकता हूँ कि टेलिस्कोप बनानेके वे व्यवहारज्ञ लोग मालिक होंगे, और उस टेलिस्कोपके प्रकारके निर्णय करनेवाले वे वैज्ञानिक लोग भी मालिक होंगे। 'मिल्कियत' और 'मालिकी' यह शब्द आजके दिन किसी क़दर खोटे पड़ गये हैं। नहीं, तो सच पूछा जाय तो मैं क्या अपना भी मालिक हूँ? क्या मैं ईश्वरको

अपना मालिक मानकर स्वयं अपनेको साफ़-सुथरा और ईमानदार नहीं रख सकता हूँ ? अगर मैं ऐसा कर सकता हूँ तो बिना किसी एक विशिष्ट व्यक्ति अथवा संस्थामें (=State में) मालिकीकी भावनाको केन्द्रित किये कारखानोंका काम क्यों सुचारु रूपसे नहीं चल सकेगा, यह समझमें आने योग्य बात नहीं है।

घरका बजुर्ग क्या अपने घरके भाई-बहिन, बेटे-बेटी, नाती-बहू सबका स्वत्वाधिकारी 'मालिक' कहा जा सकता है ? उस अर्थमें वह मालिक नहीं है। और जिस अर्थमें वह प्रमुख है उस अर्थमें वैसे प्रमुख तो हर समय हर समुदायमें हो ही जावेंगे। उनके लिए, उनके बनाने-मिटानेके लिए, किसी विधान-विशेषकी आवश्यकता अनिवार्य तभी तक है जब तक आपसी सद्भावकी बहुत कमी है।

प्रश्न—आज जो भौगोलिक आधारपर संसारका विभक्तीकरण किया गया है क्या वह इस दशामें नहीं रहेगा, यह आप गृहीत-सा मानते हैं ?

उत्तर—जब मानवता उस तल तक उठ जायगी तब तो प्रतीत होता है कि सचमुच राष्ट्र और राष्ट्रमें इतना भेद, कि पासपोर्ट जरूरी हो, नहीं रहेगा। नाम-रूप राष्ट्र तो रह ही सकते हैं। जैसे मेरे और आपके अलग अलग नाम हैं और उन नामोंके अलग अलग होनेसे सुभीता ही होता है, उन नामोंकी पृथक्ताके कारण सहसा लड़ाई नहीं हो जाती, वैसे ही हिन्दुस्तान और इंग्लिस्तान ये दोनों भी क्यों न रह सकेंगे ? पर दोनों एक बृहत् परिवारके सदस्य होंगे, हाकिम-महकूम नहीं होंगे।

प्रश्न—जो चित्र आप देख रहे हैं वैसा ही कुछ चित्र साम्यवादी भी अंतमें मानव-जातिका देखते हैं। तो क्या आपको मैं साम्यवादी (=Marxist) कह सकता हूँ ?

उत्तर—अगर वह ऐसा ही चित्र है तो मेरे लिए यह खुशीकी बात है। और अगर साम्यवादी मुझे अपनोंमेंका एक समझने लगें तो मुझे आपत्ति न होगी। लेकिन क्या आप कहते हैं कि वैसा है ?

प्रश्न—अंतिम स्थिति तो प्रायः वैसी ही है परन्तु आपके और उनके मार्ग बिल्कुल उल्टे हैं। इसका कारण यही है कि आपके मानव-

समाजके भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी ओर देखनेके दृष्टिकोण विरोधी हैं।

उत्तर—तो इसके लिए मैं क्या कहूँ ?

प्रश्न—यही कि मत-भेद होते हुए दोनोंके सहयोगसे कार्य करनेका कोई तरीका खोजें। क्या ऐसी भी कोई बातें हैं जिनसे यह भी असंभव हो ?

उत्तर—मेरे ख़यालमें दो सच्चे आदमियोंमें मत-भेद कितने ही हों, फिर भी मेल और सहयोग संभव है। यदि वह मेल संभव नहीं है तो उनकी सचाईमें विकार है।

विचार-भेद तो अलग अलग बुद्धि रखनेके कारण थोड़ा-बहुत अनिवार्य ही है। पर दो व्यक्ति सच्चे हैं, इसका मतलब ही यह है कि सचाईकी आवश्यकताके विषयमें वे दोनों एकमत हैं, व्यावहारिक सचाई एक है। वह अटूट है, निरपवाद है। वही अहिंसा है।

साम्यवाद, और भी ठीक कहें तो समाजवाद, श्रेणी-विग्रहको बढ़ाना चाहता है। उसीमें वह दलित और शोषितका त्राण देखता है।

लेकिन श्रेणी-विग्रहको बढ़ाना अहिंसाके व्रतको कबूल नहीं हो सकता। शोषित वर्ग इससे जाहिरा प्रबल और मुक्त होता भी दीखे, लेकिन उस पद्धतिसे शोषण बंद नहीं होगा। श्रेणी और श्रेणीके बीच शोषणकी संभावना रहे ही चली जायगी।

मूल भेद यही मालूम होता है।

प्रश्न—श्रेणी-विग्रहको बढ़ानेकी बात यदि फिलहाल छोड़ दी जाय तो क्या आप यह मानते हैं कि वर्त्तमान औद्योगिक पद्धतिमें ऐसी श्रेणियाँ बन गई हैं जिनके हित परस्पर विरोधी हैं ?

उत्तर—मैं उनको श्रेणियाँ नहीं कहना चाहूँगा। स्वार्थोंमें संघर्ष और विरोध है ही। कारण स्पष्ट यह कि वे 'स्वार्थ' हैं। लेकिन धनिककी श्रेणी कोई एक है और निर्धनकी श्रेणी कोई दूसरी है, जिनकी कि प्रकृतियाँ ही दो और भिन्न होती हैं, ऐसा मुझे नहीं मालूम होता है। आदमी आदमी ही है। निर्धन धनी होता है, धनी निर्धन हो जाता है; और दोनों स्थितियोंमें उसके भीतरी व्यक्तित्वका अंदाज़ (=Contents) वही रहता है। पैसेका माप पूरे आदमीको नहीं माप सकता।

प्रश्न—अगर ऐसा है तो धनिक लोग निर्धनोंसे प्रेमका व्यवहार

क्यों नहीं करते ? साधारणतः तो यह देखा जाता है कि धनिक होते ही साधारण व्यक्तिका रुख भी बदल जाता है। वह निर्धनको नीची निगाहसे देखने लगता है। क्या यह सच नहीं है कि आज मनुष्यका मूल्य उसके धनसे ही आँका जाता है ? ऐसा क्यों ?

उत्तर—आज यह बहुत कुछ सच और संभव बना डाला गया है। आजकल आदमीकी कीमत पैसेके तोलमें ही की जाती है। इसी कारण ऐसा है कि धनवान् निर्धनको हीन समझता है और निर्धन भी अपनेको नीचा मानने लग जाता है। लेकिन आज जो निर्धन है वह कभी धनवान् बन जाय तो वह भी उसी तरह व्यवहार करने लगेगा। आदमीमें अहंकारका बीज है ही। वह धनका, कुलका, पढाई-लिखाईका सहारा पाकर फूल आता है। ऐसे भी आदमी देखनेमें आये हैं जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, लेकिन जिन्हें आत्म विश्वास है और जो दबंग हैं। इसी तरह सम्पत्तिवाले लोगोंमें भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं हैं जिनमें रीढ है ही नहीं और जो व्यवहारमें निम्न दीखते हैं। इसलिए संसारमें एक दूसरेके स्वार्थोंका निरन्तर संघर्ष मानते हुए भी मानवतामें कोई निश्चित श्रेणियाँ मानना कठिन होता है। मानें भी तो गुण और वृत्तिकी अपेक्षा उन श्रेणियोंको मानना समुचित मालूम होता है, अर्थकी अपेक्षा नहीं। जैसे हिन्दू संस्कृतिका चातुर्वर्ण्य। यों तो मानवता एक और इकट्ठी नहीं दीखनेमें आती, उसमें विभाग और छोटे-बड़े संप्रदाय-समुदाय देखे ही जाते हैं। अनेकानेक बातें हैं जो उन्हें उस तरह विभक्त करती हैं। समाजवादकी श्रेणियों संबंधी धारणाका अभिप्राय यह है कि आर्थिक विभाजन ही एक और मूल विभाजन है। मुझे वैसा नहीं दीखता। अन्य अनेक तत्त्व हैं जो समुदायोंको बनाते हैं और उनको अलग करते हैं। फिर विभाजनकी प्रवृत्ति मूलतः अहंकारमेंसे आती है। वह अहंकार अपनेको नाना निमित्तोंसे व्यक्त करता है। वैश्य युगमें (औद्योगिक या industrialized युगमें) पैसेको अधिक महत्त्व मिल जानेके कारण पैसा मानवीय अहं-बुद्धि और स्पर्धाका प्रतीक-सा बना दीखता है। इसको रोकनेका उपाय है अपने व्यावहारिक जीवनमें पैसेको उचितसे अधिक महत्त्व न देना। यह सीखनेकी आवश्यकता है।

आर्थिक विभाजनको मनमें गहरे बैठानेसे व्याधि भी गहरी होगी। वह इस तरह दूर नहीं होगी। क्योंकि जाने-अनजाने इस भाँति पैसेका महत्त्व मनमें बढ़ेगा ही।

५—समाजके वाद

प्रश्न—धनिक और निर्धन इन दो श्रेणियोंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मालिक और नौकरके रूपमें आता है। और आप पहले कह चुके हैं कि यह संबंध दूर होना चाहिए। साम्यवादी लोग श्रेणी-विग्रहका आधार लेकर अपने तरीक़ेसे यह करना चाहते हैं। इसमें अहिंसाके सिद्धांतका विरोध है। आप अहिंसाके सिद्धांतको सुरक्षित रखते हुए मालिक-मजूर-संबंधको मिटानेका कौन-सा उपाय संभव मानते हैं?

उत्तर—मालिक और नौकरका संबंध भावनाश्रित है। धनका होना न होना परिस्थितिगत है। भावना परिस्थितिसे कोई बिलकुल अलग चीज़ नहीं है। इसी दृष्टिसे अर्थका विषम विभाजन विचारणीय विषय बनता है और उसी कारण उस विभाजनमें यथासाध्य समता लानेका प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन ध्यान रहे कि मूल प्रश्न मानव-सम्बंधोंके स्वच्छ करनेका है। प्रश्न यह नहीं है कि मेरे पास कितना है अथवा दूसरेके पास कितना है। प्रश्न यह है कि हममें परस्पर सद्भावना है कि नहीं। एक दूसरेकी आर्थिक स्थितिमें बहुत विषमता होनेपर वैसी सद्भावनाकी संभावना कम हो जाती है। इसीसे वह बात बार बार सोचनी पड़ती है। अतः आवश्यक है कि हम आरंभसे ही मूल बातको पकड़ें तथा व्यक्तिगत व्यवहारमें दूसरेके साथ अप्रेम-सबंधको हम वर्जनीय ठहराकर चलें। किसीके मालिक स्वयं अपनेको न समझें, न किसीके गुलाम बनकर दूसरेको ऐसा समझनेका मौका दें। मैं समझता हूँ कि अगर प्रश्न सचमुच आपसी व्यवहारमें एकता और हित-भावनाके प्रचारका है, तो यही पद्धति उसके समाधानकी हो सकती है कि हम उस एकता और हित-भावनाको आजसे ही अपना मंत्र बना लें। अन्यथा मालिक कहे जानेवाले आदमीका धन छीनकर गुलाम कहे जानेवाले आदमियोंमें बराबर बराबर बाँट देनेसे सब मामला सुलझ जायगा, यह समझना भूल है। आदमीकी हविस और उसका प्रमाद फिर वैसी विषमता पैदा कर देंगे। असलमें अर्थ विभाजनपर अत्यधिक ध्यान रखनेसे तो उस अर्थका मूल्य बढ़ेगा और उसके कारण रोग भी बढ़ता हुआ दिखाई देगा।

बाहरी समता लक्ष्य यदि हमारा हो भी, तो इसी हेतुसे वह हो सकता है कि उस तरहसे लोग आपसमें द्वेष-भाव रखनेसे बचें। वह द्वेष-भाव कम नहीं होता है, तो ऊपरी समता हुई न हुई एक-सी है। अगर वैसी समता किसी बाहरी कानूनसे लाद भी दी गई तो वह टिक नहीं सकेगी और बहुत जल्दी पहलेसे भी अधिक घोर विषमताओंको जन्म दे बैठेगी।

समाजवादीका ध्यान फलकी ओर है, बीज बोनेकी ओर नहीं। कार्यकी ओर है, कारणकी ओर उसका ध्यान कम है। फल प्रेमका चाहते हैं तो बीज भी तो प्रेमका ही बोना होगा। फलासक्ति बीजकी ओरसे असावधान हमें कर दे, तो यह दुर्भाग्यकी बात है।

प्रश्न—आप कहते हैं कि समाजवादीका मूल कारणपर ध्यान नहीं है। लेकिन असल बात तो यह है कि उसने मानव-जातिके इतिहासकी खोज और विश्लेषण करके ही अपना निष्कर्ष निकाला है और उसीके आधारपर समाजवादकी रचना की है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मूल कारणपर उसका ध्यान नहीं है?

उत्तर—शायद मैं ग़लत शब्द कह गया। यह अभिप्राय नहीं है कि उन्होंने उस ओर कम प्रयत्न किया है। बुद्धि जो कह सकती थी वह उन्होंने कहा और जहाँ वह पहुँच सकती थी वहाँ तक वे पहुँचे। यह भी न कहा जा सकेगा कि वे विचक्षण विचारक लोग अपने बारेमें ईमानदार नहीं थे। फिर भी ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपने और अपनी बुद्धिके ऊपर बहुत भरोसा कर लिया। बुद्धि हमें सब कुछ तो नहीं दे सकती। बुद्धिपर एक धर्म लागू है। प्रेम वही धर्म है। जो बुद्धि उस प्रेमको बिना माने चले वह फिर समाजका कल्याण कैसे साध सकेगी, यह समझनेमें मुझे कठिनता होती है। क्यों कि जहाँ समाजका प्रश्न आया, वहाँ तो व्यक्तियोंके परस्पर संबंधोंका प्रश्न ही आ गया। वे संबंध मेल और सहचारके ही हो सकते हैं, यदि वे अन्यथा होंगे तो उन्हें समाज-कल्याण नहीं कहा जा सकेगा।

जहाँ यह कहा गया कि समाजवाद मूल कारणकी ओर देखनेसे रह गया है वहाँ कुछ और मतलब नहीं है। मतलब यही है कि उन्होंने बुद्धिके हाथमें लगाम देकर कदाचित् हृदयकी कोई बात नहीं सुनी। मनुष्य बुद्धि ही बुद्धि तो नहीं है। हृदय भी तो वह है। और कौन जानता है कि बुद्धि जाने-अनजाने

हृदयके वशमें नहीं रहती ? इसलिए हृदय-शुद्धि और हृदय-परिवर्तन गौण बातें नहीं हैं।

सामाजिक रोगके निदान पानेकी समाजवादीकी चेष्टामें यत्नकी कमी नहीं है। तल्लीनताकी भी कमी नहीं होगी। किंतु हृदयको बाद देकर ऐसी चेष्टा क्या समीचीन समाधान तक पहुँच सकेगी ? हृदयसे उच्छिन्न होकर बुद्धि क्या भ्रांत न हो रहेगी ?

यह ठीक है कि मनुष्य कोरा और निरा हृदय भी नहीं है। बुद्धि अतीव उपयोगी है। इसलिए यह नहीं कि समाजकी ओर विमुख होकर हृदय-शुद्धिके लिए एकान्त जंगलमें चले जानेसे काम हो जायगा। लेकिन इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जंगलमेंके संस्पर्शसे हो, अथवा कि किसी साधनासे हो, हृदयको द्वेष-हीन तो बनाना ही होगा। अन्यथा तीक्ष्णसे तीक्ष्ण बुद्धि-प्रयोगद्वारा भी हमारा अथवा समाजका विशेष उपकार हो सकेगा, इसमें भारी सन्देह है।

प्रश्न—इसका मतलब तो यह होता है कि आप समाजवाद और समाजवादियोंको निरे बुद्धिवादी या बुद्धिके आश्रित मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे स्वयं भी ऐसा ही कहते हैं। परन्तु क्या हम यह नहीं देखते कि उनके सब कार्योंके मूलमें भी महती श्रद्धा है ? क्या विना इस श्रद्धाके वे जो कुछ कर चुके हैं और कर रहे हैं, वह संभव होता ?

उत्तर—श्रद्धा तो है। श्रद्धा बिना तर्क अपना मुँह तक नहीं खोल सकता। और समाजवादके निमित्त तो अनेकोंने उज्ज्वल कर्मण्यताके प्रमाण दिये हैं। वह श्रद्धाके ही नहीं, तो किसके प्रमाण हैं ? जहाँ शक्ति है वहाँ श्रद्धा तो है ही।

फिर भी वे अपनेको बुद्धिवादी कहते हैं, यह बात निरर्थक नहीं है। वह अर्थ रखती है। और उसी अर्थसे मैं सहमत नहीं हो सकता।

ऊपर जो कहा गया उसका आशय यह नहीं था कि उनमें श्रद्धा-हीनता थी। आशय इतना ही था कि उन्होंने भौतिक परिस्थितिको इतनी प्रधानता दी कि व्यक्तिकी भावनाको ओझल ही कर दिया। मेरी दृष्टिमें भावना उतनी अप्रधान वस्तु नहीं है।

यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने श्रद्धा अपने ऊपर रक्खी। अपने ऊपर, यानी बुद्धिके नीचे। श्रद्धा अपनेसे किसी महत्तत्त्वके प्रति नहीं रक्खी। वैसी श्रद्धा

अपनेसे भी बड़ी हो जाती है, उसमें अपना अहंकार खो जाता है। अन्यथा तो वह श्रद्धा (?) अहंकार-जनित हो सकती है।

मेरा ख़याल है कि सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे अहिंसा मानवताका एक ऐसा धर्म है, ऐसी मर्यादा है, कि उसका उल्लंघन लाख तर्क-प्रेरणा होनेपर भी नहीं किया जा सकता। यानी, नहीं करना चाहिए।

क्या वहाँ इस अहिंसा-धर्म और उस धर्म-मर्यादाका ध्यान पर्याप्त रहा?

नहीं रहा तो क्यों नहीं कहा जा सकता कि वह श्रद्धा अहंकारिणी थी?

प्रश्न—हिंसाका जो आक्षेप समाजवादियोंके खिलाफ किया जाता है, उसका ऐतिहासिक आधार बिल्कुल कच्चा है। उनका कार्य प्रत्यक्ष स्थितिकी कठिनाइयोंको देखते हुए जितना अहिंसक हो सकता था, उतना रहा। विरोधमें हिंसाका बल प्रधान बल होते हुए इससे अधिक अहिंसकताकी क्या उम्मीद की जा सकती है? अगर वे कभी हिंसा-वादी दिखाई दिये तो वह उनकी आत्मरक्षा-मात्र थी।

उत्तर—यह जानकर मुझे बहुत खुशी है। और यही मैं भी कहना चाहता हूँ कि जो सफलता समाजवादको मिली, वह 'वाद'को तनिक भी नहीं मिली। वह सफलता तो समाजवादियोंके उत्सर्ग-भरे अहिंसक व्यवहारको ही मिली। जिस अंशमें समाज-वादियोंने अपनेको सचाईके साथ विसर्जित किया, समाजमें प्रेम विकीर्ण किया और त्यागकी भावना जगाई ठीक उतने ही अंशमें उनके प्रयत्न फल-प्रद हो सके। उसके आगे जाकर जहाँ 'वाद'का हठ था वहाँ उन्हें हार ही हुई, अर्थात् उल्टा फल सामने आया। समाजके कल्याणके दृश्यके भीतरसे आँखोंके सामने अकल्याण भी फूटता हुआ दीख आया। तब यह क्यों न कहा जाय कि असलमें तो हिंसा-वादियोंकी मार्फत भी अहिंसाका सिद्धांत ही प्रकट हुआ? उनका मंतव्य जो हो, उनके अहिंसक आचरणका सुफल निकला और जहाँ आचरणमें भी हिंसाकी गंध आ गई वहाँ ही विष-फल प्रगट हो आया।

प्रश्न—आप कहते हैं कि सफलता उस 'वाद'को नहीं मिली। उस 'वाद'का सबसे प्रमुख सिद्धांत यह है कि व्यक्ति-मात्रको एक आवश्यक न्यूनतम (=minimum) निर्वाह-साधन प्राप्त होनेमें तथा अपनी योग्यता सिद्ध करनेका मौका मिलनेमें कोई बाधा न हो।

इस प्रकारकी समाज-रचना करनेमें वे सफल हो रहे हैं, यह बात माननेके लिए काफ़ी आधार है। फिर कैसे यह कहा जाय कि उस 'वाद 'को सफलता नहीं मिली ?

उत्तर—सफलता 'वाद' को मिलती ही नहीं है। किसी भी 'वाद'को नहीं मिलती। लेकिन प्रत्येक 'वाद'के भीतर जो एक सचाईकी धारा रहती है उसके कारण ही जो सफलता मिलती दिखाई देती है वह मिलती है। अगर ऐसा न हो और सफलता 'वाद'की मानी जावे तो अन्य 'वादों'की उत्पत्ति कभी न हो और कोई 'वाद' पुराना पड़कर जीर्ण न हो जावे। आज अगर मुसोलिनी या हिटलर अपने अपने देशोंमें सर्व-प्रधान बने हुए हैं तो क्या यह कहना होगा कि फासिज्म-नाज़ीज़्मके सिद्धातोंकी शाश्वत सचाई और सफलताका यह प्रमाण है ? मान भी लें कि वह उन 'वादों'की सफलता है, लेकिन क्या फिर यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें स्थायित्व है ? फिर जो स्थायी नहीं, वह सफलता भी क्या है ? व्यक्तिकी जरूरतें पूरी होने और उसकी योग्यता विकासित होनेके मार्गकी सब बाधाएँ समाजवादी-विधानद्वारा शासित देशमें हट गई हैं : क्या सचमुच ऐसा प्रमाणित होनेमें आया है ? सोवियट रूसका प्रत्यक्ष परिचय मुझे नहीं है, लेकिन वहाँके जो मनोमालिन्यकी खबरें आती हैं, क्या वे बिल्कुल निराधार हैं ? अगर थोड़ी भी उनमें सचाई है तो यह माननेका कारण नहीं रहता कि वहाँ व्यक्ति और स्टेटमें, अर्थात् व्यक्ति और समाजमें, संघर्ष न्यूनतम अवस्था तक पहुँच गया है।

सबको काफ़ी खाने-पहननेको मिल जाता है इसका प्रमाण अंक-तालिका (=Statistics) काफी नहीं है। उसके बाद खाने-पहनने जितनी ही व्यक्तिकी माँग नहीं है। समाजका जीवित ऐक्य और संतोष ही इस बातका प्रमाण हो सकता है कि व्यक्ति समर्पित है। क्या आप कहते हैं कि समाजवादी रूसके समाजमें वैसी एकता और सद्भावना है ?

प्रश्न—इसके लिए तो वहाँसे आने-जानेवाले यात्रियोंकी रिपोर्टें ही प्रायः एक-मात्र आधार हैं। उनसे तो यही पता चलता है कि एकता और सद्भावना बढ़ती जा रही है। समाजकी आर्थिक स्थिति दिनोंदिन अच्छी हो रही है। उतनी विषमता उसमें नहीं है जितनी अन्यत्र है। पैसेको वह महत्त्व नहीं है जो अन्य देशोंमें है।

तो क्या इससे यह नहीं कहा जा सकता कि स्थितिमें सुधार हो रहा है ?

उत्तर—मैं कौन कहनेवाला हूँ कि सुधार नहीं हो रहा है ? कहना तो यही है कि अमुक सिस्टममें सफलता नहीं है,—सफलता मानव-संबंधोंकी स्वच्छतामें है। सिस्टमकी सफलता अथवा असफलता उसी मापसे मापी जायगी। और आज जो सफल मालूम होता है, कल वह असफल नहीं होगा, ऐसा कहना इतिहासको देखते हुए खतरनाक है।

प्रश्न—तो फिर 'वाद' यानी किसी सिस्टमपर सोचनेमें शक्ति लगाना व्यर्थ है ? सद्भावसे हम प्रेरित हों और एक दूसरेके प्रति प्रेमका व्यवहार रक्खें, यह काफी है ?

उत्तर—बुद्धि मिली है तो उसका अनुपयोग इष्ट नहीं है। बुद्धि कुछ न कुछ सोचेगी जरूर ही। इसलिए एकदम हर 'वाद'से छुट्टी नहीं हो सकती। कहना यही है कि अमुक 'वाद' किन्हीं परिस्थितियोंकी एक विशिष्ट आवश्यकता और भावना-धाराका प्रतीक है। वह एक (बुद्धि) प्रयोग है। उससे लाभ उठाना चाहिए, उसमें बंद नहीं हो जाना चाहिए। परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती हैं। कर्म और कर्म-चिंतन परिस्थितियोंके अनुकूल होगा। चिंतना-कल्पना यों तो सदा वर्त्तमानसे आगेकी ओर बढ़ती है। वह सीमामें सीमित नहीं रहती। इससे तत्त्व-चिंता यदि हो ही तो फिर वह अज्ञेय-सत्य (ईश्वर) संबंधी होनी चाहिए। हाँ, कर्म-चिंताका संबंध तो वर्त्तमानसे अवश्यंभावी है। वैसा न होनेसे हवाई महल (=Utopia) बहुतसे खड़े हो जायँगे। विवाद भी बहुतेरा उठ खड़ा होगा, पर गति विशेष न होगी।

इसलिए जहाँ कर्म और कर्म-निर्णयका प्रश्न है वहाँ स्वधर्मकी अपेक्षा उसको हल करना चाहिए। नहीं तो परिणाम यह होगा कि लोग अनाधिकृत बातें कहने लगेंगे, दो किताब पढ़कर बच्चा खुद गुरुको शिक्षा देना चाहने लगेगा। इसी लिए अपनी मर्यादा और अपने धर्मकी रक्षाकी बात कही जाती है।

ऐक्य-विमुख ज्ञान और कर्म व्यर्थ होता है। वैसा ज्ञान परिग्रह है और वैसा कर्म बंधन।

६—मार्क्स और अन्य

प्रश्न—'वाद'के विषयमें आपने अभी जो कुछ कहा है उस कसौटीसे मार्क्स-वादके बारेमें आपके विचार क्या हैं? उसका सबसे मजबूत और सबसे कमजोर बिंदु (=point) आप क्या समझते हैं?

उत्तर—यह तो किसी विद्वानसे पूछने योग्य प्रश्न है। मुझे इसमें शंका है कि मार्क्सिज़्म समूचे जीवनको छूता है। वह समाज-नीति है, जीवन-नीति नहीं है। जीवन-नीति बहुत कुछ निर्गुण होगी। राज्यकी अपेक्षा वही राज-नीति और समाजकी अपेक्षा वही समाज-नीति बन जायगी। वह दर्शन-नीति होगी। दूसरे शब्दोंमें वह धर्मस्वरूप होगी।

मार्क्सिज़्म जीवन-खोजका परिणाम अर्थात् जीवन-दर्शन (= Life Philosophy) नहीं है। वह एक राजनीतिक प्रोग्रामका बौद्धिक समर्थन है। यह उसकी सर्व-सुलभ विशेषता है और यही उसकी मर्यादा भी है।

मार्क्सिज़्म स्थितिको व्यक्तिसे नहीं जोड़ता। उसकी दृष्टिसे दोष अपनेमें देखनेकी जरूरत कम हो जाती है और दोषारोपण सामाजिक परिस्थितिमें किया जाने लगता है। परिणाम यह होता है कि आज इस घड़ी मुझे क्या कुछ होना और करना चाहिए, इसकी सूझ नहीं प्राप्त होती, न इसकी चिन्ता व्यापती है। समाज-विधान कैसा क्या होना चाहिए, निगाह उसी ओर लग जाती है। स्पष्ट है कि इस भाँति असल होनेमें विशेष नहीं आता, बुद्धि-भेद बढ़कर रह जाता है। इससे शाब्दिक विवादको उत्तेजन मिलता है।

मुझे कैसे व्यवहार करना चाहिए, इसके संबंधमें अगर कोई चेतना मुझमें न जागे, और इसकी जगह सोसायटीको कैसा होना चाहिए, इसी संबंधके संकल्प-विकल्प मनमें चक्कर लगाते रहें तो यह स्थिति न व्यक्तिके लिए न समाजके लिए उपयोगी प्रमाणित हो सकेगी।

मार्क्सिज्म एक 'वाद' है, इसलिए जल्दी समझमें बैठ जाता है। खूब रेखाबद्ध

होनेके कारण उसमें ' फ़ेथ ' बननेकी सामर्थ्य कम है जो हमारे भीतर तककी जड़ोंको भिगो दे और हमें बदल दे। उससे काफी प्रेरणा-शक्ति नहीं मिल पाती।

प्रश्न—अगर वह ' फ़ेथ ' नहीं है तो इसका तात्पर्य क्या यही है कि मार्क्सवादी मानवोचित गुणोंकी ओर अवश्य उपेक्षा करेगा?

उत्तर—बुद्धिकी ओर उसमें इतना झुकाव है कि आचरणकी ओर कम ध्यान रहनेकी सम्भावना हो जाती है। 'फ़ेथ' से यही आशय है कि वह हमारे पूरे व्यक्तित्वमें समा जाता है; न मन, न बुद्धि, न कर्म उसके प्रभावसे बच सकते हैं। 'वाद'में 'वाद' होनेके कारण अर्थात् संतुलनकी (=Dispassionकी) बजाय विचाराधिक्य होनेके कारण इस प्रकारकी अक्षमता सहज पैदा हो जाती है। पर जो कुछ किया जाता है वह पूरे व्यक्तित्वके जोरसे किया जाता है कि नहीं? इसलिए 'वाद' नाकाफी होता है। 'वाद'को घना होकर और अपनी रूक्षता खोकर स्नेहके मेलसे धर्म बन जाना चाहिए जिसका अवकाश मार्क्सिज़्ममें नहीं है।

प्रश्न—तो फिर मार्क्स, लेनिन तथा अन्य मार्क्सवादी जो ' फ़ेथ ' में विश्वास न रखते थे, किस शक्तिके सहारे अपने कार्यमें इतने सफल हुए? मार्क्सने मार्क्सवादकी परिभाषा इतनी सफलता-पूर्वक की कि करोड़ों लोग उसके समर्थक बन गये और एक विशाल राष्ट्र लेनिनके नेतृत्वमें क्रान्ति कर गया। इस सफलताका कारण क्या हो सकता है?

उत्तर—कुछ काल तक असंतुष्ट बुद्धिवादी यूरोपके लोगोंकी समाजवादमें श्रद्धा जैसी भावना हो गई थी, लेनिनने उसीसे लाभ उठाया। श्रद्धा ' जैसी ' भावना ऊपर कहा गया है। 'जैसी'से आशय है कि स्यात् वह अविकृत श्रद्धा नहीं थी। उसके कलेवरमें असंतोष अधिक था, निर्विकल्प संकल्प-मात्र ही नहीं था। उसमें कटुताका बल था। अँगरेजीका जो शब्द है 'रिएक्शन', उस शब्दको मैं इसी अर्थमें समझता हूँ। विधायक संकल्पकी जगह जहाँ असंतोषकी शक्तिकी प्रधानता है, जहाँ गर्मीमें प्रकाशका संयोग नहीं है, वहाँ मूल प्रेरणामें प्रतिक्रिया है। यूरोप मार्क्ससे तीन-चार सदी पहलेसे मानसिक स्तरपर वाद-विवाद-ग्रस्त था। जीवनकी कीमतें बदल रही थीं। विज्ञानके प्रवेशसे जीवनका मूल आधार खिसकता मालूम होता था। उद्योग बढ़तीपर था। एक ओर विस्तार-विजयकी भौतिक भूख, दूसरी ओर उन महद् उद्योगोंके नीचे पिसते हुए

लोगोंकी बेचैनी, इन दोनोंके संयोगने समाजवादी स्वप्नको जन्म दिया ! अचरज नहीं कि उस समयके बौद्धिक लोगोंका ध्यान इतनी विवशतासे उस ओर खिंचा। मार्क्सिज़्म निःस्सन्देह उस समय प्रचलित कई विचार-धाराओंको अपनेमें समा लेता है। वह उनका समन्वय होनेके कारण प्रबल हो सका। लेकिन अंतमें जाकर उसका आधार वर्ग-विभेद है, अभेद नहीं। इसलिए यथाशीघ्र उसकी अपर्याप्तता उभर कर प्रमाणित हो आती है।

प्रश्न—हिटलर तथा मुसोलिनीकी आज जो सफलता दिखाई दे रही है, उसका आधार भी क्या श्रद्धा ही है?

उत्तर—हां, मानना होगा कि वही है। वे अपने विचारके साथ जितने एक हैं अर्थात् जितना उसे अपने आचरणमें उतारते हैं, उतने ही उनके विचार प्रबल दीखते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उन विचारोंमें अपने आपमें कोई स्थिर सचाई है। उनमें उतनी ही सचाई है जितनी जीवनके जोरसे डाली जा सकी है।

जीवन चूँकि मूलतः एक है, यानी आत्मैक्य है, इसलिए जो विचार और जो व्यक्तित्व इतिहासके अंतरालको पार कर सबसे बलशाली और अविरोध्य सिद्ध होगा वह धार्मिक होगा। धार्मिक, अर्थात् ऐक्य भावनासे परिपूर्ण।

हिटलर और मुसोलिनी, यह तो मानना ही होगा कि, अपने पूरे व्यक्तित्वसे किसी एक मन्तव्यके प्रतिनिधि बन गये हैं। उनमें मानो एक समूचा राष्ट्र ही (तात्कालिक) ऐक्य पा जाता है। यही बात लेनिनमें थी। छोड़िए इज़्मोंको, लेकिन लेनिन और मुसोलिनीमें बहुत फासला नहीं है।

प्रश्न—फिर मार्क्सिज़्म और फासिज़्ममें भी तो बहुत कम फासला रह जाता है?

उत्तर—मेरे खयालमें यह फासला सचमुच बहुत अधिक नहीं है। उनकी प्रकृतियोंमें अंतर नहीं है। घोषोंमें और तर्कोंमें अवश्य अनबन है। मुझे तो जान पड़ता है कि अन्तःप्रकृतिसे दोनों ही एक हैं। मार्क्सिज़्म बुद्धि-प्रधान है, फासिज़्म कर्म-प्रधान है। लेकिन दोनों ही शक्तिके पूजक हैं।

जैसे पूँजीवाद मार्क्सिज़्मको जन्म देता है, वैसे ही मुझे प्रतीत होता है कि मार्क्सिज़्मकी पूँछके पीछे मुँह खोले फासिज़्म जरूर आयेगा। वह तो एक चक्कर है। उसपर पड़े कि जाने-अनजाने चकराना ही होता है।

७–लेकिन अहिंसा ?

प्रश्न—अगर मैं इसी तर्कसे आपके अहिंसावादको भी फासिज़्म और मार्क्सिज़्मके साथ ही रखूँ तो आपको कोई आपत्ति न होगी ?

उत्तर—क्या अहिंसाका कोई ' वाद ' है, और क्या वह मेरा है ? अगर सचमुच उसमें दूसरे 'वादों'की सब बुराइयाँ रहेंगीं तो अहिंसाका 'वाद' निस्संदेह वैसा ही खतरनाक हो जायगा जैसे कि अन्य ' वाद '। किसने कहा है कि अहिंसाका 'वाद' चाहिए, क्या मैंने ? जो चाहिए वह सच्ची खरी जीवित अहिंसा ही स्वयं है, न कि 'वाद'। 'वाद' वाली अहिंसा पीली हो जायगी। अहिंसाके वादी नहीं चाहिए, अहिंसाके साधक चाहिए।

अहिंसा माननेकी चीज़ नहीं, वह करनेकी चीज़ है। क्या यह देखा नहीं जाता कि घोष अहिंसाका है, लेकिन जो इस घोषके तले चाहा और किया जाता है उसके भीतर भरी हिंसा होती है ? अहिंसाका वादी अहिंसाके विवादको लेकर जरा देरमें उग्र हिंसक हो जा सकता है। इसीलिए अहिंसाके 'वाद'के मैं उतना ही खिलाफ हूँ जितना अहिंसाके धर्मका श्रद्धालु हूँ। ' वाद ' कैसा, अहिंसा तो अखंड धर्म है।

कहानी है कि एक धोबीमें और साधुमें लड़ाई हो गई। मार-पीटकी नौबत आई और साधु पिट गये। पिटनेके बाद वे अपने इष्टदेवके पास शिकायत लेकर पहुँचे। इष्टदेवने अपने दूतसे पूछा कि यह महात्मा हमारे लिए महात्मा हुए हैं, तुमने इन्हें क्यों नहीं बचाया ? दूतने कहा कि मैं तो बचाना चाहता था लेकिन उस वक्त मुझे पहिचान ही नहीं हो सकी कि दोनोंमें कौन धोबी है और कौन साधु है। दोनों एक ही तरह लड़ रहे थे !

अहिंसावादी अगर अहिंसासे नहीं तो क्या ' वाद'से पहिचाना जायगा ? जैसे साधुकी पहचान उसकी साधुता ही हो सकती है न कि वेष, वैसे ही अहिंसाकी पहचान आचरणसे होगी न कि कहनेसे (=profession से)। अहिंसाका कोई वाद नहीं हो सकता। वाद-गत हो जानेपर अहिंसा मानो कर्त्तव्य नहीं रहती, वह केवल प्रतिपाद्य हो जाती है। अहिंसा ऐसी चीज़ नहीं है कि

जगह जगह उसका हम झंडा गाड़ते फिरें, वह तो मनमें बैठानेकी चीज़ है। जो अहिंसाकी ध्वजा उद्घोषके साथ फहराता है वह अहिंसाकी दूकान चलाता है। वह अहिंसक नहीं है।

अन्य 'वादों' में 'वाद' बननेकी सम्भावना इस प्रकार न्यूनतम नहीं बना दी गई है। आरम्भसे ही उन्हें 'वाद' के तौरपर परिभाषाबद्ध बनाकर प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए उन वादोंका मुँहसे उच्चार करते हुए विषयाचरणी होना उतना दुर्लभ नहीं है। फिर वेवाद होते भी प्रोग्राम-रूप और अनुशासनबद्ध हैं।

उनमें आत्म निषेध और आत्म-वंचनाकी अधिक गुंजाइश रहती है। अहिंसा क्योंकि प्रोग्राम-रूप न होकर धर्मरूप है इसलिए, तथा उसमें स्वेच्छापूर्वक विसर्जनकी शर्त होनेके कारण और बाहरी अनुशासनका बंधन न होनेके कारण, वैसी आत्म-वंचनाकी कम गुंजाइश रहती है।

फिर भी वह संकट तो सदा ही बना है और तत्संबंधी सावधानता बेहद जरूरी है। धर्मके नामपर क्या जड़ता फैलती नहीं देखी जाती ? पर वह तभी होता है जब धर्मको 'वाद' अथवा मत-पंथ बना लिया जाता है। अतः अहिंसामें विश्वास रखनेवालेको यह और भी ध्यान रखना चाहिए कि उसका कोई 'वाद' न बन जाय। 'वाद' बनकर वह अहिंसाका निषेध तक हो जा सकता है।

प्रश्न—लेकिन आज तो अहिंसक पुरुषोंके बजाय अहिंसा-वादियोंकी ही वृद्धि हो रही है, यह मानना पड़ता है। क्या यह सच नहीं है कि इस अहिंसा-वादके रूपमें दंभ, असत्य और हिंसा बढ़ रही है ?

उत्तर—यह कहना अतिरंजित होगा। अहिंसाके विषयमें दिलचस्पी होगी तो वह पहले तो बौद्धिक रूपमें ही आरंभ होगी। हाँ, अगर वह शनैः शनैः आचरणमें न उतरे और अहिंसासंबंधी दार्शनिक और तात्त्विक चर्चा एक विलासका (=Indulgenceका) रूप ले ले, तो अवश्य खतरा है। लेकिन यह कहनेवाला मैं कौन बनूँ कि आज अहिंसामें जो दिलचस्पी बढ़ती दीखती है वह सच्ची है ही नहीं, बिलकुल झूठी है ! हाँ, उस विषयमें सचेत रहना हर घड़ी जरूरी है, यह बात ठीक है।

८—विकासकी वास्तविकता

प्रश्न—आपने कहा है कि सफलता किसी वादकी नहीं उसके समर्थककी श्रद्धा और सचाईकी होती है। क्या आप समझते हैं कि श्रद्धा सदैव प्रबल और पवित्र होती है? या जिस कार्यपर वह केन्द्रित हो उसपर उसकी पवित्रता या प्रबलता निर्भर रहती है?

उत्तर—श्रद्धा स्वयं शक्ति ही है। पवित्र, अपवित्र आदि मानव-रुचि-अरुचिद्वारा बनाये गये विशेषण हैं। वे वैज्ञानिक नहीं हैं।

प्रत्येक कामका बाहरी रूप जो भी हो, लेकिन कुंजी तो उसकी अंतरंग शक्तिमें ही माननी होगी। दो व्यक्तित्वोंके मूल्यमें जो अंतर है उसको, नहीं तो, फिर किस भाषामें कहा जायगा? एक महापुरुषका दो मिनट चुप बैठना और एक साधारण पुरुषका उतने ही समय तक चुप बैठे रहना, क्या एक-सा मूल्य रखता है? ऊपरसे वह एक-सा है, पर उनमें आकाश-पातालका अंतर हो सकता है। जीवनका कोई विशेष क्षण अमूल्य जान पड़ता है, अन्य क्षण याद भी नहीं रहते, सो क्यों? इसीलिए तो कि उन मूल्यवान् क्षणोंमें जीवनानुभूति खूब सजग हो उठी होगी।

इसी कारण मैं यह मानता हूँ कि श्रद्धाकी शक्ति निम्नको उच्च बना देती है। पत्थरकी मूर्तिको परमात्मा बना देनेवाली शक्ति भक्तकी भक्ति ही तो है। भक्ति शायद आजकल समझमें नहीं आयगी। लेकिन एक कपड़ेके टुकड़ेको झंडा कहकर इतनी शक्ति कौन दे देता है कि हजारों देशवासी उसपर कुर्बान हो जायँ? वह शक्ति कपड़ेके टुकड़ेकी है या श्रद्धाकी? कपड़ा कुछ नहीं है, फिर भी झंडा सब कुछ बन जाता है, सो क्यों? क्या श्रद्धाके कारण ही नहीं?

इसीसे किसपर श्रद्धा है, इससे अधिक यह महत्त्वपूर्ण बन जाता है कि कितनी श्रद्धा है।

सत्य कहाँ नहीं है? श्रद्धाकी दृष्टि जहाँ पड़ती है वहीं सत्यको ऊपर ले आती है।

प्रश्न—अगर श्रद्धामें यह बल है, तो क्या एक मामूली या यों कहिए कि एक अनैतिक कार्य भी श्रद्धाके कारण नैतिक और उचित बन जाता है?

उत्तर—श्रद्धा तो पारस-मणि ही है। जिसको छुआओ वह सोना हो जाता है। किन्तु जो अनीतिमें आग्रह रख सकता है वह तो मोह है, श्रद्धा वह नहीं है। श्रद्धाका लक्षण है उत्सर्ग। मोहका लक्षण संग्रह और आग्रह है।

प्रश्न--श्रद्धा और मोहकी जो आपने व्याख्या की वह बहुत लचीली है। क्या इस व्याख्याका यही मतलब नहीं होता कि अगर किसीको किसी कार्यका मोह है और वह किसी तरह सफल हो जाता है, तो आप उस मोहको श्रद्धा कहेंगे? इस तरह तो किसी असफल मनुष्यकी पवित्र श्रद्धा भी मोह कही जा सकती है?

उत्तर—हाँ, ऐसे विभ्रमकी बहुत आशंका है। असलमें मोह आदमीसे बिल्कुल तो छूटता नहीं। आदमीकी समस्त इच्छा-अनिच्छा और संकल्प-विकल्प अंतमें किसी न किसी प्रकारके मोहसे जुड़े होते ही हैं। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि जिसे श्रद्धा माना वह भी किंचित् मोहसे शून्य नहीं होती। असलमें श्रद्धाकी आवश्यकता ही मोहके कारण है। किन्तु वह मोहसे बचनेके लिए होती है, उस मोहको गहरा करनेके लिए नहीं।

लेकिन यहाँ शायद हम अनिश्चित जमीनपर आ गये हैं। इसका निर्णय कैसे हो कि श्रद्धा उचित प्रकारकी है, या मोहजन्य होनेके कारण अनुचित प्रकारकी है? श्रद्धा वह कैसी भी हो, फलदायक वही होती है। उचित है, तो फल सुफल होता है। उल्टी होनेपर वही फल दुष्फल गिना जाता है।

एक पहचान अन्तमें यही रहती है कि देखा जावे कि व्यक्तिकी श्रद्धाका आधार उसका आग्रह है, या वह आधार निवेदन स्वरूप (=confession स्वरूप) है। सच्ची श्रद्धा प्रार्थनामय होनी चाहिए।

प्रश्न—श्रद्धाको सफलताकी कसौटी अगर मान लिया जाय तो आप आजकलकी फासिज़्म, मार्क्सिज्म, अविकृत जनतंत्रवाद, गाँधी-वाद आदिमेंसे किसका भविष्य सबसे अधिक उज्ज्वल समझते हैं?

उत्तर—भविष्यवक्ता मैं नहीं हूँ। फिर यह जानता हूँ कि सत्य ही सदा सफल होता है और मानव-समाजके लिए व्यवहार्य सत्य अहिंसा है।

प्रश्न—परंतु अहिंसा तो कहीं भी नहीं है। अगर कहीं है तो वह केवल विचारों तक ही सीमित है। मैं तो यही समझता हूँ कि

मानवता किसी प्रलयकी ओर बढ़ती चली जा रही है। कब कहाँ टकरायगी इसका कोई भरोसा नहीं है।

उत्तर—अहिंसा हमसे बाहर थोड़े हो सकती है। बाहर देखेंगे तो दीखेगा कि जीवका भोजन जीव है। बाहर तो दीखेगा ही कि सशक्तकी जीत है, अशक्तकी मौत है। यह भी दीखेगा कि जीवनका मृत्युमें अंत होता है। मौतसे आगे जीवन जा ही नहीं सकता। इस बातको झूठ कौन कहता है? कोई इसको झूठ नहीं कह सकता। जिस तलपर बहस संभव है उस तलका सत्य वही है।

बड़े बड़े योद्धा और महापुरुष मर गये। और जो आयँगे सब कालके पेटमें समा जायँगे। काल तो यम है, अन्धकार है, और नकार है। किन्तु यह जानकर भी आज इस मिनट मैं जी रहा हूँ, आप जी रहे हैं, इस बातसे कैसे इन्कार किया जाय? लाखों मरते रहें, लेकिन लाखों जनमेंगे भी और जिएँगे। मरेंगे तो मर लेंगे, लेकिन वे इतिहासको आगे बढ़ा जायँगे। क्या जीवनने कभी मौतसे हार मानी है? और जो जीते जी खुशीसे मर गये हैं, क्या उन्होंने मौतके मुँहमें घुसकर भी जीवनकी विजयको सदाके लिए नहीं घोषित कर दिया है?

इसीसे मैं कहता हूँ कि अहिंसा बाहर नहीं मिलेगी। लेकिन जो बाहर दीखता है, उससे भी बड़ा क्या वह नहीं है जो भीतर है, इसीसे दीखता नहीं है? वह अहिंसा भीतर है। अहिंसा भावनात्मक है। भावना कर्मकी जननी है। मैं कहता हूँ कि घोरसे घोर हिंसक कर्मके भीतर भी कोई अहिंसाकी भावना नहीं हो तो वह हो तक नहीं सकता। खूँख्वार जानवर अपने शिकारको मारता है, लेकिन वही अपने बच्चेको क्यों प्यार करता है? मैं कहता हूँ कि वह मारता है तो उस प्यारको सार्थक करनेके लिए ही शिकारको मारता है। बच्चेको बचानेके लिए शेरनी भी अपनेको विपतमें झोंक देती है कि नहीं? सो क्यों? वह मारती है अपने और अपनोंको बचानेके लिए। इस मारनेकी हिंसाको भी प्रेमकी अहिंसा ही सम्भव बनाती है।

लेकिन यह खतरनाक जगह है। यहाँ तर्क कहीं सब कुछको उलट-पलट न दे! उथल-पुथल हमारा इष्ट नहीं है। कहना यही है कि अगर इस घड़ी हम साँस ले रहे हैं, तो चाहे उस साँस लेनेमें भी सैकड़ों सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा भी

होती हो, लेकिन वह साँस जाने-अनजाने अहिंसा-धर्मको पोषण देनेहीके लिए हम ले पाते हैं। वैसा नहीं है तो कुछ भी नहीं है।

पर मैं विश्वास दिलाऊँ तो कैसे? कोयलेमें आग है, यह कोयला कैसे समझेगा? वह तो देखता है कि वह भीतर तक काला है, परन्तु आग उज्ज्वल है। वह अपनेको कालेपनसे त्रस्त पाता है। वह किस भाँति समझे कि वह दहकता स्फुलिंग भी हो सकता है? किसीके पास दियासलाई हो और उसकी लौ कोयलेमें छू जाय तो देखते देखते कोयला शोला हो जायगा। पर वैसा होनेसे पहले कौन उसे समझा सकता है कि वह और आग एक हैं?

ऐसे ही मेरे पास छुआनेको चिनगारी हो तो इस निराशाके अँधेरेको ही उजला बना दूँ। नहीं तो निराशाको क्या दूसरा कोई कभी समझ या समझा पाया है?

पर मैं कहता हूँ कि निराशाके बलपर कौन जी सका है? इससे निराशामेंसे ही आशा जगानी होगी। मिथ्या आशा मिथ्या है, लेकिन वह आशा जिसका भोजन निराशा है, जिसके भीतर भौतिक आशाकी छाया भी नहीं है, वसी आशा कभी मूर्छित नहीं होगी। क्योंकि वह प्रार्थना-मुखी होगी, गर्वस्फीत वह न होगी।

प्रश्न—इटली, जर्मनी, रूस आदि राष्ट्रोंमें जो आज आशा दिखाई दे रही है और इसी आशाके आधारपर जो संगठन उनमें दीख रहा है, उसे आप सच्ची मानते हैं या मिथ्या?

उत्तर—उस आशाका प्रभाव उन्हें कर्मण्य बनाता दीख रहा है। आशासे इससे अधिककी माँग नहीं करनी चाहिए। यदि वह प्रेरणा देती है, तो काफ़ी है।

हाँ, उनकी सोचनेकी पद्धति और उनके स्वप्न बेशक मुझको ठीक नहीं मालूम होते। किसी विशेष जाति या दलके प्रति कट्टर बहिष्कारकी भावना रखना मेरी समझमें नहीं आता। उनमें मुझे अहंकारकी उत्कट गंध आती है।

उसके बाद उग्र राष्ट्रीयतासे भी मालूम होता है कि हमारा रोग मिटनेवाला नहीं है। बल्कि राष्ट्र-भावनाकी उग्रता स्वयंमें रोगका लक्षण है।

इसके अनंतर व्यक्ति-पूजाकी भावना भी वहाँ जरूरतसे अधिक है। यदि वह भावना हार्दिक हो, तब तो भक्तिकी अधिकसे अधिक घनता भी आपत्तियोग्य नहीं है। लेकिन तरह तरहके प्रचारसे और आयोजनसे व्यक्तिके महत्त्वको कृत्रिमरूपसे बढ़ाना हितकर नहीं है। वह मानसिक गुलामीको जन्म देता है।

असलमें वैज्ञानिक समाजवादमें (=Scientific Socialismमें) जब कि

व्यक्तिको सर्वथैव समाजके (=Stateके) अंग-रूपमें देखा गया है तब प्रतिक्रियाके तौरपर फासिज्म मानो समाजके सिरपर व्यक्तिको प्रतिष्ठित करनेके लिए चल पड़ा है । जर्मनी हिटलर है और इटली मुसोलिनी है, बल्कि ये दोनों व्यक्ति स्वयं राष्ट्रसे भी बड़े हैं, ऐसी जो नाज़ी और फासिस्ट दलोंमें धारण पैदा की जाती है वह कल्याणी नहीं होगी । उससे नुकसान होगा । आज उसके कारण उन उन राष्ट्रोंमें ज़बर्दस्त संगठित एकता दिखाई देती हो, लेकिन उसमें विग्रह और हिंसाके बीज रहे हैं और जब वे फटेंगे तब आपसी खून बहे बिना राह न रहेगी ।

प्रश्न—आजकी स्थितिमें तो यही दीखता है कि निकट भविष्यमें या तो व्यक्ति-प्रधान फासिज़्म या समाजप्रधान साइंटिफिक सोशलिज्म, इन दोमेंसे किसी एकको हमें चुनना होगा । अंतिम लक्ष्यकी दृष्टिसे आप किसे चुनेंगे ?

उत्तर—क्यों एकको चुनना होगा ? इनमें चुननेको विशेष अंतर नहीं है । सोशलिमज्को वैज्ञानिक और व्यवहार्य बनाते बनाते वह राष्ट्रीय बन जाता है । वह राष्ट्रीय समाजवाद (=National Socialism) ही क्या फिर फासिज़्म नहीं हो चलता ? सोशलिज़्मकी कल्पनामें मानवताको राष्ट्रमें नहीं, अर्थात् भौगोलिक भागोंमें नहीं, अपितु आर्थिक वर्गोंमें विभक्त देखा गया है । किन्तु आजके दिन राष्ट्र-भावना एक जीवित वस्तु है और राष्ट्रकी सत्ता इसलिए आजकी जीवित राजनीतिके क्षेत्रमें पहली वास्तविकता है । अतः सोशलिज़्मको अनिवार्यतया इस राष्ट्र-चेतना और राष्ट्र-सत्ताको स्वीकार करना पड़ता है । इस समझौतेके बाद यह संदिग्ध हो जाता है कि सोशलिज़्म सोशलिज़्म भी रहता है या नहीं । क्या अनजाने वह इस भाँति फासिज़्म नहीं हो चलता ? इन सब बातोंको देखते हुए सोशलिज़्म और फासिज़्ममें किसी एकको चुननेमें कोई अर्थ नहीं रह जाता ।

प्रश्न—फासिज़्मका ही जहाँ तक सवाल है, वहाँ तक तो वह हमारे अहिंसा और सत्यके कल्पना-मधुर सिद्धांतोंपर आश्रित आन्दोलनमें भी बढ़ता दीख रहा है । फिर आप इसीका समर्थन क्यों करते हैं ?

उत्तर—अहिंसाके तत्त्वका मैं समर्थन कर रहा हूँ। अहिंसाका चेहरा लगाकर हिंसाका तत्त्व अगर फैलता हो, जो कि संभव है, तो उसका तो विरोध ही करनेके लिए मैं कह सकता हूँ। इसीलिए अहिंसाके 'वाद'के समर्थकोंमें मैं नहीं हूँ। अहिंसा धर्म है, और अहिंसाका 'वाद' व्यवसाय बन जा सकता है।

अच्छे सिद्धान्तकी ओट लेकर बुरा आदमी बुराई करनेका सुभीता पाने लगे तो इसमें उस सिद्धांतका दोष नहीं है। इसीलिए हम भलाईकी (धर्मकी) कोई पार्टी बनानेकी भी कोशिश न करें। भलाई (धार्मिकता) अगर सच्ची है तो उसका प्रभाव होगा ही। उसमें फैलने और बढ़नेके भी बीज हैं। लेकिन घेरा घरकर पार्टी-लेबलके ज़ोरसे जो अपनेको प्रचारित करती है, उसमें कुछ संदिग्ध चीज़ भी शामिल है और उस संदिग्ध वस्तुका समर्थन मुझसे नहीं होगा।

प्रश्न—आज तो संघ-शक्तिका युग है। और कोई भी सिद्धान्त हो, उसके आधारपर संगठन और 'वाद' जरूर बनेगा। अहिंसाका सिद्धान्त जैसे ही महात्मा गाँधीने प्रस्तुत किया कि तुरंत ही उसके प्रचारके लिए अहिंसावादी संगठन बने और अहिंसावादियोंका प्रचार-कार्य शुरू हो गया। फिर पार्टी न बने, इसका क्या मतलब है?

उत्तर—संगठन बुरी बात नहीं है। संगठन सामाजिक कर्मके लिए बनता है। उसका आशय यह नहीं है कि संगठित पार्टीके ताबे कोई धर्म हो जावे। धर्मका व्यावहारिक प्रयोग करनेमें संघ और सम्प्रदाय बन जायँगे। उन संघ और सम्प्रदायोंमें फिर खराबी भी आ चलेगी। संघके लिए संघ-सत्ता और सम्प्रदायके लिए अपना सांप्रदायिक प्राबल्य ही चिंता और चेष्टाका विषय हो चलता है। यही खराबी है। धर्म-गत सम्प्रदाय कोई खराबी नहीं पैदा करता, बल्कि कल्याण ही करता है। लेकिन धर्म ही जब सम्प्रदायगत माना जाने लगता है तब खराबीकी भी जड़ पड़ जाती है। कोई भी सचाई धीमे धीमे एक संप्रदायका व्यवसाय बन जाती है, ऐसा देखनेमें आता है। ऐसा होता है, हो रहा है और होगा। लेकिन इसके लिए किया क्या जाय? यही कहा जा सकता है कि कोई धर्म जब इस भाँति जड़ होने लगे, तब उसमें प्राण-प्रतिष्ठापनके लिए उसीसे युद्ध करना होगा। इसीलिए तो बार बार कहा जाता है कि सचाई रूपमें नहीं है, वह भीतरी है। किसी बाहरी रूपपर इसीलिए

विश्वास गाड़कर नहीं बैठना चाहिए। किसी पार्टीके हाथ आत्माको नहीं बेचा जा सकता। हाँ, सहयात्री तो बना ही जा सकता है। जहाँ तक पार्टी स्वाधीन-चेता व्यक्तियोंका सम्मिलित संघ है और प्रत्येक सदस्य अपने विवेकका मालिक है, वहाँ तक तो ठीक है। लेकिन जहाँ अन्यथा है, वहाँ पार्टीमें बुराइयाँ भी आ चलती हैं। अहिंसाके नामवाली पार्टीमें वे बुराइयाँ नहीं आयँगीं, ऐसा कहनेका मेरा आशय नहीं है।

प्रश्न—अहिंसाके लिए संगठित प्रयत्नका प्रत्यक्ष जो उदाहरण हमारे समक्ष है, उसे देखते हुए क्या आप कहेंगे कि अहिंसाकी पार्टीका कार्यक्रम बुद्धिजीवी वर्गकी हिंसाको छिपाने और अप्रबुद्धोंको भ्रममें डालनेवाला ही नहीं हो जायगा?

उत्तर—आगे क्या होगा, यह कहना कठिन है। पर हिन्दुस्तानके सार्वजनिक जीवनमें अहिंसाके प्रयोगके जो संगठित प्रयत्न चल रहे हैं, उनमें अभी तो अश्रद्धाका मेरे लिए विशेष कारण नहीं है। वजह शायद यह हो सकती है कि महात्मा गाँधीकी उपस्थिति, जो स्वयंमें प्रज्वलित अहिंसाके स्वरूप हैं, उन प्रयत्नोंको सच्ची अहिंसासे च्युत नहीं होने देती।

प्रश्न—क्या यह सही है? महात्मा गाँधीजीके होते हुए भी हम देखते हैं कि उनके विश्वास-पात्र सहकारी, जो सरकारके मंत्री बने हैं, अपने मानवोचित अधिकारोंकी रक्षाके लिए शान्ति और अहिंसापूर्ण युद्ध करनेवाले गरीबोंपर गोलियाँ चलवाते हैं और उसका समर्थन करते हैं। क्या यह अहिंसा है?

उत्तर—उनकी जगह कोई और क्या ऐसा कहनेको तैयार है कि बिना गोली चलाये उससे अधिक जानोंको जानेसे वह बचा सकता था? मुझे नहीं मालूम कि ऐसा किसीने दावा किया है। तब क्या अहिंसाके नामपर एक कांग्रेसी मंत्री अपनी जिम्मेदारीको जानते हुए भी खुली हिंसा होने दे? इससे अगर मंत्रियोंने लाचार होकर हिंसाको रोकनेके निमित्त गोली चलने दी, तो इससे यह तो साबित हो सकता है कि कांग्रेसकी नैतिक शक्ति अभी काफी नहीं है, और उसका विकास करना चाहिए, परन्तु इससे अधिक उसका यह मतलब नहीं लगाया जा सकता कि अहिंसाके नामपर हिंसा करके कांग्रेस-मन्त्रियोंने कपट व्यवहार किया। सच बात तो यह है कि शासनका भाग होना अपने-आपमें थोड़ी-बहुत हिंसाको

वैध स्वीकार करना है ही। वह तो स्थितिकी असमर्थता है। उससे अधिक उसे नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—अगर यह दलील है तो अन्य मंत्रियों और कांग्रेसी अहिंसावादी मंत्रियोंमें इस नाते कौन-सा अंतर है?

उत्तर—शायद विशेष अंतर नहीं है। सिवाय इसके कि कांग्रेसी मंत्री ऐसा करनेपर अधिक दुख अनुभव करते होंगे।

प्रश्न—व्यक्तिगत हिंसा और स्टेटकी हिंसामें आप क्या अंतर समझते हैं?

उत्तर—व्यक्तिगत हिंसामें वासनाकी तीव्रता होती है, दूसरीमें वैसी तीव्रता नहीं होती है। फिर स्टेटकी हिंसा खुली हुई है और उसके साथ छिपावका वातावरण कम होता है। फिर जहाँ 'स्टेट' शब्द है, वहाँ उसमें कम बहुत हिंसा गर्भित है ही। कहा जा सकता है कि वह बहुत कुछ नैमित्तिक है, संकल्पी उतनी नहीं।

प्रश्न—क्या आप स्टेटकी हिंसाको एक पवित्र कार्य भी कहेंगे?

उत्तर—पवित्र नहीं कहूँगा, समाजिक कर्त्तव्य वह हो सकती है। पवित्रसे मेरा मतलब है कि शुद्ध भावनाका आदमी वैसी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेगा ही क्यों?

प्रश्न—तो क्या मैं यह समझूँ कि स्टेटके कार्यका भार लेनेवाले आदमी शुद्ध धर्मभावनावाले नहीं होते, न होने चाहिए?

उत्तर—और क्या? लेकिन अपवादकी गुंजाइश है। वह इसलिए कि इतिहासमें कभी कभी राज्य-शासन और धर्म-शासन एक भी हो जाते हैं। अवतार पुरुष इसी कोटिके होते हैं। नीति और शक्ति, आदर्श और व्यवहार, मुक्ति और संसार, दोनोंको वे युगपत् साधते हैं। नहीं तो साधारणतया इनमें विरोध ही देखनेमें आता है। और उस समन्वयके अभावकी अवस्थामें सचमुच कोई धार्मिक व्यक्ति गवर्नर नहीं होगा।

प्रश्न—अवतारकी आपने बात कही है, क्या आप कोई ऐसा अवतार-पुरुष बता सकते हैं जिसने शासनका भार बिना हिंसा आदिके निभाया हो? मैं तो समझता हूँ कि सब अवतार-पुरुष

महा-भयंकर फासिस्ट वृत्तिके लोग रहे हैं क्योंकि यह मान्यता बना दी गई थी कि वे जो कुछ करें सब ठीक है, वही धर्म है।

उत्तर—मोहम्मदसाहबकी खिलाफत संस्था, आरंभिक ईसाइयतका पोपशासन, बुद्धकी अनुप्रेरणासे प्रभावित सर्वप्रिय अशोक सम्राट्, अथवा कनफ्यूशियस जैसे लोग और आजके गाँधी बहुत कुछ इसके उदाहरण हैं। क्या इनको फासिस्ट कहनेके लिए आप मुझे कहेंगे? नहीं। उनकी शासन-पद्धतिको फासिज़्म कहना अन्याय और अज्ञान मालूम होता है।

प्रश्न—महात्मा गाँधीके विषयमें क्या आप यह मानते हैं कि वे राजनीतिक मामलोंमें जो कुछ कहते हैं, अक्षर अक्षर सच कहते हैं?

उत्तर—हाँ, मैं मानता हूँ कि अपनी ओरसे वे सच ही कहते हैं।

प्रश्न—दीखता तो यह है कि वे स्टेटकी हिंसाको ठीक नहीं समझते, फिर भी वे अहिंसावादी मंत्रियोंको आशीर्वाद देते हैं जिन्हें मंत्रिपदपर पहुँचकर हिंसा करनी पड़ती है। क्या यह सचाई है?

उत्तर—हिंसा अगर एक फूँकसे मिट सकती होती तो प्रश्न ही न था। अहिंसाकी ओर क्रम क्रमसे उन्नति होगी। आशीर्वाद यदि मंत्रियोंको दिया जाता है तो इसलिए नहीं कि वे हिंसा करें, बल्कि इसलिए दिया जाता है कि वे हिंसाको कम करें और अहिंसाकी ओर बढ़ें।

आदर्शको अगर व्यवहार्य बनाना है तो व्यवहारसे इन्कार करनेसे नहीं बनेगा। व्यवहारको व्यवहार, यानी आदर्शसे कुछ हटा हुआ, मानकर ही स्वीकार करना होगा, तभी उसे उन्नत करनेकी संभावना होगी। व्यवहारकी मर्यादाओंको बिना स्वीकार किये मर्यादाओंके बंधनको अतिक्रम करनेका अवसर भी नहीं आयगा। मानव-कर्म आदर्श और संभवका मेल है। चाहो तो कह दो कि वह समझौता है। जो अमुक परिस्थितियोंमें संभव है, आदर्श उसीको स्वीकार कर अपनेको व्यक्त करता है। परिस्थितिकी मर्यादा व्यवहारकी मर्यादा तो निश्चित करती है, पर आदर्शको वह नहीं छूती।

इसी दृष्टिसे संसारके कार्य-कलापको देखना चाहिए। हम साँस लेते हैं, इसमें हिंसा है। तो क्या मर जायँ? लेकिन इस तरह आत्मघात क्या हिंसा न होगी? उपाय यही है कि जीनेमें जितनी अनिवार्य हिंसा गर्भित है, उसको झेल लें

और जीवनको एक प्रायश्चित्त, एक ऋण, एक यज्ञ बनाकर चलावें। यह कहकर कि जीवनमें ही हिंसा आ जाती है, हिंसाका अन्धाधुन्ध समर्थन नहीं किया जा सकता। उसी भाँति 'अहिंसा' शब्दका भी अन-समझे-बूझे प्रयोग कठिनाई और विरोधाभास पैदा करेगा।

प्रश्न—क्या यही बात सत्यके बारेमें भी आप कहेंगे?

उत्तर—सत्य तो बिल्कुल ही आदर्शका नाम है। व्यवहारगत सत्य अहिंसा है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि सत्यमें उस भाँति समझौतेका प्रश्न नहीं उठता।

प्रश्न--आपने कहा है कि कभी कभी राज्य-शासन और धर्म शासन एक हो जाते हैं। क्या ऐसा शासन धर्मोंकी विविधताके कारण अब खतरनाक न हो जायगा?

उत्तर—धर्म-शासनमें 'धर्म' शब्दसे अभिप्राय किसी नाम-वाचक मत-पंथसे नहीं है। अभिप्राय यह है कि उस स्थितिमें शासनका अधिनायक धर्मभावनासे भीगा और ओतप्रोत, नीति-निष्ठ पुरुष होता है। जो शासक है, वह सेवक है। तब शासन अधिकार नहीं होता, वह एक जिम्मेदारी होती है। और शासन-पद जितना ऊँचा हो उसपर आरूढ़ व्यक्ति उतना ही विनम्र, सरल और अपरिग्रही होता है। 'धर्म' शब्दसे अगर दुबिधा पैदा होती हो तो उसे 'नैतिक शासन' कह लीजिए। 'सैनिक'के विरोधमें 'नैतिक'।

प्रश्न—क्या आप समझते हैं कि नैतिक शासन तब तक संभव है जब तक कि देशके सब आर्थिक सूत्र शासकके हाथमें न हों?

उत्तर—नैतिक-शासन एकतंत्र (=autocratic) शासन नहीं है। आर्थिक सूत्र एक हाथमें रहनेका अर्थ बहुत कुछ ऐसी एकतंत्रता हो जायगी। इसीलिए तो आरंभमें औद्योगिक विकीरणकी (=Industrial Decentralization की) बात कही गई है। जहाँ अर्थ प्रधान है, वहाँ नीति गौण होती देखी जाती है। शासन नैतिक हो, इसमें यह आशय आ जाता है कि समाजके भिन्न भिन्न अंगों और प्रसंगोंमें आर्थिक संघर्ष कमसे कम हो। उनके स्वार्थोंमें जितना अधिक विग्रह और विरोध होगा उतनी ही शासनके पास सैनिक तैयारी उन स्वार्थोंके बीच संतुलन (=Balance) कायम रखनेके लिए चाहिए। बस फिर वह शासन सैनिक ही हो गया, नैतिक कहाँ रहा? इसलिए अगर एक बार

हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि मुष्टि-बल और आतंकके शासनकी जगह हमें सहयोग और सद्विश्वास बढ़ानेवाला नैतिक शासन चाहिए, तो उसीमेंसे यह निकल आता है कि हमें आर्थिक संघटनको अब अधिकाधिक स्वावलंबन-सिद्धांतके अनुकूल बनाना चाहिए। उसीको कहिए आर्थिक डिसेण्ट्रलाइज़ेशन।

प्रश्न—तो क्या मैं यह कहूँ कि वर्त्तमान अशांति निवारण करनेका एक-मात्र उपाय आप डिसेण्ट्रलाइज़ेशनको ही मानते हैं?

उत्तर—एक-मात्रसे क्या मतलब? अशांतिके सवालको चारों ही ओरसे हल करना है न? हाँ, आर्थिक विषमताके कारण जो अशांति है, उसको दूर करनेका उपाय तो यह मालूम होता है। लेकिन इस केंद्रविकीरणको किसी आर्थिक प्रोग्रामका घोष (=cry) बनानेका आशय नहीं है। मैं अपनी जरूरतें कम करूँ और जितना बने उन्हें आसपाससे पूरी कर लेनेका ख्याल करूँ, इसीमें उस इष्टका आरम्भ है। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि शाब्दिक प्रयत्नोंसे,—अर्थात् लिखने-पढ़ने-बोलनेसे कार्मिक प्रयत्न सच्चे सामाजिक अहिंसक वातावरणको लानेमें ज्यादा सफली-भूत होंगे। अखबार चाहे कम हो जायँ, चरखे अधिक होने चाहिए।

तृतीय खण्ड

प्रश्नकर्त्ता

श्रीप्रभाकर माचवे, एम० ए०

१—व्यक्ति, मार्ग और मोक्ष

प्रश्न—संस्कारके बंधनसे आत्माको मुक्त होना चाहिए या नहीं ? यदि चाहिए तो कैसे ?

उत्तर—जो हमें आत्मानुकूल बनाते हैं, उनको संस्कार कहा जाता है। इस तरह पूर्ण संस्कारी पुरुष मुक्त पुरुष भी है। उस अवस्थामें संस्कार बंधनरूप होते ही नहीं, वे अभिव्यक्तिरूप होते हैं। विकारोंको तब दबाना नहीं पड़ता, क्यों कि वे स्वयमेव ही नहीं उठते।

इस सिलसिलेमें मुझे कवि रवीन्द्रका कथन याद आता है कि जो संयमकी राहसे पाना कठिन होता है, सौन्दर्यकी राहसे वह सुगम हो जाता है। अश्रेय कहकर जिसे छोड़ना मुश्किल होता है, उसे असुंदर देखकर हम स्वयमेव ही छोड़ देते हैं। इसी भाँति संस्कारशील पुरुषके लिए संस्कार बाधा अथवा बंधन नहीं होते, वे मानो उसकी व्यापकतामें सहायक होते हैं।

प्रश्न—संयम क्या है ? क्या पूर्ण संयम संभव है ? अगर संयम सापेक्ष है तो उसकी अच्छाई कौन ठहरायेगा, कैसे ठहरायेगा ?

उत्तर—किसी प्रिय लगनेवाली किंतु साथ ही अश्रेय लगनेवाली चीज़को तजनेका अभ्यास संयम है।

पूर्ण स्थितिमें संयम संभव नहीं, क्यों कि वहाँ उतनी न्यूनता ही नहीं।

संयमका प्रमाण परिमाण एक ओर अपनी अन्तस्थ ज्योति और दूसरी ओर समाजोपयोगितासे परिभाषा पाये हुए हैं। संयमका मतलब ही यह है कि व्यक्ति असामाजिक वर्तन न करे। साथ ही यदि वह संयम संस्कारशीलताको बढ़ाता है तो उसमें यह भी अर्थ हो जाता है कि व्यक्तिकी निजता उससे परिपुष्ट हो। संयमकी निषेधात्मक मर्यादा है समाजकी नीति। उसकी प्रेरणा है अपने भीतरकी एकत्व-लाभकी भावना।

प्र०—आप क्यों जीते हैं ?

उत्तर—जब तक मौत न आये, क्या उससे पहले ही मरना होगा ?

प्र०—तो क्या अंतिम ध्येय मौत हुई ?

उत्तर—जीनेका अंत मौत है। अगर ध्येय भी मौत होती तो इसी घड़ी मर जाना क्यों न बेहतर समझा जाता? इसलिए ध्येय मौत तो कभी नहीं है; अन्त बेशक मौत है।

प्रश्न—मौत नहीं, तो फिर ध्येय क्या है?

उत्तर—ध्येय है मुक्ति।

प्रश्न—मुक्ति क्या?

उत्तर—व्यापक या व्याप्त सत्ता।

प्रश्न—खुलासा समझाइए।

उत्तर—अब मैं व्यक्ति बनकर रहता हूँ। उससे अतीत बनकर रहना जब मेरे लिए संभव हो जायगा तब वह स्थिति मुझ व्यक्तिके लिए मुक्ति होगी।

प्रश्न—यानी मुक्ति हुई व्यक्तिका व्यक्तित्व-नाश?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—तो यह एक तरहकी मौत हुई। और मौत ही नहीं खुद-कुशी-सी जान-बूझकर भी हुई। यानी मुक्ति और मृत्यु एक हो गये?

उत्तर—हाँ, एक लिहाज़से मुक्ति व्यक्तिकी मौत है, क्योंकि वह क्षुद्र व्यक्तित्वका विराट् व्यक्तित्वमें मिट जाना है। ऐसी मौत होना बहुत अच्छा है।

प्रश्न—अजी जब व्यक्ति ही नहीं बचा तब विराट् व्यक्तित्वकी अनुभूति क्या और 'बहुत अच्छा' क्या? विराट्की अनुभूति ससीमकी परिभाषामें ही तो होगी?

उत्तर—यह पहलेसे बतानेकी बात थोड़े ही है। गुड़का स्वाद तो असलमें चखनेसे ही मालूम होगा। यों बातोंमें और सब कुछ है, असली स्वाद नहीं है।

प्रश्न—पर ऐसा गुड़का स्वाद क्या जिसकी जुबानके नाशपर ही पता चलनेकी संभावना है?

उत्तर—वह स्वाद एकदम हमसे अपरिचित भी नहीं है। प्रेममें हमें स्वाद आता है। पर प्रेम अपनेको दे डालनेकी आतुरताके सिवा क्या है?

प्र०—यानी खोना पाना है? मौत जिंदगी है? 'है' 'नहीं' है?—इस सबका क्या अर्थ होता है। क्या Contradiction **की** Value **(=विरोधका मूल्य) है ही नहीं?**

उ०—मैं नहीं जानता Contradiction की Value से (=' विरोधके

मूल्यसे ’) आपका क्या मतलब है। Contradiction से (=विरोधसे) खाली किसका जीवन है ?

प्र०—माना। पर Contradiction (=विरोध) ही तो जीवनका सब कुछ नहीं है ? मौत ही तो जीना नहीं है। असत्य Positive (=भावात्मकरूपमें) क्या है ? क्या उसे सिर्फ़ Unknowable (=अज्ञेय) कहकर टाल देना है ?

उत्तर—‘ अज्ञेय ’ (=Unknowable) कहनेसे तो शायद वह टलता हो, लेकिन श्रद्धाद्वारा उसीको सत्य बनाया जा सकता है।

प्र०—सत्य अर्थात् ज्ञात ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—फिर क्या ?

उत्तर—ज्ञात सत्यका एक पहलू भर है। ज्ञात+अज्ञात+अज्ञेय : सत्य यह सब कुछ है।

प्रश्न—जो अज्ञात और अज्ञेय है, उसपर श्रद्धा कैसे संभव है ?

उत्तर—जिसे अज्ञात और अज्ञेय कहते हैं, वह हमारे प्राणोंके भीतर तो अब भी एकदम अननुभूत नहीं है। हम प्रत्येक भावनाकी गहराईमें उतरें तो मालूम होगा कि वह हमारे व्यक्तित्वसे परिबद्ध नहीं है। इस भाँति हमारी प्रत्येक भावना और हम स्वयं अपने ही निकट अज्ञेय बन जाते हैं। इसलिए अज्ञेयके प्रति श्रद्धा रखना कोई बुद्धिहीनताका लक्षण नहीं है। वह तो एक प्रकारसे आत्म-विश्वासका ही एक रूप है। जिसको ज्ञान कहते हैं वह श्रद्धाके एक किनारेको ही छूता है। श्रद्धा ज्ञानकी विरोधिनी नहीं है। और ज्ञानके स्वरूपको भी देखिये। हमारे अधिक जाननेका मतलब यही तो होता है कि अज्ञेयका परिमाण हमारे निकट बढ़ जाता है। जो ऐसा नहीं करता, वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। वह आत्म-वंचना है, अहंकार है।

प्रश्न—ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि श्रद्धा ज्ञानके एक किनारेको छूती है। आत्म-विश्वास क्या चीज़ है ? आत्मा और विश्वास दोनों ज्ञान-गम्य हैं। इनकी मार्फ़त श्रद्धा नहीं समझी जा सकती।

उत्तर—कहा जा सकता है तो कहिए। मुझसे नहीं कहा जाता।

प्रश्न—'मुझसे' क्या है? इसके मानी हुए कि सब ज्ञान व्यक्तिगत है? फिर ऊपर आपने कहा कि व्यक्तिको व्यक्तित्व छोड़ना चाहिए, अब उसीको शरण आप ले रहे हैं।

उत्तर—वह तो मैं अब भी कहता हूँ। व्यक्तिको अपने व्यक्तित्वसे ऊँचा रहना चाहिए। इस स्थितिमें वह जाननेसे ऊँचा होगा। ज्ञान एक बंधन है। जो मैंने कहा उसका तो मतलब यही होता है कि मैं मुक्त नहीं हूँ। ज्ञानके बंधनसे छूटा हुआ नहीं हूँ। सारा ज्ञान व्यक्तिगत है। पर अंतमें जाकर व्यक्ति असिद्ध है। इस तरह सारा ज्ञान भी झूठा हो जाता है। ज्ञान और ज्ञात सब माया है, यह वेदान्तकी स्थिति इसी दृष्टिकोणसे यथार्थ ठहरती है। विज्ञान भी तो बताता है कि सब आपेक्षिक है, Relative है।

प्रश्न—ठीक इसी तरह कहा जा सकता है कि समस्त श्रद्धा बंधन है। समस्त श्रद्धा व्यक्तिगत है, अतएव असत्य है। ज्ञान असत्य है, श्रद्धा असत्य है। फिर सत्य बनता है सिर्फ़ अज्ञात जो फिर ज्ञानकी ही संज्ञा है, श्रद्धाकी संज्ञा नहीं है। इस गोरख-धन्धेका कोई अंत नहीं पायगा। यानी आप जो कहते हैं वह आपके लिए ठीक है, जो मैं कहता हूँ मेरे लिए ठीक है। फिर समझौता क्या है ही नहीं?

उ०—श्रद्धा हमको बाँधती नहीं, खोलती है। क्यों कि श्रद्धाका आधार रेखाबद्ध नहीं होता। जो स्वयं घिरा नहीं है, वह दूसरेको कैसे घेरेगा? इसीलिए भक्तकी भक्तिका आधार चूँ कि अपरिमेय होता है, निर्गुण होता है (सगुण मूर्ति तो केवल उपलक्ष्य है, रूपक है) इस कारण यह एकदम असंभव हो जाता है कि वह भक्ति अथवा श्रद्धा अपने पात्रको परिमित करें। जहा श्रद्धा-भक्तिमेंसे यह निर्गुणताका गुण निकल गया, वहाँ कट्टरता आ जाती है। यानी, श्रद्धा स्वयं एक मतवाद हो जाती है।

जिसको साधारण अर्थोंमें 'ज्ञान' कहते हैं वह वैज्ञानिक दृष्टिसे तो रेखा-बद्ध होता ही है। अर्थात् वह मतरूप और 'वाद' रूप होता है। अगर वह मूलमें श्रद्धा-प्रेरित नहीं है, तो साफ है कि स्वयं रेखा-बद्ध होनेके कारण वह अपने शिकारको (अर्थात् ज्ञानीको) रेखाओंके बंधनमें बाँध लेगा।

मेरी बुद्धि अलग है आपकी बुद्धि अलग। इसलिए बुद्धिमें कोई समझौता नहीं ही है। लेकिन आपकी आत्मा और मेरी आत्मा अलग नहीं है। इसलिए परमात्माकी ओर चलनेमें समझौता हुआ रक्खा है। बल्कि वह समझौता उधरके अतिरिक्त और कहीं नहीं ही है। इसीको यों कहो कि जगतका त्राण आध्यात्मिकताके मार्गमें हैं। वादवादान्तरोंसे उलझन ही बढ़ने वाली है।

प्रश्न—आत्मा क्या ? आध्यात्मिकता क्या ?

उत्तर—आत्मा वह जो मुझमें है, तुममें है, और दोनोंमें एक है, और जिसमें हम दोनों एक हैं।

और आध्यात्मिक प्रवृत्ति वह जो इस एकताकी ओर बढ़ती है।

प्रश्न—जीवनका उद्देश्य क्या है ?

उत्तर—जीवनका उद्देश्य ? यानी मेरे-तुम्हारे जीवनका उद्देश्य। वह उद्देश्य है समष्टिके प्राणोंके साथ एकरस हो जाना। व्यक्ति अपनेको छिटका हुआ अलग न अनुभव करे, समस्तके साथ अभिन्नता अनुभव करे; यही उसकी मुक्ति, यही उद्देश्य है।

प्रश्न—क्या जीवनका उद्देश्य सुख और शान्ति पाना नहीं है ?

उत्तर—मान भी लूँ कि सुख और शान्ति उद्देश्य है; लेकिन तभी सवाल खड़ा होता है कि वह सुख और शान्ति क्या है ? सुख-शान्ति व्यक्तिगत पारिभाषामें समझे और लिए जाते हैं। इसीलिए मैं यह पसन्द नहीं करूँगा कि जीवनके उद्देश्यको सुख और शान्तिके रूपमें कहा जाय। मेरा सुख, मेरी शान्ति मैं अपने ढँगसे किन्हीं भी कामोंमें समझ सकता हूँ। वह दूसरेके सुख और शान्तिसे टकरा भी सकता है। इसलिए 'सुख और शान्ति' कहनेके बाद 'सच्चा सुख' और 'झूठा सुख,' 'सच्ची शान्ति' और 'झूठी शान्ति;' इस तरहके शब्दोंका व्यवहार आवश्यक हो जायगा। ऊपर जो मैंने बात कही उसमें सुख और शान्ति तो आ ही जाती है। नहीं तो सुख और शान्तिकी दूसरी परिभाषा ही क्या ?

प्रश्न—मनुष्य स्वार्थी क्यों बनता है ? क्या स्वार्थी बनकर उसके जीवनका उद्देश पूरा हो जाता है ?

उत्तर—अविद्याके कारण स्वार्थी बनता है; माया-मोहके कारण, श्रद्धाकी हीनताके कारण स्वार्थी बनता है।

नहीं, स्वार्थी बनकर उद्देश्य-साधन नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या संसारमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो माया, मोह, अविद्या और श्रद्धा-हीनतासे बचा हो ?

उत्तर—कोई अधिक बन्धनमें है, कोई कम बन्धनमें है। पूर्ण मुक्त आत्मा देह धारण ही क्यों करेगा ?

प्रश्न—तो क्या विश्व-भरमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो जीवनके उद्देश्यको जानता हो ?

उत्तर—मैं विश्व-भरके कितने-से व्यक्तियोंको जानता हूँ ? बहुत थोड़े व्यक्तियोंको जानता हूँ। मेरी प्रतीति है कि कम-अधिक सुलगता हुआ उस उद्देश्यका ज्ञान सभीमें निहित है। सबमें आत्मा है। जिनमें वह दहककर प्रज्वलित और ज्योतिर्मय हो गया है वही तो महापुरुष हैं, और वंदनीय बन गये हैं।

प्रश्न—क्या इन महापुरुषोंमें जो वंदनीय बन गये हैं स्वार्थ नहीं था ? यदि था तो उनका उद्देश्य-साधन किस प्रकार हुआ ?

उत्तर—स्वार्थ यदि होगा भी तो इतना सूक्ष्म कि नगण्य।

प्रश्न—'आर्ट' क्या है।

उत्तर—यह पुराना सवाल है। इसमें एक बातका ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि 'आर्ट' शब्दको लेकर हम कोई झमेला तो नहीं खड़ा करना चाहते हैं। आदमीकी आदत हो गई है कि नये शब्द बनाता है और उनके सहारे जीवनमें सुलझन नहीं, बल्कि उलझन बढ़ा लेता है।

'आर्ट' शब्दपर हम चकरायें नहीं। उसको लेकर पोथेपर पोथे लिखे जाते हैं और वे विभ्रममें डाल सकते हैं। इसलिए 'आर्ट' शब्दके पीछे अगर हमारे मनकी कोई भावना न हो तो उस शब्दका बहिष्कार करके ही चलना अच्छा है।

'आर्ट' अधिकांशमें ढकोसला है। मेरा मतलब बादवाले आर्टसे है। वह मानवके आत्म-गर्व और आत्म-प्रवंचनापर खड़ा होता है।

यों, सचाईकी ओर हम चलें तो आर्ट चित्तकी उस सूक्ष्म वृत्तिके उत्तरमें पैदा होता है जो प्रयोजन नहीं, मिलन खोजती है। मानवमें शाश्वतके, सनातनके,—

अनंतके प्रति रह रहकर जो उद्भावना होती है, वही कलाकी प्रेरणा है। और उसके व्यक्त फलको कला-वस्तु कहा जाता है।

प्रश्न—क्या जीवनमें उसका होना आवश्यक है?

उत्तर—आवश्यकसे भी अधिक है, अनिवार्य है। लेकिन 'आर्ट' शब्द पर होनेवाली बहस आदि बड़े सहज भावसे अनावश्यक हैं।

२—धर्म और अधर्म

प्रश्न—धर्म क्या है ?

उत्तर—बड़ा अच्छा प्रश्न किया गया है कि धर्म क्या है ? जैन-आगममें कथन है कि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है।

इस तरह स्वभाव-च्युत होना अधर्म और स्वनिष्ठ रहना धर्म हुआ।

मानवका धर्म मानवता, दूसरे शब्दोंमें उसका अर्थ हुआ आत्मनिष्ठा।

मनुष्यमें सदा ही थोड़ा-बहुत द्वित्व रहता है। इच्छा और कर्ममें फ़ासला दीखता है। मन कुछ चाहता है, तन उस मनको बाँधे रखता है। तन पूरी तरह मनके बसमें नहीं रहता, और न मन ही एकदम तनके ताबे हो सकता है। इसी द्वित्वका नाम क्लेश है। यहींसे दुःख और पाप उपजता है।

इस द्वित्वकी अपेक्षामें हम मानवको देखें तो कहा जा सकता है कि मन (अथवा आत्मा) उसका 'स्व' है, तन 'पर' है। तन विकारकी ओर जाता है, मन स्वच्छ स्वप्नकी ओर। तनकी प्रकृतिको विकार स्वीकार करनेपर मनमें भी मलिनता आ जाती है और उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे तनकी गुलामी पराधीनता है और तनको मनके वश रखना और मनको आत्माके वशमें रखना स्वनिष्ठा, स्वास्थ्य और स्वाधीनताकी परिभाषा है।

संक्षेपमें सब समय और सब स्थितिमें आत्मानुकूल वर्तन करना धर्माचरणी होना है। उससे अन्यथा वर्तन करना धर्म-विमुख होना है। असंयम अधर्म है; क्योंकि इसका अर्थ मानवका अपनी आत्माके निषेधपर देहके काबू हो जाना है। इसके प्रतिकूल संयम धर्माभ्यास है।

इस दृष्टिसे देखा जाय तो धर्मको कहीं भी खोजने जाना नहीं है। वह आत्मगत है। बाहर ग्रन्थों और ग्रन्थियोंमें वह नहीं पाया जायगा, वह तो भीतर ही है। भीतर एक लौ है। वह सदा जगी रहती है। बुझी, कि वही प्राणीकी मृत्यु है। मनुष्य प्रमादसे उसे चाहे न सुने, पर वह अंतर्ध्वनि कभी नहीं सोती। चाहे तो उसे अनसुना कर दो, पर वह तो तुम्हें सुनाती ही है। प्रतिक्षण वह तुम्हें सुझाती रहती है कि यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। यह नहीं है।

उसी लौमें ध्यान लगाये रहना; उसी अंतर्ध्वनिके आदेशको सुनना और तदनुकूल वर्तना; उसके अतिरिक्त कुछ भी औरकी चिन्ता न करना; सर्वथैव उसीके हो रहना और अपने समूचे अस्तित्वको उसमें होम देना, उसीमें जलना और उसीमें जीना : यही धर्मका सार है।

सूनें महलमें दिया जगा ले। उसकी लौमें लौ लगा बैठ। आसनसे मत डोल। बाहरकी मत सुन। सब बाहरको अन्तर्गत हो जाने दे। तब त्रिभुवनमें तू ही होगा और त्रिभुवन तुझमें, और तू उस लौमें। धर्मकी यही इष्टावस्था है। यहाँ द्वित्व नष्ट हो जाता है। आत्माकी ही एक सत्ता रहती है। विकार असत् हो रहते हैं जैसे प्रकाशके आगे अन्धकार।

प्रश्न—अधर्म क्या ?

उत्तर—जो धर्मका घात करे वह अधर्म। अधर्म अभावरूप है। वह सत्‌रूप नहीं है इससे अधर्म असत्य है।

इसीसे व्यक्तिके ही साथ अधर्म है। समष्टिमें तो अधर्म जैसा कुछ है ही नहीं। अतः कृत्यमें धर्माधर्मका भेद व्यक्तिकी भावनाओंके कारण होता है।

अधर्म स्व-भाव अथवा सद्‌भाव नहीं है, वह विकारी भाव है, अतएव पर-भाव है।

जीवके साथ पुद्‌गलकी जड़ताको कम करनेवाला, अर्थात् मुक्तिको समीप लानेवाला, जब कि धर्म हुआ, तब उस बन्धनको बढ़ानेवाला और मुक्तिको हटानेवाला अधर्म कहलाया।

धर्म इस तरह स्व-परमें और सत्-असत्‌में विवेक-स्वरूप है। अधर्मका स्वरूप संशय है। उसमें जड़ और चैतन्यके मध्य विवेककी हानि है। उसके वश होकर जड़में और जड़तामें भी व्यक्ति ममत्व और आग्रह रखता दीखता है। जड़को अपना मानता है, उसमें अपनापन आरोपता है और इस पद्धतिसे आत्म-ज्योतिको मंद करता है और स्वयं जड़वत परिणमनका भागी होता है।

नित्य-प्रतिके व्यवहारमें जीवकी गति द्वंद्वमयी देखनेमें आती है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, रति-अरति। जैसे घड़ीका लटकन इधरसे उधर हिलता रहता है, उसे थिरता नहीं है, वैसे ही संसारी जीवका चित्त उन द्वंद्वोंके सिरोंपर आ-जाकर टकराया करता है। कभी बेहद विरक्ति (अरति) आकर घेर लेती है और जुगुप्सा हो आती है और घड़ीमें कामना और लिप्सा (रति) जाग जाती है।

इस क्षण इससे राग, तो दूसरे पल दूसरेसे उत्कट द्वेषका अनुभव होता है। ऐसे ही, हाल खुशी और हाल दुखी वह जीव मालूम होता है।

अधर्म इस द्वंद्वको पैदा करनेवाला और बढ़ानेवाला है। द्वंद्व ही नाम क्लेशका है।

धर्मका लक्ष्य कैवल्य स्थिति है। वह नित्य और साम्यकी स्थिति है। वहाँ सत् और चित् ही हैं। अतः आनंदके सिवा वहा और कुछ हो नहीं सकता। विकल्प, संशय, द्वंद्वका वहाँ सर्वथा नाश है।

अधर्मका वाहन है विकल्प-ग्रस्त बुद्धि। ममता, मोह, मायामें पड़ी मानव-मति।

उसका छुटकारेका उपाय है श्रद्धा। बुद्धि जब विकल्प रचती है तो श्रद्धा उसीके मध्य संकल्प जगा देती है।

श्रद्धा-संयुक्त बुद्धिका नाम है विवेक।

जहाँ श्रद्धा नहीं है वहाँ अधर्म है। उस जगह बुद्धि जीवको बहुत भरमाती है। तरह-तरहकी इच्छाओंसे मनुष्यको सताती है। उसके ताबे होकर मनुष्य अपने भव-चक्रको बढ़ाता ही है। ऐसी बुद्धिका लक्षण है लोकैषणा। उसीको अधर्मका लक्षण भी जानना चाहिए।

पुण्यकर्म समझे जानेवाले बहुतसे कृत्योंके पीछे भी यह लोकैषणा अर्थात् सांसारिक महत्त्वाकांक्षा छिपी रह सकती है। पर वह जहाँ हो वहाँ अधर्मका निवास है। और जहाँ अधर्म है वहाँ धर्मका घात है।

इस बातको बहुत अच्छी तरह मनमें उतार लेनेकी आवश्यकता है। नहीं तो धर्माधर्मका तात्त्विक भेद इतना सूक्ष्म हो जाता है कि जिज्ञासुके उसमें खो रहनेकी आशंका है।

मुख्य बात आत्म-जागृति है। अपने बारेमें सोना किसीको नहीं चाहिए। आँख झपकी कि चोर भीतर बैठ जायगा। वह चोर भीतर घुसा हो तब बाहरी किसी अनुष्ठानकी मददसे धर्मकी साधना भला कैसे हो सकती है? इंद्रियोंकी चौकीदारी इसलिए खूब सावधानीसे करनी चाहिए। जो अपनेको धोखा देगा उसे फिर कोई गुरु, कोई आचार्य, कोई शास्त्र और कोई मंदिर कहीं नहीं पहुँचा सकेगा। अपनेको भूलना और भुलाना अधर्म है। जागते रहने और जानते रहनेद्वारा अधर्मका पराभव होता है।

समाप्त

विशिष्ट शब्दानुक्रमणिका